

ॐ

नमः सिद्धेभ्य

# परमागमशास्त्र

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के विविध आगमों पर हुए  
प्रवचनोंमें से चुने हुए १००८ रत्न)



सम्पादक :

समादरणीय पूज्य भाईश्री शशीभाई

अनुवादक :

श्री रमेशचन्द्र सोगानी

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

- प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :  
 वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट  
 ५८०, जूनी माणेकवाडी,  
 भावनगर-३६४००१  
 फोन : (०२७८) ४२३२०७ / २१५१००५
- गुरु गौरव  
 श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,  
 पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट  
 विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़  
 फोन : (०५७९) ४१००१०/११/१२
- श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१  
 श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाता) : (०३३) २४७५२६९७  
 अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

प्रथमावृत्ति : प्रत : २००० वीर नि. सं. २५११  
 द्वितीय आवृत्ति : प्रत : १००० वीर नि. सं. २५२०  
 तृतीय आवृत्ति : प्रत : ४०० वीर नि. सं. २५३२  
 चतुर्थ आवृत्ति : प्रत : ५०० ३१-१२-०७, कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी दिन  
 पृष्ठ संख्या : १२ + २३६ = २४८  
 लागत मूल्य : ७०/-  
 विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :  
 पूजा इम्प्रेसन्स  
 प्लोट नं. १९२४-बी,  
 ६, शान्तिनाथ बंगलोझ  
 शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास  
 भावनगर-३६४००१  
 फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :  
 भगवती ऑफसेट  
 १५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड  
 बारडोलपूरा,  
 अहमदाबाद  
 फोन : ९८२५३२६२०२

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ की प्रथम तीन आवृत्ति अनुपलब्ध होने से तथा पाठकों की निरंतर माँग बनी रहने से यह चतुर्थ आवृत्ति प्रकाशित की जा रही है। मुमुक्षुजन इससे लाभान्वित हो, यही शुभ कामना है।

इस ग्रंथ का मूल्य घटाने हेतु जिन दाताओं से रकम प्राप्त हुई है, उसका साभार विवरण अन्यत्र प्रकाशित है।

ग्रंथ के सुंदर मुद्रणकार्य के लिये पूजा इम्प्रेसन्स, भावनगर तथा मे. भगवती ऑफसेट, अहमदाबाद के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

दि. ३१-१२-२००७  
(कुंदकुंदाचार्य आचार्य  
पदवी दिन)

ट्रस्टीगण  
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट  
भावनगर

**‘परमागमसार’ (चतुर्थवृत्ति) के प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशि**

चंद्रिकाबहन शशीकान्तभाई शेठ, भावनगर

५,०००/-

## संपादकीय

अनन्त उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के १००८ वचनरत्नों के संग्रहरूप इस 'परमागमसार' नामक ग्रन्थ के हिंदी-अनुवाद को प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। अनेक वर्षों तक 'सोनगढ़' में विराजमान रहकर पूज्य 'गुरुदेवश्री' ने दिगम्बर जैन आचार्यों द्वारा रचित परमागमों एवम् अनुभवप्रकाश, मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों पर विशद प्रवचन किए हैं, ऐसे सैंकड़ों प्रवचन 'आत्मधर्म' तथा 'प्रवचनप्रसाद' में प्रकाशित हुए हैं - इनमें से सारभूत वचनों का संकलन कर उन्हें यह ग्रन्थाकाररूप दिया है। परमागमों के दोहनरूप पूज्य 'गुरुदेवश्री' के प्रवचन होने से इस ग्रन्थ का सार्थक नाम 'परमागमसार' रखा गया है। चारों अनुयोगों में प्ररूपित सिद्धांतों, आध्यात्मिकसिद्धान्तों, नैतिकसिद्धान्तों आदि विषयों की विशालता और पूज्य 'गुरुदेव' के श्रीमुख से प्रकट हुयी विषयों की विविधता, मौलिकता आदि को खयाल में रखकर वचनों के चयन में विशाल दृष्टिकोण अपनाया है। पूज्य 'गुरुदेवश्री' के प्रवचनों के विशाल फलक पर आधृत यह ग्रन्थ एक ऐतिहासिक ग्रन्थ बना रहेगा।

अनेक भव्यजीवों ने पूज्य 'गुरुदेवश्री' के प्रवचनों को प्रत्यक्ष सुनने का लाभ लिया है, और उनकी वाणी-अतिशयता का अनुभव उन सभी को हुआ है। पूज्य 'गुरुदेवश्री' की ऐसी सातिशय वाणी का वर्णन करना हमारी शक्ति के बाहर की बात है। **'आपश्री को श्रुत की लब्धि थी'** - ऐसा जो अनुभव पूज्य 'बहिनश्री' को हुआ है और वैसा उन्होंने ने (वचनामृत में) कहा है, वह यथार्थ है। आपश्री के निर्मल श्रुतज्ञान में अध्यात्म के अनेक गूढ रहस्य भास्यमान होकर वचनरूप में व्यक्त हुए हैं; सरल भाषा में भी छान-बीन सहित विशद शैली से अध्यात्म की अनेकविध सूक्ष्मता, (आत्मा का सूक्ष्म स्वरूप और उसे प्राप्त करने की विधि), पुरुषार्थप्रेरक तीक्ष्णता, स्वानुभव की अभेदता आदि अलौकिक गुणों से विभूषित - ऐसी आपश्री की वाणी में, लौकिक-वक्तृत्वकला जैसी कृत्रिमता नहीं होने पर भी, विद्वान-से विद्वान श्रोता और साधारण-से साधारण अनपढ़ श्रोता के ऊपर आपश्री की वाणी का कोई ऐसा ही अवर्णनीय प्रभावक असर होता था कि हजारों श्रोतागण आप के प्रवचनों में मंत्र-मुग्ध सदृश्य हों, मग्न हो जाया करते थे। आप के प्रवचनों का श्रवण करनेवाले जैन तथा जैनेतर श्रोताओं का विशाल समुदाय है। सभी श्रोताओं को अपने-अपने योग्य कुछ न कुछ मिलता ही रहा है; इसी से सौराष्ट्र प्रदेश के इस छोटे-से दूरस्थग्राम 'सोनगढ़' में सम्पूर्ण देश के कोने-

कोने से हजारों आदमी आपश्री के प्रवचनों को सुनने के लाभ हेतु आते रहते थे और यह क्रम अनेक वर्षों पर्यन्त आखिर तक बना ही रहा - ऐसा आकर्षण उल्लिखित कारणों के प्रतीतिरूप में ही था।

पूज्य 'गुरुदेवश्री' ने प्रवचनों द्वारा जो 'सत्' का प्रकाश किया उसी से वर्तमान और भावी मुमुक्षुसमाज के ऊपर आपश्री का अमाप उपकार वर्तता है। जिन वचनों के निमित्त से संसार-परिभ्रमण से संतप्त जीव का भव-भ्रमण विच्छेद हो, उन वचनों का मूल्य क्या हो सकता है ? उक्त प्रकार से उपकृत ऐसे निकट भव्यजीवों के (उनके प्रति के) भक्ति और बहुमान से उल्लसितभाव अपने घट-अन्तर में समाते नहीं; तभी बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के बंधन तोड़ कर प्रवर्तने लगते हैं। ऐसी प्रतीति पूज्य 'बहिनश्री' और पूज्य 'सोगानीजी' के वचनों द्वारा जाहिररूप से हुयी है।

सत् के दान-दाता ऐसे अनुपम उपकारी पूज्य 'गुरुदेवश्री' के प्रति भक्तिवश उनके द्वारा प्ररूपित सत् का सम्पूर्ण जगत में प्रसार हो - ऐसी भावना है और ऐसा ही भाव इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने में प्रेरक हुआ है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रारम्भ से अन्त तक श्री हीरालाल काला एवम् श्री हसमुखभाई गांधी, भावनगरवालों का भावनात्मक सहयोग मिला है, इससे यह कार्य सम्पन्न हुआ है।

आभार :

इसके अतिरिक्त विद्वान पंडित श्री हिम्मतलाल जे. शाह ने, चयन किए वचनों का अवलोकन करके अनेकविध मार्गदर्शन, सलाह-सूचन देकर, बने जितनी क्षतियों का निवारण कर, इसके सुन्दर प्रकाशन में अमूल्य योगदान दिया है; तदर्थ मैं आभारी हूँ।

इस ग्रंथ की विषय-सूचिपत्र और शुद्धि-पत्रक आदि तैयार करने में श्री अरविंदभाई गांधी तथा श्रीमती सरोजबहिन गांधी ने बहुत परिश्रम किया है इसके लिए उनका आभार व्यक्त करता हूँ।

यह ग्रन्थ गुजरातीभाषा में वीर निर्वाण संवत् २५०८ में प्रकाशित हुआ है। अनेक हिन्दीभाषी मुमुक्षुओं के लाभहेतु इस ग्रन्थ का हिन्दीभाषा में अनुवाद श्री रमेशचन्द्र सोगानी ने कर दिया है, तदर्थ उनका आभार मानता हूँ।

अन्त में, पूज्य 'गुरुदेवश्री' के वचनमृत-पान कर भव्य जीव अपना आत्म-कल्याण करें-ऐसी भावना भाता हूँ।

-सम्पादक

## अनुक्रमणिका

प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम	प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम
१-१८/१-४	पूज्य गुरुदेवश्री के	स्वहस्ताक्षरों में	७७-७९/	" ४१०/१८,२०	कलशटीका क.१३
१९-२०/४	आत्मधर्म ४०५/३	कलशटीका/क. ३	१५-१६		
२१-२२/४	" ४०५/६, ९	समयसार गा. २९४	८०-९२/	" ४१०/२२-२७	ज्ञानगोष्ठी
२३-२५/५	" ४०५/११-१३,	परमात्मप्र. गा.	१६-१९		
२९७		वि. अ.	९३-१११/	" ३९०/टाईटलपेज	८०वीं
२६/५	" ४०५/१७	कलशटीका क. ४	१९-२२	८.१, १२	जन्मजयन्ती अंक
२७-३२/५-७	" ४०५/२२-२४	ज्ञानगोष्ठी	११२-१२२/	" ४०६/५२६	स.सार. गा. ३२०
३३/७	" ४०३/६ प.	प्र.गा. ३३ प्र. अ.	२२-२५		
३४-४३/७-८	" ४०३-९-१४	ज्ञानगोष्ठी	१२३-१२४	२५" ४०७/टाईटलपेज	रात्रिचर्चा
४४-४५/९	" ४०३/१४, २०	समयसार गा. ७१	१२५-१२७/	आ.ध.४०८/२३,२६	समयसार गा.
४६/९	" ३८६/मुखपृष्ठ	-			३०८-३११
४७/९	" ३८६/३	समयसार क. १	२५-२६		
४८-५३/	३८६/६-१३	प्रवचनसार/४७ नय	१२८-१२९	२६आ.ध. ४१७/	टाईटल पेज-१
१०-११			१३०-१३१/	" ४१७/११-१२	समयसारगा.१७-१८
५४/११	" ३८६/३२	ज्ञानगोष्ठी	२६-२७		
५५-५७/११	" ३८६/	टाईटलपेज ४	१३२-१३६/	" ४१७/१३-२४	प्रव.सा. गा. ८०
५८-५९/	" ४११/२, ८	कलशटीका क.	२७-२८		
		१३८	१३७/२८	" ४१७/२६	कलशटीका क.
११-१२					२०३
६०/१२	" ४११/ ९	समयसार गा. ४१२	१३८/२८	" ४०४/१	कलशटीका क.१
६१/१२	" ४११/ १४	कलशटीका क	१३९/२८	" ४०४/९	समयसार गा. २७३
		१४४	१४०-१४२/	" ४०४/१६/१७	समयसार गा.
६२-६३/	" ४११/१५-१६	रात्रिचर्चा			२७६-२७७
१२-१३/			२८-२९		
६४-६९/			१४३-१४९/	" ४०४/२०-२५	ज्ञानगोष्ठी
१३-१४	" ४११/२२-२६	ज्ञानगोष्ठी	२९-३०		
७०-७३/	" ४११/२७-२	कलशटीका क.	१५०-१५१	३०" ४०४/१२	समयसार गा. २७४
		१४२	१५२-१६४/	" ४०९/१३-२१	ज्ञानगोष्ठी
१४-१५			३०-३३		
७४-७६/१५	" ४१०/४,७,११	समयसार गा.	१६५/३३	" ४०९/ २२	कलशटीका क.७
		३९०-३९४	१६६/३३	" ४०९/ २५	समयसार क. २१३

प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम	प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम
१६७/३३	" ४०९/ २९	कलशटीका क. २९	३३६/६१	" ४१५/४५	
१६८/३३	" ४०९/ ३१	समयसार क. २३८	३३७-३३९/	" ४१५/टाईटल	ज्ञानगोष्ठी
१६९-१७०/	" ४०८/ १-७	समयसार/४७ शक्ति		पेज -३	
३३-३४			६१-६२		
१७१-१७५/	" ४०८/९-१३	कलशटीका क. ४८	३४०३४५/	" ४१६/१५	समयसार गा ११
३४-३५			६२-६३		
१७६-१८९/	" ४०८/१४-२४	ज्ञानगोष्ठी	३४६-३५४/	" ४१६/१७-२५	समयसार गा.१७-१८
३५-३८			६३-६५		
१९०-२५३/	" ४५१/४-३७	पू. गु. श्रीकी	३५५-६५	" ४१६/टाईटल	ब. वचनामृत/
३८-४५		९२वीं जन्मजयंती		पेज-२	बोल-३२
२५४-२५७/			३५६/६५	" ४१६/१३	समयसार गा. २
४६	" ४१२/१-६	प्रव. सा. गा. १७२	३५७-३५८/६५	" ४१५/२१-२२	समयसार गा. ३
२५८-२६०/	" ४१२/१४-२४	का. टीका/	३५९-३६८/	" ४१६/२३-२८	ज्ञानगोष्ठी
४६-४७		क. १८१	६५-६८		
२६१-२६४/	" ४१२/२८-३०	ज्ञानगोष्ठी	३६६-३६७/६८	" ४२०/७-८	समयसार गा. ४
४७-४८			३६८/६८	" ४२०/१२	समयसार गा. ५
२६५-२६८/	" ४१३/३-८	नि. सार. गा. ३८	३६९-३८४/	" ४२०/२०-२७	ज्ञानगोष्ठी
४८-४९			६८-७२		
२६९-२७०/	आ.घ. ४१३/१०-१३		३८५-७२	" ४२०/३१	
४९-५०			३८६/७२-७३	" ४२१/२	ब.व.मृत/बो. ३१४
२७१/५०	" ४१३/२०	कलशटीका क.	३८७/७३	आ.घ. ४२१/४	ब.व.मृत/बो. १२८
		१६३	३८८/७३	" ४२१/१५	समयसार गा. ८
२७२-२८२/	आ.घ.४१३/२३-२७	ज्ञानगोष्ठी	३८९/७३	" ४२१/१७	ब.व.मृत/बो. ३१४
५०-५२			३९०/७३	" ४२१/१८	
२८३-२८४/	" ४१४/१९	कलशटीका क.	३९१/७४	" ४२१/२३	ब.व.मृत/बो. ७९
		१८२	३९२-३९९/	" ४२१/२८-२९	ज्ञानगोष्ठी
४२-४३			७४-७५		
२८५/४३	" ४१४/२०-२४	ज्ञानगोष्ठी	४००/७६	" ४२१/३०	--
४३-५५			४०१-४१३/	" ४२२/१२-२५	ब.वचनामृत/
२९६-३३९/	" ४१५/१-१३	पू. गु. श्री की			बोल ९६-१६२
		८९वीं जन्म जयंती	७६-७८		
३३२/६०	" ४१५/२६	समयसार गा. ३९	४१४-४२०/	" ४२२/२६-३१	ज्ञानगोष्ठी
३३३-३३५/			७८-८०		
६१	" ४१५/३७,३१४	समयसार गा. ६	४२१-४२२/	" ४२३/२	--

प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम	प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम
८०-८१			४७६/९३	" ४२६/२१	ब. वचनामृत
४२३-४२४/					बोल ३८७
८१	" ४२३/९-१०	समयसार गा. ३१	४७७-४८५/	" ४२६/२७-३१	ज्ञानगोष्ठी
४२५-४२८/	" ४२३/११-२२	ब. वचनामृत	९३-९५		
८१-८२		बोल १७१, ३८२	४८६-४९३/	" ४३०/१३-२२	ब. वचनामृत
४२९-४३३/	" ४२३/२६-२८	ज्ञानगोष्ठी	९५-९७		बोल ४१६-४२५
८२-८३			४९४-५००/	" ४३०/२३-२५	ज्ञानगोष्ठी
४३४-४३६/	" ४२४/३-५	समयसार गा. ३४	९७-९८		
८३-८४			५०१-५०२/९८"	४३६/	टाईटलपेज - २
४३७-४३९/	" ४२४/८-१०	--	५०३/९८	" ४३६/७	प्र. सार गा. १७२
४४०-४४१/	" ४२४/१२-१४	ब. वचनामृत	५०४/९८-९९	" ४३६/१५	समयसार गा. २६५
८४-८५		बोल २७७, २८१	५०५-५०९/	" ४३६/२६-२८	ज्ञानगोष्ठी
४४२/८५	" ४२४/१८	--	९९-१००		
४४३-४४४/	" ४२४/२८	ब. वचनामृत	५१०/१००	" ४३८/ २२	प्र. सार गा. १७२
८५		बोल ३०६	५११/१००	" ४४०/टाईटल	
४४५/८५-८६	" ४२४/१५	--		पेज -२	--
४४६-४४८/	" ४२४/२६-२८	ज्ञानगोष्ठी	५१२/१०१	" ४४०/७	समयसार गा. ६
८६			५१३-५१४/१०१"	१४०/ ९२	९३ बा. वा. मृ. ता
४४९/८६	" ४२४/२०	--	बो.२०१		
४५०/८७	" ४२४/२८	ज्ञानगोष्ठी	५१५-५१६/	" ४४०/१५, २७	प्र. सार गा. १७२
४५१/८७	आ.धर्म ४२४/३२	--	१०१-१०२		
४५२/८७	" ४२४/६	समयसार गा. ३८	५१७-५२३/	" ४४०/ २९-३३	ज्ञानगोष्ठी
४५३/८७-८८	" ४२५/१५	प्रवचनसार गा. ३३	१०२-१०३		
४५४-४५६/	" ४२५/२१-२२	ब. वचनामृत	५२४-५२५/	" ४४१/टाईटल	
८८		बोल ३३७, ३४५	१०३-१०४	पेज -२	
४५७/८८	" ४२५/२३	प्रवचनसार गा. ३४	५२६-५२९/	आ.धर्म	नियमसार क.
४५८-४५९/	" ४२५/२४-२६	ब. वचनामृत	१०४	४४१/४-११२	१२०, १२३, १७६
८८-८९		बोल ३४९, ३६४	५३०/१०५	" ४४१/१४-१७	प्र. सार गा. १७२
४६०/८९	" ४२५/२६	--	५३१-५३६/	" ४४१/२२-२७	समयसार गा.
४६१-४७०/	" ४२५/२७-३३	ज्ञानगोष्ठी	१०५-१०६		२८३, २७५
८९-९२			५३७-५४४/	" ४४१/ २८-३२	ज्ञानगोष्ठी
४७१/९२	आ.धर्म ४२५/३४	--	१०६-१०८		
४७२-४७५/	" ४२६/६-९	समयसार गा. ७२	५४५/१०८	" ४४२/५	नियमसार क. २५८
९२-९३			५४६/१०८	" ४४२/७	समयसार गा. ३१९



प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम	प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम
५४७/ १०८-१०९	" ४४२/१६	समयसार गा. ३३२-३३४	१२८	" अंक/ ३०८	अ.प्र. ४२०, ४३८, ३१३, ४३४
५४८-५५० १०९	आ.धर्म ४४३/२०, २५,३३	ब. वचनामृत बोल २,३८,१०५	६५८-६५९/ १२८-१२९	स. प्र. प्र./ २५०	समयसार गा. ४
५५१/१०९	" ४४५/७	नियमसार गा. ५०	६६०/१२१	" " / २५०	स.सा.गा.२१२-२१३
५५२/१०९	" ४४५/१६	स.सा.गा. ३६६-३७१	६६१/१२१	" " / २७८	प.वि. गा. २३
५५३-५६७ १०९-११३	" ४४५/ २७-३३	ज्ञानगोष्ठी	६६२/१२१	" " /२७८	समयसार गा. ४
५६८-५६९, ११३	" ४४/२८-२९	प्रवचनसार गा. १७२	१२१-१३०	" " /२७८	मो. प्रकाशक, रहस्यपूर्णचिट्ठी
५७०-५७६, ११३-११५	" ४४६/२८-३१	ज्ञानगोष्ठी	६६७-६७२/ १३०-१३१	" " / २९४- २९६	परमार्थवचनिका
५७७-५८२ ११५-११६	" ४४७/५-११	श्रीकानजीस्वामी श्रद्धांजली अंक	६७४/१३२	" " /३००	समयसार गा. १ परमार्थवचनिका
५८३/११६	" ४४२/७	ब.व.मृत बो. ४१६	६७५/१३२	" " /४५	नियमसार गा. ९२
५८४-५८५ ११६	" ४४९/१८-१९	प्र.सार. गा. १७२	१३२-१३९ ७१३/	" " /५९-१२६	अनुभव प्रकाश
५८६-५९२ ११६-११७	" ४४९/२०-२३	ज्ञानगोष्ठी	१३९-१४० ७१४-७२०/	" " /१२६ अ " " /२८२-२९२	समयसार गा. १ मोक्ष. प्र.
५९३-५९४, ५९५/११८	" ४५०/१	अ १९२	१४०-१४१	" " /२९९-३०३	सत्तास्वरूप
५९६-५९९, ११८-११९	" ४५०/१७-२०	प्रवचनसार गा. १७२	१४१-१४३ ७३०-७४२/	-	प्रवचनसार के मोती
६००-६०७ ११९-१२०	" ४५०/२७-२९	ज्ञानगोष्ठी	१४३-१४६ ७४३/१४६	स. प्र. प्र./१९१	स्वा.का.अ.गा.२-३
६०८/१२०	अध्यात्म प्रणेता/११	समयसार गा. ११	७४४/१४६	" " /१९७	" " गा. १९
६०९/१२०	अ प्रणेता/ ११	पं काय गा. १७२	७४५/	" " /१९३	" " गा. ४
६१०/१२१	" " / ११	समयसार परिशिष्ट	१४६-१४७		
६११-६३० १२१-१२८	" " /२५-१०२	--	७४६/१४७ ७४७/१४७	" " /२०३ " " /२०३	" " गा. ४९ " " गा. ५२
६३१-६५४ १२३-१२८	सद्. प्र. प्र. अंक/ ५९-१०२	स. परिशिष्ट	७४८/१४७ ७४९-७५०/	" " /२०५ " " /२०९	" " गा. ५५ " " गा. ४९-६०
६५५-६५७	स. प्र. प्र. २८६/	स्वामी कार्ति. ३८६,	१४७		

प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम	प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम
७५१-७५२/ १४७-१४८	" " /२१७	" " गा. ९७-१०२	७८८-७९४/ १५६-१५७	" " /२५८	" " गा. ३२०-३२७
७५३/१४८	" " /२२३	" " गा. १४३	७९५-७९६/ १५७-१५८	" " /२७६	" " गा. ३३५-३४२
७५४-७५६/ १४८-१४९	" " /२२०	" " गा. १५५-१५८	७९७/१५८	" " /२७८	" " गा. ३५०
७५७-७६१/ १४९-१५०	" " /२२७	" " गा.१८९-१९३	७९८-८००/ १५८	" " /२८२	" " गा. ३९३
७६२/१५०	" " /२२९	" " गा. १९६	८०१/१५८	" " /२९०	" " गा. ३९८
७६३-७६४/ १५०	" " /२९७	" " गा. २३५	८०२/१५८- १५९	" " / २९२	" " गा. ४००
७६५/ १५०-१५९	" " /२३९	" " गा. २३७	८०३/१५९	" " /२९४	" " गा. ४०३
७६६-७६७/ १५१	" " /२४१	" " गा.२३८-२४१	८०४-८०६/ १५१	" " /२९६	" " गा. ४०८-४१३
७६८-७६९/ १५१	" " /२४५	" " गा. २४४	८०७/१५९	" " /३०६	" " गा. ४१३
७७०/१५१- १५२	" " --	" " गा. ३०२	८०८-८०९/ १६०	" " /३१६	" " गा. ४४६- ४५६
७७१/१५२	" " /२६०	" " गा. २५१	८१०-८१३/ १६०-१६१	" " /३२४	" " गा. ४७०- ४७६
७७२-७७४/ १५२	" " /२६२	" " गा.२५६-२६१	८१४-८१७/ १६१-१६२	" " /३२६	" " गा. ४७७- ४७९
७७५/१५२- १५३	" " /२५४	" " गा. २६५	८१८-८२०/ १६२	" " /३३४- ३३६	मोक्ष. प्र.
७७६/१५३	" " /२७२	" " गा. २९३	८२१/ १६२	" " /३३८	द्रव्यसंग्रह
७७७/१५३	" " /२७२	" " गा. ३००	८२२-८४७/ १६३-१६८	" " /३३८,	मोक्ष. प्रका./ प्र.अ.
७७८-७७९/ १५४	" " /२४७	" " गा. ३११	३४०, ३४२, ३४४ ३४६, ३४८, ३५०, ३५२, ३५४		
७८०-७८२/ १५४	" " /२५३, २५६	" " गा. ३९६ ११३, ३१२	८४८-८६० १६८-१७१	आ.ध. अंक/ ५,९, ११, १६	मोक्ष. प्रका./ द्वि.अ.
७८३-७८४/ १५४-१५५	" " / २५४	" " गा. ३११- ३१२	८६१-८७५ १७१-१७३	आ. ध./ २२,३२, ४२, ४८	मोक्ष. प्रका./ तृ.अ.
७८५-७८७/ १५५-१५६	" " / २५१	" " गा. ३११, ३१२	८७६-९०७ १७३-१८१	" /१५१, १५३, १६८, १७२, १७६,	स.अ.

प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम	प. बोल सं. पृष्ठ संख्या	पत्रिका अंक/पृ. सं.	ग्रंथ/शास्त्र का नाम
९०८-९२५	१७८, १७९, १८०, १८२, १८६, २००, २०२, २०४	आ. घ./ २०८, अ.अ.	९५८-९७३	"/ ८३, २१६, २२२, २१८, २२४, २२६, २५२, २३० २३२, २६०, २६२	मोक्ष. प्रका./न. अ.
९८१-९८४	२१२, २१४, २१८, २३०, २२०, २२८	अनुभवप्रकाश	९७४-९९७	"/ ३०६, ३०८, २८२, ३१२, ३१४, ३१६, ३१८, ३२०, ३२२, ३२४, ३२८, ३४४, ३४६, ३४८, ३५५, ३५७	मोक्ष. प्रका./स. अ.
९२६-९४०	" १५८, ६०, ६८, च. अ.		९९५-२००		
९८४-९८७	७०, ७२,		९९८-१००८-		अध्यात्मपराग/ ९-१८
९४१/१८७	" १८३,		२००-२०९		
९४२-९५७	" ११०, ११६, ११८	मोक्ष. प्रका./स. अ.			
९८८-१९१	१२१, १३५, १३७ १४१, १४३, १४५, ३७५				

“दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही हैं। जडकी क्रिया चेतन नहीं करता, चेतन की क्रिया जड नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियाएँ करता माने वह जिनका मत नहीं है। इस जगत में वस्तु है वह अपने स्वभावमात्र ही है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य से, गुण से, तथा पर्याय से परिपूर्ण स्वतंत्र है। ऐसा होने से आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिये वह स्वभावदशा में ज्ञान का ही कर्ता है और विभावदशा में अज्ञान, राग-द्वेष का कर्ता है; परंतु पर का कर्ता तो कभी भी नहीं होता। परभाव (रागादि विकारी भाव) भी कोई अन्य द्रव्य नहीं करता, क्योंकि एक द्रव्य की दूसरे द्रव्य में नास्ति है; तथापि पर्याय में विकार होता है वह पुरुषार्थ की विपरीतता अथवा निर्बलता है, परंतु स्वभाव में वह नहीं है ऐसा ज्ञान होने पर (क्रमशः) विकार का नाश होता है।”

पूज्य गुरुदेवश्री

अहो !

सर्वोत्कृष्ट शांत रसमय सन्मार्ग-

अहो !

उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसप्रधान मार्ग के  
मूल सर्वज्ञदेव; -

अहो !

उस सर्वोत्कृष्ट शांतरस को जिन्हों ने  
सुप्रतीत कराया ऐसे परमकृपालु सद्गुरुदेव-  
इस विश्व में सर्वकाल आप जयवंत रहे,  
जयवंत रहे।

- श्रीमद् राजचंद्र

ॐ

श्री वीतरागय नमः



# परमागमसार



(पूज्य गुरुदेवश्री के विविध आगमों पर हुए प्रवचनोंमें से चुने हुए  
१००८ रत्न)



ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

भगवान श्री कुन्कुन्दाचार्यदेव समयप्राभूतमें कहते हैं कि " मैं जो यह भाव बतलाना चाहता हूँ, वह अन्तरके आत्मसाक्षीके प्रमाणसे प्रमाणित करना कारण कि यह अनुभवप्रधान शास्त्र है, जो अपने प्रवर्तित निज आत्म-वैभव द्वारा कहा गया है । छठवीं गाथा शुरू करते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि - "आत्मद्रव्य अप्रमत्त नहीं और प्रमत्त नहीं, अर्थात् इन दो अवस्थाओंका निषेध करता हुआ मैं एक ज्ञायक अखंड हूँ... यह मेरी वर्तमान वर्तती दशाके आधारसे कहता हूँ । " मुनिपनेकी दशा अप्रमत्त और प्रमत्त... इन दो भूमिकाओंमें हजारों बार आया करती है, उन भूमिकाओंमें वर्तते महामुनिका यह कथन है ।

समयप्राभूत, अर्थात् समयसाररूपी भेंट । जैसे राजासे मिलनेके लिये भेंट देनी पड़ती है, वैसे ही स्वयंकी परम उत्कृष्ट आत्मदशा स्वरूप परमात्मदशा प्रगट करनेके लिये समयसारको सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्माकी परिणतिरूप भेंट देने पर ही परमात्मदशा-सिद्धदशा प्रगट होती है ।

इस शब्द ब्रह्मरूप परमागम द्वारा दर्शित एकत्व-विभक्त आत्माको प्रमाणित करना, ऐसे ही 'हां' नहीं कहना, कल्पना नहीं करना । इसका बहुमान करने वाले भी महा भागशाली हैं । १



परमपारिणामिकभाव हूँ ।  
 कारणपरमात्मा हूँ ।  
 कारणजीव हूँ ।  
 शुद्धउपयोगमय हूँ ।  
 निर्विकल्प हूँ । २



चैतन्यस्वभावका अज्ञान ही राग-द्वेषके कर्तृत्वका कारण है ।  
 रागद्वेषका कर्तृत्व होने पर अकर्ता ऐसा ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव इसकी द्रष्टिमें नहीं आता, इसकारण परिभ्रमणका मूल ऐसा राग-द्वेषका कर्तृत्वरूप अज्ञान ही संसारका बीज है । ३



आत्माको अविरत (सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानमें ही प्रथम प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होना अनिवार्य है, क्योंकि उसमें रागदिकी अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये उसे वीतराग अनुभूति कहते हैं । ४



निज स्वस्वरूपमें उपयोग...वही सुख है । वह आबाल... गोपाल (सभी) कर सकते हैं । इसके बिना शान्तिका अन्य कोई उपाय नहीं । ५



आत्मामें एक सुखशक्ति नामका गुण है जिसकी अन्तर शक्तिकी मर्यादा अनन्त है । ऐसे गुणकी बुद्धि द्वारा आत्मारूप द्वयका आदर करते हुए (ज्ञानीजन) पाँच इन्द्रियों और इन्द्रियादिके विषयोंको भी हेय जानकर छोड़ते हैं । ६



जिसमे सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-समाहित है , ऐसा भावश्रुतज्ञानरूप परिणमन अखंड एक द्रव्यके आश्रयसे प्रगट होता है जो सर्वज्ञ के सर्व कथनोंका सार है । ७



आत्मा सहज आनन्द स्वरूप है, वह वास्तवमें दुःखरूप नहीं है । क्योंकि पदार्थका सहज स्वभाव अविकृत होता है, जिससे वास्तवमें दुःख नहीं है । ८



स्वभाव इष्ट है, विभाव अनिष्ट है । स्वभावमें विभावका तथा विभावमें स्वभावका अभाव है, यही यथार्थ अनेकान्त है । यह समझनेसे ही जगतके जीवोंका कल्याण है । ९



आत्माका बल अर्थात् वीर्य इसमें ऐसी शक्ति है कि वह आत्मस्वरूपकी रचना करता है, और वही उसका स्वभाव है । विकारकी रचना करे अथवा परकी रचना करे - ऐसा उस वीर्यका स्वरूप ही नहीं है ।

परमज्ञानी आत्माकी दिव्य शक्तियोंका वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि आत्मामें द्रव्य-गुण-पर्यायकी रचनाकी सामर्थ्यरूप एक वीर्य शक्ति है और शक्तिवान ऐसे आत्मद्रव्य पर दृष्टि जाते ही, द्रव्य-गुण-पर्याय - इन तीनोंमें (उसकी) व्याप्ति हो जाती है । १०



एक आत्माको जाननेसे सब कुछ जाना जा सकता है, क्योंकि आत्माका सर्वको जाननेका स्वभाव है । आत्माका स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होनेसे स्वको जानते हुए पर जाननेमें आ जाता है । ११



जिसको सुखी होना हो वह सुख-समृद्ध ऐसे आत्मा, कि जो स्वयं सुखस्वभावका आलम्बन है, के आश्रयसे सुखी होता है और दुःखका नाश होता है ।

इस प्रकार सत्य प्रतीतमें आता है और असत्य प्रतीतिका नाश होता है । इससे सत्यका यथार्थ ज्ञान होता है, और अज्ञानका नाश होता है । उसी प्रकार सत्यमें स्थिरता होती है, और अस्थिरताका नाश होता है । १२



निज परमपावन परमात्मका निज परमस्वरूप, उसके प्रवाह (अस्तित्व)की परम प्रतीति और उसमें स्थिरता-यह ऐसा अमूल्य चिन्तामणि रत्न है कि जिसका मूल्यांकन नहीं हो सकता । १३



आत्मा में, अर्थात् अनन्त शक्ति सम्पन्न द्रव्यमें, अनन्त शक्तिके स्वसंवेदनरूपसे अर्थात् निज-भावसे रागके अभावरूप स्वयंके स्वभावका प्रत्यक्ष वेदन होना, वह अनन्त

---

नोंध - यह १८ वचनामृत पू.श्री के स्वयं के हस्ताक्षरमें (गुजरातीमें) लिखा हुआ है ।

गुणोंमेंसे एक ऐसी स्वसंवेदनशक्तिको बतलाता है । १४



शुद्ध आत्माके अतिरिक्त अन्य पांच द्रव्यों और संसारी जीवका ज्ञान करने वालेको ज्ञान नहीं, और सुख भी नहीं ।

शुद्ध स्वभावका ज्ञान करनेवालेको ज्ञान है और सुख है, अतः शुद्धात्मा ही उपादेय है । १५



अनेकान्त सो अमृत है, कारण, सत् स्वत्वरूप है, परत्वरूप नहीं । उसमें स्वके होनेसे और परका अभावरूप होनेसे स्वकी शान्ति वेदित होती है- यही अमृत है । १६



मृतक कलेवरमें मूर्छित - ऐसा अमृत आनन्द स्वरूप आत्मा निजकी ओर नजर भी नहीं करता । अपनी ओर दृष्टि करते ही सुख-रूप अमृतसे भरे हुए पूर्ण समुद्रको निरखते, देखते, अवलोकन करते, दृष्टिगत करते, मानते और उसमें स्थिर होते ही तृप्ति होती है - वस्तु स्वयम् ऐसी ही है । १७



आत्माका ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होनेसे उसके अनुभवके कालमें भी वह ज्ञान स्वरूपज्ञानको भी प्रकाशित करता है और आनन्दको भी प्रकाशित करता है, इसीकारण उसे निश्चयसे स्वपर प्रकाशक कहते हैं । १८



यह शास्त्र तो परमार्थ स्वरूप और वैराग्य उत्पादक है । समयसार शास्त्र परमप्रभु परमात्माको बताने वाला है व पर की तरफसे उदासीन कराने वाला है । निज पूर्ण स्वरूपको प्राप्त ऐसा जो परमार्थ स्वरूप (आत्मा) को बतलाने वाला व विकल्पसे उदासीन कराने वाला यह समयसार शास्त्र वैराग्य-प्रेरक है । १९



मात्र जानना-जानना-जनना, ज्ञाता-ज्ञाता-ज्ञाता मेरा स्वरूप है । किसीका कुछ कर सकूं, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है । मात्र द्रव्यको विषय करना ही जिसका प्रयोजन है ऐसे द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्यस्वरूप तो चिनमात्र चैतन्य मात्र ही है । २०





प्रश्न : - यदि (स्वभाव और विभाव) दोनों भिन्न ही हैं तो भिन्न करनेके साधनकी बात ही कहाँ रही ।

उत्तर : - भिन्न होने पर भी भिन्न माना कहाँ है ? इसलिये भिन्न करनेके साधन क्या है, वे यहाँ समझाते हैं । जिस ज्ञानकी वर्तमान दशाकी विकारके साथ एकता है वह ज्ञानकी पर्याय (जब) अन्तरमें ढलती है तब वह भगवतीप्रज्ञा है और यह भगवतीप्रज्ञा ही साधन है । वस्तु साधन नहीं परंतु उसकी प्रज्ञादशा साधन है । कर्ता, करण गुण हैं परन्तु निर्मल पर्याय साधन है । २१



जाननपर्याय और जाननगुण - ऐसे लक्षण द्वारा आत्मा जाना जा सकता है । यह एक ही उपाय है अन्य कोई उपाय नहीं । जहाँ जहाँ जाननपर्याय है, वहाँ वहाँ अनन्त पर्यायें हैं और जहाँ जहाँ जाननगुण है, वहाँ वहाँ अनन्त गुण हैं और वही आत्मा है, ऐसा निश्चय करना चाहिये । २२



भाई ! शरीरके संसर्ग और परसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पों को तू भूल जा । अनन्त ज्ञान आदि अनन्त शक्तियाँ रागको स्पर्श नहीं करती बल्कि, एक समयकी पर्यायको भी नहीं स्पर्शती - तू ऐसा अनन्त ज्ञानमय और परम आनन्द स्वभावी है - ऐसा दृष्टिमें स्वीकार कर । पांच इन्द्रियोंकी ओरका प्रेम है, वही आनन्दका क्षय करनेवाला और शान्तिको जलानेवाला है । २३



भाई ! तूझे सम्यक् (प्रकार) देखना हो तो तू भगवान् स्वरूप है, इसका स्वीकार कर । मिथ्यात्व राग-द्वेषके कालमें भी जैसा इसका परमार्थ स्वरूप है उस रीतीसे देखे तो शक्तिरूपसे परमात्मस्वरूप ही विराजमान है । २४



निश्चय दृष्टिसे प्रत्येक जीव परमात्मस्वरूप ही है । जिनवर और जिवमें अन्तर नहीं - चाहे वह एकेन्द्रियका जीव हो अथवा स्वर्गका जीव हो, यह सब तो पर्यायमें है, वस्तुस्वरूपसे तो परमात्मा ही है । जिनकी दृष्टि पर्यायसे हट कर स्वरूप पर गई है वे तो स्वयंको भी परमात्मस्वरूप (ही) देखते हैं, और प्रत्येक जीवको भी परमात्मस्वरूप ही

देखते है । सम्यग्दृष्टि सब जीवोंको जिनवर (रूपसे) जानते हैं और जिनवरको जिवस्वरूपसे जानते हैं। अहा ! कितनी विशाल दृष्टि ! अरे, यह बात स्वीकार हो तो कल्याण हो जाय परन्तु ऐसी श्रद्धाकी अवरोधक मान्यतारूपी गढ़का पार नहीं । यहाँ तो कहते हैं कि बारह अंगका सार तो यह है कि जिनवर समान आत्माको दृष्टिमें लो, क्योंकि आत्माका स्वरूप परमात्मस्वरूप ही है । २५



जो जीव रागके अवलम्बन बिना शुद्ध त्रिकाली वस्तुका सीधा अनुभव करता है, उसने शुद्ध जीव वस्तुको उपादेय किया है "ज्ञानको ज्ञान द्वारा वेदन करना" इसको प्रत्यक्ष अनुभव कहते हैं । २६



प्रश्न :- ज्ञानमें राग जाननेमें आता है । परन्तु ज्ञानमें राग एकमेक होता है, ऐसा क्यों लगता है ?

उत्तर :- भेगज्ञानके अभावसे अज्ञानी राग और ज्ञानकी अति निकटताको देखकर उनको एकमेक मानता है परन्तु राग और ज्ञान एकमेक नहीं । २७



जीव जिनवर है और जिनवर जीव है, ऐसी दृष्टि होने पर पर्यायबुद्धि छूट जाती है । सम्यक्दर्शन प्रगट करनेके लिये कितने ही गढ़ोंको पार कर अन्दर जाना पड़ता है । व्यवहारमें कितनी ही प्रकारकी योग्यता हो, संसारभाव तनिक भी न रुचे, आत्मा-आत्माकी ही धून लगे तब सम्यग्दर्शन होता है । २८



निर्विकल्प होनेवाला जीव, निर्विकल्प होनेके पूर्व ऐसा निर्णय करता है कि मैं कभी भी रागादि भावरूप परिणमनेवाला नहीं हूँ । परन्तु ज्ञानदर्शन रूप परिणमनेवाला हूँ । अभी रागादि भाव होंगे-ऐसा जानाता है, फिर भी मैं उनका स्वामीरूप होनेवाला नहीं । मेरा ऐसा प्रयत्न है कि मुझे भविष्यमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त होंगे फिर भी उस समय राग भी रहेगा, परन्तु मैं उसरूप परिणमनेवाला नहीं-ऐसा निश्चत है । (प्रथम) निर्णय करता है पर्यायमें, बादमें अनुभव होगा पर्यायमे । परन्तु वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं तो चिन्मात्र अखण्ड ज्योति स्वरूप हूँ, पर्याय नहीं । २९

विकारी पर्याय परद्रव्यकी सन्मुखता करती है अतः विकारको द्रव्यसे भिन्न कहा और शुद्ध पर्याय स्वद्रव्यके सन्मुख होती है इसलिये शुद्ध पर्यायको द्रव्यके अभिन्न कहते हैं । पर अभिन्नताका अर्थ यह है कि द्रव्यकी जितनी सामर्थ्य है - शक्ति है यह ज्ञानपर्यायमें आ जाती है, प्रतीतिमें आ जाती है, इस कारण शुद्ध पर्यायको द्रव्यसे अभिन्न कहा है । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अनित्य पर्याय नित्य द्रव्यके साथ एकमेक हो जाती है । द्रव्य व पर्याय दोनोंका स्वरूप ही भिन्न होनेसे दोनों भिन्न हैं । पर्याय द्रव्यका आश्रय करती है, लक्ष करती है इससे पर्याय शुद्ध होती है परन्तु इससे द्रव्य व पर्याय एक हो जाते हैं - ऐसा नहीं, दोनोंका स्वरूप भिन्न होनेसे पर्याय द्रव्य रूप नहीं होती और द्रव्य पर्याय रूप नहीं होता । ३०



प्रश्न :- अनुमान ज्ञान द्वारा आत्माका निर्णय करे, वह अनुमान ज्ञान सम्यक्ज्ञान कहलायेगा?

उत्तर :- अनुमान ज्ञानको सम्यक् ज्ञान नहीं कहते । सम्यक् ज्ञानके साथ आनन्द होता है- आनन्द सहितके ज्ञानको सम्यक् ज्ञान कहते हैं । प्रत्यक्ष पूर्वकका अनुमान ज्ञान हो तो वह सम्यक् ज्ञान कहलाता है । प्रत्यक्ष रहित केवल अनुमान ज्ञान-वह सम्यक् ज्ञान नहीं है । प्रवचनसारमें गाथा १७२ अलिंगग्रहणके बोलमें कहा है कि प्रत्यक्ष रहित अकेले अनुमान ज्ञानका विषय आत्मा नहीं है । ३१



प्रश्न :- आत्म सन्मुख होने की विधि क्या है ?

उत्तर :- जो पर ओर देखता है वह स्व ओर देखे तो स्वसन्मुख होता है । अनन्त-अनन्त ज्ञानानन्द सामर्थ्यवाली वस्तु, उसका जैसा और जितना महात्मय है वैसा और उतना महात्मय उसके ज्ञानमें आवे तो वह ज्ञान स्वसन्मुख हो सके । ३२



चैतन्य आत्मासे प्रेम करना, निर्विकल्प शान्ति द्वारा आत्माको देखना - वह धर्म है । भगवान (आत्मा) देहकी तरह अपवित्र नहीं है । आनन्दरस प्रभु है पर उसकी खबर ही नहीं, इसलिये बाहर ही भटकते हैं मानो यात्रासे अथवा पूजासे वह मिल जायेगा । भगवान अन्तरमें विराजते हैं किन्तु (अज्ञानी) उन्हें बाहर विकल्पों और रागकी क्रियामें खोजते हैं ।

आत्मा जैसा और जितना महान पदार्थ है उतना महान मानना ही आत्माकी दया पालने रूप समाधि है । और ऐसे महान आत्माको रागादिरूप मानना अथवा मतिज्ञान आदि चार अल्पज्ञ पर्याय जितना मानना वह आत्माकी हिंसा है । ३४



अज्ञानी आगम-पद्धतिको जानता है परन्तु अध्यात्म-पद्धतिके व्यवहारको नहीं जानता । वह कर्मफल-चेतनारूप वस्तुको श्रद्धेय करता है परन्तु शुद्ध ज्ञानचेतना रूप वस्तुको श्रद्धेय नहीं कराता । कारण कि वह सदा ही स्वपरके भेद-विज्ञान करनेके अयोग्य है जिससे कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके कारणभूत ज्ञान मात्र-ऐसे भूतार्थ धर्मको श्रद्धेय नहीं करता । भोगके हेतुभूत शुभ कर्मको ही धर्म जानकर श्रद्धान करता है । ३५



चौथे गुणस्थानमें विषय-कषायके परिणाम होने पर भी वे सम्यग्दर्शनको बाधित नहीं करते और सम्यग्दर्शनके अभावमें अनन्तानुबन्धि आदि कषायकी मन्दता होने पर भी मिथ्यात्वका पाप बन्ध करता है - क्योंकि उसे स्वभावका आश्रय नहीं होता है । किसीको (सम्यग्दृष्टिको) (अप्रत्याख्यान) कषायकी बहुत तीव्रता होने पर भी उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । किसीको बारह अंगका ज्ञान हो उससे सम्यग्दर्शन विशेष निर्मल हो व किसीका क्षयोपशम अल्प हो तो सम्यग्दर्शनमें निर्मलता न्यून हो - ऐसा नहीं है । सम्यग्दर्शनके परिणाम आत्माके आश्रयसे स्वतंत्र प्रगट होते है । विषय-कषायके परिणाम सम्यग्दर्शनको बाधित नहीं करते परन्तु (उनके कारण) विशेष स्थिरता (निर्मलता) नहीं हो सकती है ।

३६



प्रश्न :- शास्त्रसे आत्माको जाना और पश्चात् परिणाम आत्मामें लीन हो-ईन दोनोंमें आत्माको जाननेमें क्या अन्तर है ?

उत्तर :- शास्त्रसे जाना - यह तो साधारण धारणारूप जानपना है परन्तु आत्मामें मग्न होकर अनुभव (होता है) इसमें तो आत्माको प्रत्यक्ष वेदनसे जानते हैं । इसलिये इन दोनों में बहुत अन्तर है, अनन्तगुणा अन्तर है । ३७



जब कोई तीव्र प्रतिकूलता आ पड़े, कोई अतिकठोर, मर्मछेदक वचन कहे तो त्वरासे

देहमें स्थित परमानन्द स्वरूप परमात्माका ध्यान कर देहका लक्ष छोड़ देना समताभाव रखना । ३८



रागसे भिन्न आत्माका एकत्व अन्तरमें सदाकाल प्रकाशमान है परन्तु दृष्टिमें रागसे एकत्व होनेसे वह ढक गया है जिससे दिखनेमें नहीं आता । राग है वह मैं हूँ शुभ रागसे मुझे लाभ होता है - यह मान्यता ही आत्माका अत्यन्त अहित करनेवाली है, विसंवाद पैदा करनेवाली है, आत्माका बुरा करनेवाली है । ३९



पुरुषार्थसिद्धिउपायमें कहा है कि जो जीव व्यवहारको ही पकड़ता है वह देशना झेलने योग्य नहीं है क्योंकि हमें बतलाना तो है परसे भिन्न आत्माके एकत्वरूप निश्चयको, पर वह निश्चय स्वरूपको तो ग्रहण नहीं करता और अकेले व्यवहारको ही पकड़ता है अतः देशना झेलनेका पात्र नहीं है । ४०



अज्ञानी सुखको तो इच्छता है परन्तु उसे सच्चे सुखके उपायका भान ही नहीं । ज्ञान नहीं है इसलिये दुःखके उपायको ही सुख जान-जानकर दुःखमें डूब मरता है । अहा ! सुखके सच्चे उपायके भान बिना सुख नहीं मिलता इसलिये सुखी होनेके इच्छुकको सुखका सच्चा उपाय क्या है, यह जानना परमावश्यक है । ४१



सम्पूर्ण सिद्धांतका एकमात्र सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होना ही है । श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि "उपजे मोह विकल्पसे समस्त यह संसार, अन्तर्मुख अवलोकतां विलय होय नहि वार" - ज्ञानीके एक वचनमें भी अनन्त गम्भीरता भरी होती है । अहो ! भागशाली होंगे उन्हें ही इस तत्त्वमें रस आयेगा और तत्त्वके संस्कार गहरे पड़ेंगे । ४२



समयसार गाथा ४५ में आठ कर्मोंके फलको दुःख रूप कहा है । साताके फलको भी दुःखरूप कहा है । जिन्हें चारगतिमें दुःख ही दुःख लगा हो उनके लिये यह बात है । प्रतिकूलतासे दुःख लगे ऐसा नहीं बल्कि स्वर्ग भी जिन्हें दुःखरूप लगता है उनके लिये

यह आत्महितकी बात है । ४३



लहसुन - प्याजकी गांठकी एक राई जितनी कणीमें असंख्य औदारिक शरीर होते हैं और एक शरीरमें अनन्त जीव होते हैं ऐसे तो तूने अनन्त भव किये । ये कैसे किये ? कि आत्मा 'ज्ञ' स्वभावी वस्तु है, आत्मा जैसी वस्तु है वैसी की वैसी न भासी और उसके विरुद्ध भाव रूप मैं हूँ, पुण्य पापके विकार रूप मैं हूँ ऐसा मानकर उसके फलमें ऐसे अनन्त भव किये हैं । ४४



(आत्मा) वस्तु जो ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु है उसका जिसे ज्ञान हुआ उसे आत्मा भासित होती है । उसे रागका होना नहीं भासता अर्थात् राग मेरा है ऐसा उसे नहीं भासता । राग संबंधित जो स्वयंका ज्ञान है उस ज्ञानका होना भासता है । स्वयंका ज्ञान व रागका ज्ञान वह ज्ञानरूप भासता है परन्तु विकार रूप नहीं भासता । ४५



इस नियमसार शास्त्रकी टीकामें कहे हुये भावोंका-वस्तुस्वरूपका-निरूपण हमने नया नहीं किया है । परन्तु गणधर आदि श्रुतघरोंकी परंपरासे चला आता है । ऐसे इस परमागममें ऐसा कहा है कि कारणपरमात्मा ही निश्चय आत्मा है और कारणपरमात्मा ही यथार्थतया मोक्षमार्गका हेतु है । यहाँ त्रिकाली परमपारिणामिक भावको ध्येय बतलाना है, अतः प्रकट होती मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्यायको भी परद्रव्य और परस्वभाव बतलाकर आश्रय करने योग्य नहीं - ऐसा कहा है । जैसे परद्रव्यके आश्रयसे निर्मल पर्याय प्रकट नहीं होती, वैसे ही निर्मल पर्यायके आश्रयसे भी नवीन निर्मल पर्याय प्रकट नहीं होती - इस कारणसे उसे परस्वभाव और परद्रव्य कहा है । यहाँ भगवानकी गद्दी पर बैठकर अन्तरसे जो बात निकलती है वह परमात्माकी कही हुई (बात) आती है । आज यहाँ बैठते ही विचार आया था कि प्रभु ! यह बात आपकी ही है । ४६

(समयसार) संवर अधिकारमें तो ऐसा कहा है कि जाननक्रिया आधार है और द्रव्य उसका आधेय है । वहाँ आश्रयकी (अवलम्बनकी) बात नहीं है । परन्तु जिसमें जाना जाता है उस अपेक्षाकी मुख्यतासे वहाँ बात है । ध्रुव वस्तु स्वयं ध्रुव वस्तुको नहीं जानती है परन्तु पर्यायमें ध्रुव वस्तु जाननेमें आती है । कार्यमें कारणका ज्ञान होता है, ऐसा

दर्शाया है । वैसे ही यहाँ भी ऐसा कहा है कि स्वानुभूतिसे वस्तु प्रकाशमान होती है अर्थात् अनुभूतिकी पर्यायमें ध्रुववस्तु जाननेमें आती है । परन्तु अनुभूतिकी अर्थात् पर्यायपर दृष्टि करनेसे ध्रुव वस्तु प्रकाशमान होती है ऐसा यहाँ नहीं कहना है । निर्मल पर्याय वस्तुका आश्रय करती है. तब उस निर्मल पर्यायमें वस्तु जानी जाती है । पर्याय जाननेवाली होनेसे पर्याय द्वारा द्रव्य प्रकाशमान होता है, ऐसा कहा है । ४७



द्रव्यदृष्टिके विषयभूत आत्मद्रव्यको सम्यक् प्रकारसे समझने हेतु ही आचार्यदेवने नयोंका अधिकार लिखा है । प्रमाणज्ञानके विषयभूत जो द्रव्य-गुण-पर्याय सहितका आत्मा-उसके यथार्थ ज्ञान बिना शुद्ध-द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत द्रव्यसामान्यका अवलम्बन किस प्रकार लेंगे ? द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध ही हैं परन्तु योग्यता रूप अनन्तधर्म हैं ऐसा जानकर त्रिकाली वस्तुभावको मुख्य कर उसका अवलम्बन लेना - यह इन नयोंके कथनका प्रयोजन है । ४८



ईश्वरनयका तात्पर्य ऐसा है कि तूने तेरी स्वतंत्रता द्वारा ही परवश होने रूप, परतंत्रताको जन्म दिया है, इसलिये उस परवशताको भी तूँ तेरी स्वतंत्र सामर्थ्य द्वारा नाश कर सकता है । तेरी परतंत्रताके नाश हेतु तुझे परकी और बैठे बैठे देखते रहना पड़े - ऐसा नहीं है । ४९



स्वयं विकारुप रागरूप परिणमता था उसका स्वतंत्र रूपसे नाश करने योग्य धर्मका धारक आत्मद्रव्य है । जैसे स्वयं कर्मके वश होकर विकाररूप परिणमनेका एक धर्म है वैसे ही विकारको नाश करनेकी स्वतंत्र सामर्थ्य भी जीवकी स्वयंकी ही है । विकारको स्वतंत्रतासे नाश करनेका धर्म भी जीवने धारण कर रखा है । कर्मका उदय निर्बल पड़े तब विकारका नाश कर सके अथवा कर्म-प्रकृति क्षीण हो-तब जीव पुरुषार्थ कर सके - यह बात बिलकुल मिथ्या है । ५०



नय श्रुतज्ञान प्रमाणका अंश है । प्रमाणज्ञानको प्रमाणिकता तब और तो ही प्राप्त होती है कि जब अन्तरदृष्टिमें विभाव और पर्यायके भेदोंसे रहित शुद्धात्मद्रव्यरूप ध्रुवकी

श्रद्धाके अवलंबनकी उग्रता निरंतर वर्तती हो। ज्ञानीको ध्रुवस्वभावके अवलंबनका बल सदैव वर्तता होनेसे उसका ज्ञान सम्यक् प्रमाण है। ५१



शुद्ध चैतन्यध्रुवके ध्यानसे जिसे सम्यक्ज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे जीवको ऐसी पर्यायरूप योग्यताएँ होती हैं व उनका ज्ञान भी होता है। परन्तु उन उन धर्मोंके ज्ञानसे अथवा उनके अवलम्बनसे सम्यक्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। ऐसे विविध धर्मोंके ज्ञान होने पर साधक जीवको त्रिकाल चैतन्यमूर्ति ध्रुवका - द्रव्य स्वभावका - ही अवलम्बन होता है। ५२



अहो ! सन्तजन कितनी करुणापूर्वक ऐसे गहन विषयको समझा रहे हैं। ज्ञानसे मुक्ति होती है, यह बात सत्य है परन्तु यह ज्ञान भी पर्याय है अतः वह केवल जानने योग्य है। ध्यानके विषयमें विवेकको - ज्ञानको (पर्यायको) नहीं लेना है। ध्यानका विषय तो अखण्ड चिदानन्द स्वरूप त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है। मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्यायोंका भी जिसमें अभाव है ऐसा शुद्ध चैतन्यद्रव्य ही साधकका ध्येय है, उसके आश्रयसे ही मोक्षमार्गरूप शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और उससे ही मुक्ति प्राप्त होती है। ५३



प्रश्न :- (व्यवहार और निश्चय) दो नयोंको जाननेके लिये कहा है न ?

उत्तर :- जानना - यह तो ज्ञानका स्वभाव है। जानने हेतु ही सब नय कहे हैं। परन्तु धर्मरूप प्रयोजनकी सिद्धिके लिये तो एकरूप त्रिकालीध्रुव शुद्ध चैतन्य सामान्य द्रव्य ही आश्रय करने योग्य है, जानने के विषय में उपादेयता मान लेनेसे दृष्टिकी विपरीतता होती है। ५४



(प्रत्येकका) देह छूटनेका काल प्रतिसमय नजदीक आ रहा है। जो यथार्थरूपसे इस देहको नहीं छोड़ता, तो देर छूटनेके समय सचमुच तो इसने देहको नहीं छोड़ा, परन्तु देहने इसको छोड़ा है। आगममें जैसा वस्तुस्वरूप कहा है उसके सम्यक् निर्णयके बिना यह यथार्थरूपसे देहको नहीं छोड़ सकेगा। ५५





तेरे स्वभावके अतिरिक्त भाई ! तुझे अन्यत्र कहीं मिठास रह गई होगी तो यह तुझे चैतन्यकी मिठास लेने नहीं देगी । परकी मिठास तुझे चैतन्यकी मिठास (लेनेमें) विघ्न करेगी । इसलिये हे भाई ! विवेकपूर्वक परकी मिठास छोड़ । ५६



स्वयंके आनन्द-निधानको भूला हुआ और आत्माके अतीन्द्रिय आनन्दको नहीं पाया हुआ संपूर्ण जगत भिखारी है क्योंकि धन आदि विषयोंके पास वह आनन्दकी भीख मांगता रहा है। संतजन उसे संबोधने हैं कि अरे ! विषयोंके भिखारी ! तू तो चैतन्यराजा है, राजा होकर तू कैसे भिख माँगता है ? तेरेमें तो अतीन्द्रिय आनन्द-निधान भरा हुआ है, तू इन्द्रिय विषयोंसे भीख न माँग, तनिक तो शरमा । भिखारीपनेको छोड़कर तेरे आनन्द-निधानको सँभालकर अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता बन । ५७



आनन्दरसके रसिया मुनि करुणासे ऐसा कहते हैं कि रे अन्धे ! तू अन्धा है क्योंकि जो प्रकट वस्तु तेरा आत्मस्वरूप है उसे तू नहीं देखता और तेरी नजर पुण्य-पाप व उसके फलमें रहती है इसलिये अन्धा है । भले शास्त्र जानता हो और महाव्रतादिकी क्रिया पालता हो, पर तू अन्धा है, क्योंकि जिसमें अनन्त आनन्द व पूर्ण शान्ति भरी है उसे तू सँभालता नहीं - देखता नहीं। ५८



रागका राग करनेवालेको, पुण्यका राग करनेवालेको, स्त्री-पुत्रादिसे राग करनेवालेको चैतन्यसे प्रेम नहीं - वह चैतन्यका खूनी है । मायाजालका प्रेमी शुद्ध स्वरूपी भगवानका खूनी है। तेरे चैतन्यके खजानेको देखनेसे तुझे यह लगेगा कि तू शुभाशुभरूप खाली खजानेमें पड़ा है । भाई! तुझे मनुष्यपना मिला है न ? जो तू तेरे आत्माको अनुभवे तो मनुष्यपना मिला कहलाए, अन्यथा मनुष्यरूपमें पशु-समान है । ५९



भव और भवके भावसे रहित प्रभु हैं, उसके सिवाय और कहीं चैन नहीं पड़े-ऐसी वस्तु है। एक चैतन्यस्वरूप ही चैन पड़ने जैसी वस्तु है, अतः एकका ही अवलम्बन लो । यहाँ ऐसा कहा है कि एकान्त-स्वभावका ही अचल रूपसे अवलम्बन करो-निमित्तका, देव-गुरु-शास्त्रका, रागका या शुद्ध पर्यायका भी अवलम्बन लेनेका नहीं कहा है । ६०



शुभशुभके विकल्पोंसे, रागादि भावोंसे अथवा द्रव्योंके भेदरूप विचारसे तुझे क्या लाभ है, ऐसे विकल्पोंका सावधानी पूर्वक प्रतिपालन अर्थात् आचरण व स्मरणसे तुझे क्या कार्य सिद्धि होती है? कोई कार्य सिद्धि नहीं होती । एक औक भगवान् आत्माका अनुभव है व दूसरी और भेद-विकल्प आदि हैं । परन्तु तुझे इस दूसरे पक्षसे क्या प्रयोजन है ? जिसे अभेद चैतन्य-स्वभावका अनुभव हुआ उसे दया-दान आदि विकल्पोंसे क्या सिद्धि है ? अरे ! द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद विकल्पोंसे भी क्या प्रयोजन है, उस ओरकी सावधानी छोड़। ६१



चैतन्य चमत्कारी तत्वकी सामर्थ्य कितनी ! ऐसा अन्तरमें देखे-प्रतीति करे तो धर्मरूपी महलके निर्माणका आधार स्तम्भ खड़ा होता है । विकल्पोंके टुटे बिना ऐसे वस्तु स्वरूपका अन्तरमें स्वीकार नहीं होता । वस्तु है - वह सीमा रहित है । वस्तु अमर्यादित है, अक्षय और अमेय है । ऐसी वस्तुको श्रद्धामें लेनेवाली पर्यायका भी कभी नाश नहीं होता - वह ऐसी अक्षय और अमेय है । भले ही अचारित्रके परिणाम हो, तो भी इसकी श्रद्धा पर्यायकी ज्ञान पर्यायकी इतनी शक्ति है कि 'राग मुझमें नहीं, परद्रव्य मुझमें नहीं' - ऐसा जान लेती है । ६२



अरे ! ऐसे चमत्कारी स्वभावकी बात स्वलक्ष पूर्वक ग्रहण करे तो मिथ्यात्व चूर-चूर होकर विलीन हो जाय, ऐसी यह बात । ६३



शरीरके एक-एक रोममें ९६-९६ रोग हैं । यह शरीर क्षणमें धोखा देगा, क्षणमें छूट जायगा । थोड़ी भी अनुकूलता हो, वहीं लिप्त हो जाता है । पर भाई तुझे जहाँ जाना है - वहाँ किसका महेमान होगा ? कौन तेरा परिचित होगा ? इसका विचार करके अपना तो कुछ कर ले । शरीर अच्छा हो तब तक तो आंख खुलती नहीं, और क्षणमें देह छूटते ही अनजानी जगह चला जायेगा छोटी छोटी उमरमें भी चले जाते हैं, इसलिये अपना कुछ तो कर ले । ६४



प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि भी भयभीत होता दिखता है और वह

उसका उपाय भी करता है न ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि अन्तरमें तो निर्भय ही है, बाह्यमें भयप्रकृतिमें जुड़नेसे तनिक अस्थिरतारुप भय दिखता है, तो भी अंतरस्वरूपमें तो निर्भय ही है जिससे वह इहलोक, परलोक आदि सात प्रकारके भयोंसे रहित-निर्भय है । ६५



प्रश्न :- वांचन-श्रवण-मनन करने पर भी आत्माका अनुभव क्यों नहीं होता ?

उत्तर :- वांचन आदि तो सभी बहिर्मुख है और आत्मवस्तु पूरी अन्तर्मुख है इसलिये इसे अन्तर्मुख होना चाहिये । परको जाननेवाला उपयोग स्थूल है, उसे सूक्ष्म कर अन्तर्मुख करना है । अन्तरकी गहराईमें जाये तो अनुभव हो । 'ज्ञायक ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक हूँ, ध्रुव हूँ' ऐसे अन्तरमें संस्कार डाले तो आत्मलक्ष होकर अनुभव होगा ही । ६६



प्रश्न :- शास्त्र द्वारा मनसे आत्मा जाना हो उसमें आत्मा जाना गया है या नहीं ?

उत्तर :- यह तो शब्दज्ञान हुआ, आत्मा तो नहीं जाना गया । आत्मा तो आत्मासे ही जाना है । शुद्ध उपादानसे उत्पन्न ज्ञानके साथ आनन्द आता है, पर अशुद्ध उपादानसे उत्पन्न ज्ञानके साथ आनन्द नहीं आता और आनन्द आए बिना आत्मा यथार्थतया जाननेमें नहीं आता । ६७



प्रश्न :- शुभ-अशुभ भावोंमें व्यवहारमें भेद होने पर भी परमार्थसे भेद माननेवाले घोर संसारमें भटकेंगे - ऐसा शास्त्रमें कहा है, और देव-गुरु जिनवाणी पुण्य बिना नहीं मिलते , तो आगामी भवमें उनके योग हेतु पुण्यकी तो अपेक्षा रहे न ?

उत्तर :- पुण्यसे देव-गुरु-वाणीका योग मिलता है, यह यथार्थ । परन्तु पुण्यभाव वर्तमानमें दुःखरूप है, और भावी दुःखका कारण है - ऐसा शास्त्रोंमें कहा है, क्योंकी पुण्यसे जो सामग्री मिलेगी, उसके लक्षसे राग होगा, जो दुःखरूप है । भगवानकी वाणी मिले व उस ओर लक्ष जाये, तो वह राग दुःखरूप है । शुभराग आता है, होता है, परन्तु शुभराग चेतनका धर्म नहीं है । शुभराग दुःखरूप है । आहा ! यह बात जगतको कठोर, लगे - ऐसी है । स्वीकार करनेमें कठिन लगे ऐसी है, परन्तु जो सत्य है, वह ऐसा ही

है । ६८



ज्ञानमें चैतन्यस्वभावकी महत्ता भासित हुए बिना ज्ञान अन्तरमें नहीं ढल सकता । ज्ञानमें चैतन्यस्वभावकी महिमा व महत्ता भासित हो तब ही ज्ञान अन्तरमें ढलता है । ६९



आत्मवस्तु-जिसके ध्रुवदलमें अनन्त शान्ति और अनन्त वीतरागता है - उसका पर्यायमें अनुभव नहीं है अर्थात् अनुभवकी शक्ति जिसने प्रगट नहीं की और जो रागकी रुचिमें पड़े हैं, वे जीव चैतन्यचन्द्र अर्थात् उपशमरससे भरे हुए भगवान् आत्माके ज्ञानस्वरूपके अनुभव बिना, उसे पा नहीं सकते । दया-दान आदि कोटि उपाय करे, तो भी उसे चैतन्य भगवान् प्रकट नहीं होता । रागकी क्रिया लाख क्या करोड़ करे तो भी भगवान् आत्मा प्रकट हो जाए - ऐसा नहीं है । ७०



तो उपाय क्या ? ...कि जिस दशाकी दिशा परओर है, उस दशाकी दिशा स्वोन्मुख करे- यही उपाय है । रागादि तो पर वस्तु है, उससे आत्मा संवेद्यमान नहीं होता । 'स्व' स्वयं संवेद्यमान है । संवेद्यमान - संवेदनमें आने योग्य है । आत्मा ज्ञान और आनन्द स्वरूप है, उसमें स्वयंके द्वारा एकता करे व विभावसे पृथकता करे - यही उपाय है और यही मोक्षका मार्ग है । ७१



ज्ञानस्वरूपी और अतिन्द्रिय आनन्दस्वरूपी प्रभु अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द द्वारा आस्वादन योग्य है । भगवान् आत्मा ज्ञान और आनन्द स्वरूपी होनेसे वह ज्ञानगुण द्वारा ही अनुभूत होने योग्य है । वह ज्ञानगुण बिना अनुभूत नहीं होता । कारण कि वह कारणान्तर द्वारा अनुभवगमय ही नहीं यानी कि इस कारणके अतिरिक्त अर्थात् ज्ञानगुणके अतिरिक्त रागकी क्रिया आदि अन्य कारणों द्वारा भगवान् आत्मा जानने योग्य नहीं है । ७२



करोड़ो रूपये खर्चे, मन्दिर बनबाए, आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करे, पर ये तो शुभराग हैं । शुभराग है - वह क्लेश है, दुःख है, आडंबर है । ऐसे अडंबर करो तो करो, परन्तु

सर्वज्ञ वीतराग देवने जैसा आत्मा बतलाया है, उसकी प्राप्ति तो इनसे नहीं होगी । धर्मके नाम पर यह शुभ रागका ही रस है । परन्तु ऐसे रागके रस द्वारा वीतराग स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती । ७३



श्रुतकी जो वाणी है - वह अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं आता, इसलिए भगवान आत्मा और द्रव्यश्रुत भिन्न हैं, यानी कि द्रव्यश्रुतसे आत्माको ज्ञान नहीं होता ।

द्रव्यश्रुतका ज्ञान भी यथार्थतया अचेतन है, क्योंकि वह परलक्षी ज्ञान है, स्वलक्षी ज्ञान नहीं । द्रव्यश्रुत जड़ वाणी है - आत्मा नहीं और उसे ग्रहण करनेसे जो ज्ञान होता है, वह परलक्षी होनेसे ज्ञान ही नहीं है । स्वभावका स्पर्श किया हुआ ज्ञान ही ज्ञान है । द्रव्यश्रुत तो जड़ है, पर उसके निमित्तसे जो ज्ञान होता है वह परसत्तावलम्बी ज्ञान होनेसे, ज्ञान ही नहीं है । द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे आत्मा भिन्न है । ७४



ज्ञान और आत्मा - ऐसी दो ध्वनियाँ उठती हैं इसलिये ज्ञान और आत्मा भिन्न होंगे, ऐसी शंका न करें । यहाँ गुणको ही गुणी कहना है । ज्ञान - वही आत्मा है । नाम भिन्न हैं, इसलिये भाव और भाववान अर्थात् ज्ञान और भगवान दोनों अलग-अलग हैं ऐसी रंचमात्र भी शंका न करें । नाम भले ही भिन्न पड़े हों, परन्तु भाव भिन्न नहीं हैं । ७५



चारित्र सो धर्म और उसका मूल सम्यग्दर्शन तथा उसका फल केवलज्ञान, दूसरी ओर कहते हैं कि तुम भगवान स्वरूप हो, परन्तु इसे भूल जाना ही भ्रमणा है और भ्रमणा पुण्य-पापरूपी अधर्मका मूल है, व उसका फल संसार है । ७६



जिसे सुखी होना है उसे कहते हैं कि जो शुद्ध चैतन्य वस्तु है वह सर्वांग ज्ञानसे भरी हुई है, उस ओर सन्मुख होना ही सुखी होनेका मार्ग है - वही धर्म है । सर्वांगज्ञानसे परिपूर्ण चैतन्यवस्तुमें स्थिर होते शुद्धता होती है , और अशुद्धताका नाश होता है - इसका नाम स्वयंका हित अर्थात् कल्याण है । ७७



अरे ! अनादिसे तुझे विज्ञानधन आत्माकी महिमा प्रतीत नहीं हुयी । अनादिसे बाह्य

वस्तुओंमें आश्चर्य लगनेके कारण परमें स्वयंके ज्ञानस्वरूपसे कुछ अधिक विशेषता और विस्मयता भासित होनेसे, वहाँसे नहीं खिसकता । भगवान आत्मा सर्वांगज्ञानसे भरा हुआ है, अर्थात् इसके असंख्य प्रदेशोंमें ज्ञान ही व्याप्त है । उसकी अद्भूतताका अवलोकन करनेका एक बार प्रयत्न तो कर । ७८



ज्ञानके क्षयोपशमका महत्व नहीं, परन्तु अनुभूतिका महत्व है । इसलिए (कहते हैं कि आत्माका अनुलक्षण कर आत्माके स्वादका अनुभव होना - वही अनुभूति है) और बारह अंगमें भी अनुभूतिका ही वर्णन किया गया है, अनुभूति करनेके लिये कहा है । अनाकुल ज्ञान और अनाकुल आनन्दका अनुभव करना ऐसा बारह अंगमें कहा है । शुद्ध आत्माकी दृष्टि कर स्थिरता करनी- ऐसा उसमें कहा है । बारह अंगसे विशेष श्रुतज्ञान नहीं होता, उसमें चारों ही अनुयोगोंका ज्ञान आता है - ऐसे उत्कृष्ट बारह अंगका ज्ञान भी मोक्षमार्ग नहीं है । बारह अंगके ज्ञाताको सम्यग्दर्शन होता ही है - सम्यग्दर्शन बिना बारह अंगका ज्ञान होता ही नहीं, पर ऐसा क्षयोपशम ज्ञान भी मोक्षमार्ग नहीं, लकिन अनुभूति ही मोक्षमार्ग है । इतना अधिक (क्षयोपशम) ज्ञान हुआ, इसलिये मोक्षमार्ग बढ़ गया - ऐसा नहीं है । ७९



प्रश्न :-व्यक्त पर्याय ख्यालमें आती है, परन्तु अव्यक्त द्रव्य किस प्रकार ख्यालमें आए ?

उत्तर :- प्रथम शास्त्र आदिसे समझ लेना चाहिए । रागकी पर्याय व्यक्त है, उसे तो ख्यालमें लेता है परन्तु उसके पीछे अव्यक्त भगवान पड़ा है, उसे लक्ष्यमें लेना चाहिए । व्यक्त पर्यायका अस्तित्व तो एक समयका है । उसके पीछे अव्यक्त भगवान है जिसका त्रिकाल टिकनेवाला महान अस्तित्व विद्यमान है, उसे लक्ष्यमें लेकर उसके संस्कारोंको सर्वप्रथम दृढ़ करना चाहिए, भले ही अन्य लाखों बांते आये । अनेक प्रकारके क्रियाकांड-शुभराग हों, पर उनमें लक्ष जानेसे लाभ नहीं, हानि है । स्वके आश्रयसे ही लाभ होता है । प्रथम ऐसे दृढ़ संस्कार डाले, तो पीछे अव्यक्त भगवान अनुभवमें आता है । ८०



सम्यग्दृष्टिने शुद्ध स्वरूपका अनुभव किया उसके पश्चात् (उसे ऐसी भावना रहती है कि) वह एक क्षणके लिए भी छोड़ने योग्य नहीं। परमात्माके पहलूमें आनेके बाद एक क्षण भी परमात्माका पहलू छोड़ने योग्य नहीं और पुण्य-पापके पहलूमें जाना योग्य नहीं। एक क्षण भी शुद्धात्माको विस्मृत करना योग्य नहीं। राग-क्रिया कभी भी ग्रहण करने लायक नहीं, और शुद्धात्मा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं। अरे ! जिसे रागका रंग चढ़ गया है, उसे परमात्माका रंग कैसे चढ़े ? और जिसे परमात्माका रंग चढ़ा है, उसे रागका रंग कैसे चढ़े ? अभी सम्यग्दृष्टिको राग होता तो है, परन्तु रागका रंग नहीं चढ़ता और शुद्धात्माका रंग एक समय मात्र भी नहीं उतरता। सम्यग्दृष्टिको अतीन्द्रिय सुखका अनुभव धारा-प्रवाहरूपसे होता रहता है - यही इसकी महत्ता है। ८१



प्रश्न :- स्थूलबुद्धि हो तो राग और आत्मामे भेगज्ञान कैसे कर सके ?

उत्तर :- आत्माकी बुद्धि स्थूल नहीं है। आत्माके प्रति रस और रुचि हो तो बुद्धि (इस विषयमें) काम करे। संसारकार्यमें रस है तो वहां बुद्धि स्थूल नहीं रहती। सभी पहलूओंका विवेक करके जैसे लाभ हो वैसे करता है। जिस ओर रुचि हो उसी ओर वीर्य कार्य करे, बुद्धि कार्य करे। यदि आत्माके प्रति रस जगे, रुचि जगे तो वीर्य भी कार्य करता है, बुद्धि भी कार्य करती है तथा भेदज्ञानको प्राप्त होती है। आत्मानुभूतिके लिए आत्माके प्रति यथार्थ रुचिकी आवश्यकता है। ८२



प्रश्न :- अंतरमार्ग बहुत कठिन लगता है ?

उत्तर :- अन्तरमार्ग कठिन नहीं है - सहज है, आसान है, सरल है, कठिन तो वह है जो हो न सके। लाखों प्रयत्न करने पर भी परमाणु आत्माका नहीं होता, इसकारण यह कार्य कठिन कहलाता है, परन्तु आत्ममार्ग तो अन्तरप्रयत्नसे प्राप्त होता है। इसलिए जिससे जो हो सके वह उसका सरल एवं सहज कार्य है, केवल अनभ्याससे कठिन लगता है। ८३



प्रश्न :- स्वरूपका अनुभव तो हुआ नहीं और शुभको हेय जाने तो क्या स्वच्छन्दी न हो जायेगा ?

उत्तर :- शुभरागको हेय जाननेसे शुभराग नहीं छूटता है । स्वभानका माहात्म्य भासित होने पर शुभरागका माहात्म्य छूट जाता है, परन्तु शुभराग नहीं छूटता । शुभराग तो भूमिका अनुसार, अपने कालक्रममें हुए बिना नहीं रहेंगे । वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा यथार्थ ज्ञान करनेसे स्वच्छन्दता नहीं हो सकती । ८४



जैसे पुत्रमें पिताका प्रतिभास आता है , वैसे ही मोक्षमागी<sup>१</sup> मुनियोंमें वीतरागी जिनभगवानका प्रतिभास - वीतरागताका प्रतिभास झलकता है, मात्र शान्त...शान्त...वीतराग...अकषाय भाव ही (तैरता) है । "बहनश्रीके वचनामृत" पढ़े, तो हृदयमें सत्यकी गहरी चोट लगे ऐसी बातें हैं । यह पक्षपातकी बात नहीं है - वस्तुस्थितिकी बात है । ८५



प्रश्न :- यह सत्य बात सुनने पर भी अभी धर्म प्राप्त न हो तो ?

उत्तर :- सत्यका श्रवण आदि रसपूर्वक करे तो उसके संस्कार पड़ते हैं । ऐसे संस्कारोंसे धर्म प्राप्त होता है । अभी भले ही विकल्प न टूटे पर इसके संस्कारोंसे कालान्तरमें विकास कर, धर्म प्राप्त करते हैं । ८६



मरणका समय कोई पूछ कर नहीं आएगा कि लो, अब तुम्हारे मरनेका काल आया है । अरे ! स्वप्न जैसा संसार है । किसका कुटुम्ब और किसकी मकान-मिलिकियत ! देखते-देखते ही क्षणमात्रमें देह छूट जायगी । कुटुम्ब, कीर्ति और मकान सब यहीं धरे रह जायेंगे । अन्तरसे भगवानको पृथक किया होगा, तो मरण समय यह पृथक रहेगा । जो देहसे भिन्नता न की होगी तो मरण समय भयाकुलताकी चक्कीमें पिस जायेगा, अतः अवसर है तो देहसे भिन्नता कर लेना ही योग्य है । ८७



सम्यग्दृष्टिको राग या दुःख नहीं - ऐसा तो दृष्टिकी प्रधानतासे कहा है । परन्तु पर्यायमें जितना आनन्द है, उसे भी ज्ञान जानता है, और जितना राग है उतना दुःख भी साधकको है - ज्ञान वह भी जानता है । पर्यायमें राग है, दुःख है उसे जो नहीं जानता उसके तो धारणा - ज्ञानमें भी भूल है । सम्यग्दृष्टिको दृष्टिका बल बतलानेके लिए कहा



है कि उसे आस्रव नहीं, परन्तु जो आस्रव सर्वथा न हो तो मुक्ति होनी चाहिए । ८८  
 राग तो चुड़ैल और डाकिनीके समान है; रागसे प्रेम करनेसे यह तुझे खा जायेगा -  
 निगल जायेगा । पापरुपी रागकी तो क्या बात, परन्तु जिन्होंने शुभराग, हजारों रानियाँ  
 छोड़कर, राजपाट छोड़कर, पंचमहाव्रतके शुभरागसे प्रेम किया है - वे आनन्दस्वरूप  
 आत्माको घायल करते हैं, उसकी हत्या करते हैं । वीतरागभाव धर्म है, किन्तु जो  
 रागभावसे धर्म मनवाते हैं वे वीतरागके शत्रु हैं , पापी ओर मिथ्यादृष्टि हैं । ८९



जैसे मुसाफिर एक गाँवसे दूसरे गाँव जाता है तो पाथेय साथ लेकर जाता है, तो  
 दूसरे भवमें जानेके लिये भी कुछ कलेवा चाहिए या नहीं ? श्रद्धाज्ञानरूपी पाथेय साथ  
 लेकर जाना चाहिए । पत्नीकी ओर देखे तो पाप, पुत्रकी ओर देखे तो पाप, लक्ष्मीकी ओर  
 देखे तो पाप, पर ओर देखते सभी पाप ...पाप और पाप है । अरे ! तुझे कहाँ जाना है ?  
 राग और मैं एक हूँ ...क्या ऐसा मिथ्यात्वका कलेवा साथ लेकर जाना है ? मैं रागसे भिन्न  
 ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ ...ऐसा कलेवा साथ ले जाए तो धर्ममार्गमें बढ़नेमें यह काम आएगा ।  
 अन्तरके असंख्य प्रदेशोंमें गहरे, अति गहरे ध्रुव तलको थाह लेना है । (पर्यायको ले जाना  
 है ।) यह तो धीरोंका-वीरोंका काम है । ९०



प्रश्न :- ज्ञानका स्वभाव जानना ही है तो स्वयं स्वयंको कैसे नहीं जानता ?

उत्तर :- इसका स्वभाव स्वयंको जाननेका है, परन्तु अज्ञानीकी दृष्टि परसन्मुख है,  
 इसलिये स्वयंको नहीं जानता । परमें कहीं न कहीं अधिकता रहती ही है, इसलिये  
 अन्यको अधिक माननेसे स्वयंको नहीं जानता । इसका अधिकताका बल परमें जाता है,  
 जिससे स्वयं जाननेमें नही आता । ९१



शरीर-धन-मकान आदि अनुकूलता देखकर तुझे विस्मय और कौतूहल होता है,  
 किन्तु भगवान आत्मा तो महिमावन्त पदार्थ है, अजायबघर है, उसके प्रति कौतूहल तो  
 कर ! भगवान सर्वज्ञदेवने जिनके इतने-इतने बखान किये और महिमा गायी है, ऐसा  
 आत्मा कैसा है उसे देखनेका कौतूहल तो कर ! एक बार विस्मयता तो कर कि तूँ  
 कितना विराट, कितना महान पदार्थ है ! उसे देखनेका, अनुभव करनेका कौतूहल तो

करे ! नरकके नारकी घोर यातनामें पड़े रहने पर भी ऐसे महान आत्माके प्रति कौतूहलता कर आत्मानुभव कर लेते हैं, तो तूँ ऐसे अनुकूल योगमें एक बार कौतूहल तो कर । ९२



जिसे पर्यायकी स्वतंत्रता हृदयंगम नहीं होती उसे द्रव्य-गुण कि जो अव्यक्त स्वभाव-शक्ति है, उसकी स्वतंत्रताकी तो श्रद्धा हो ही नहीं सकती । वर्तमान अंश स्वतंत्र है - यह जिसको स्वीकृत हो, उसे ही द्रव्यकी स्वतंत्रताकी श्रद्धा हो सकती है । ९३



तेरे स्वभाव-सागरका अविनय न हो, और आराधना हो, उसकी यह बात है । आत्मामें एक एक गुणकी अनन्त शक्ति शुद्ध है । जो परिणति ऐसे अनन्त-अनन्त गुणोंकी शुद्धताका आश्रय लेती है , उस परिणतिको शुद्धत्व परिणमन कहते हैं, उसे ही आत्माकी आराधना कहते हैं । ९४



जिन्हें आत्माको समझनेके लिये अन्तरमें सच्ची धून और छटपटी लगे, उन्हें अन्तर मार्ग समझमें आए बिना रह ही नहीं सकता । वे स्वयंकी धूनके जोरसे अन्तरमें मार्ग बनाकर आत्मस्वरूपको प्राप्त कर ही लेते हैं । ९५



व्रत-तप-जपसे आत्म-प्राप्ति होगी - यह जिस प्रकार शल्य है उसी प्रकार शास्त्राभ्यासे आत्मा प्राप्त होनेकी मान्यता भी शल्य है । आत्मवस्तुकी ओर दृष्टि करते ही आत्म-प्राप्ति होती है । ९६



अनन्त प्रतिकूल द्रव्य आ पड़े तो भी आत्मा हिलाये न हिले । तीव्रसे तीव्र अप्रशस्त अशुभ परिणाम हो, उनसे भी ध्रुव आत्मा हिलाये न हिले , और एक समयकी पर्यायसे भी आत्मा हिलाये न हिले - ऐसा अगाध सामर्थ्यवान ध्रुव आत्मा है , उसे लक्ष्यमें लेनेसे भव-भ्रमण छूटे - ऐसा है। ९७



मुझे बाहरका कुछ चाहिए -ऐसा मानने वाला भिखारी है । मुझे मेरा आत्मा ही

चाहिए - ऐसा मानने वाला बादशाह है । आत्मा अचिंत्य-शक्तियोंका स्वामी है, जिस क्षण जगे उस क्षण ही वह जाग्रत-ज्योति-आनन्द स्वरूप अनुभवगम्य हो जाता है । ९८



तूँ पहले चारित्र-दोष टालनेका प्रयत्न करता है । पर उसके पूर्व दर्शनशुद्धिका प्रयत्न कर । दृष्टिमें विकल्पका त्याग तो करता नहीं और बाह्य त्याग कर बैठता है - यह तो मिथ्यात्व के ही पोषणका कारण है । ९९



गाय-भेंस आदि पशुओंके कण्डे मिलते ही गरीब स्त्रियां बहुत खुश हो जाती हैं और धन-वैभव मिलने पर सेठ लोग बाग बाग हो जाते हैं। परन्तु कण्डे ओर धनादिमें कोई अन्तर नहीं। एक बार आत्माके वैभवका दर्शन करे, तो बाह्य वैभवोंकी निर्मूल्यता भासित होजाए । १००



देव-गुरु-शास्त्र ऐसा कहते हैं कि भाई तुझे तेरी महिमा भासित होतो उसमें, हमारी महिमा तो हो ही जाती है। तुझे तेरी महिमा तो भासित होती नहीं, तो तुझे हमारी भी यथार्थ महिमा भासित नहीं हुई - तूँने हमें पहचाना ही नहीं। १०१



सर्पके बच्चेको अपनी माँका ज्ञान है, जिससे वह सर्पसे नहीं डरता । सिंहके बच्चेको अपनी माँका ज्ञान है, जिससे वह उससे नहीं डरता । इसी प्रकार ज्ञान तो उसे कहें कि जिससे निडरता और निर्भयता आए, वह कब आए - कि जब शुद्धात्माका यथार्थ ज्ञान हो, तब । १०२



जीव-दया पलनेके भावको लोग जैन-संस्कार मानते हैं, परन्तु वह सच्चा जैन-संस्कार नहीं है । सच्चा जैन-संस्कार तो राग से भिन्न चैतनयको मानना है - यही वास्तविक जैन-संस्कार कहलाता है ।

“जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म,

इन्ही वचनसे समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म ” । १०३



बारह अंगके ज्ञानको भी स्थूल ज्ञान कहा है । जो बारह अंगका ज्ञान लिखे लिखा नहीं जाता, पढ़े पढ़ा नहीं जाता, सुनकर भी कहा नहीं जा सकता, फिर भी उस ज्ञानको स्थूल कहा है । जो ज्ञान रागसे भिन्न होकर पर्यायको भगवान बनाता है, उस ज्ञानको भगवती-प्रज्ञा कहते हैं, सम्यग्ज्ञान कहते हैं - इस भगवती-प्रज्ञा द्वारा ही भवका अन्त आता है । १०४



अन्यायसे उपार्जित लक्ष्मी - बलात्कारसे लायी हुई स्त्रीके समान लम्बे समय तक नहीं टिकती । जैसे पतिके गुण-प्रेमसे आकर्षित स्त्री सदा साथ रहती है, वैसे ही न्यायसे उपार्जित लक्ष्मी अधिक समय तक टिकती है । नीति तो वस्त्र-समान है और धर्म आभूषणोंके समान है । जैसे वस्त्र बिना आभूषण शोभित नहीं होते, वैसे नीति बिना धर्म शोभायमान नहीं होता । १०५



वीर्यका स्फुरण - जितना दोषकी ओर जाता है उतना बालवीर्य है और वीर्यका जितना ढलन गुणकी ओर जाए -उतना पंडितवीर्य है । १०६



भद्रता हो यह है कि स्वयंके अल्प दोष भी कोई बतलाए अथवा स्वयं देखे तो तुरन्त ही स्वीकार करे ; अन्यके अल्प गुणका भी बहुमान करे । स्वयंकी महत्ता बढानेके लिए, अन्यकी हीनता करनेमें जिस प्रकारके विचार-वाणी और वर्तन होते हैं - वह भद्रता नहीं, परन्तु वक्रता कहलाती है । स्वयंकी जो सीमा है उस सीमासे उपरान्त स्वयंकी महत्ता बतलानेका जो वर्तन होता है - वह वक्रता है । १०७



स्वयंमें जो गुण न हों व अन्य कोई उस गुणको बतलाए या कहे कि तुम ऐसे गुणी हो, तब ज्ञानीको ऐसा लगता है कि मुझमें यह गुण नहीं है और यह मुझमें ऐसा गुण बतलाता है तो वह मुझ पर आरोप करता है । पर अज्ञानीकी, स्वयंमें गुण न होने पर भी, ऐसी भावना रहा करती है कि मुझे कोई गुणी माने तो अच्छा - यह उसका अज्ञान है ।



एक अवगुण टले तो उसके प्रतिपक्षमें गुण प्रकट होना ही चाहिए । गुण प्रकट हो तभी अवगुण टला हुआ कहलाए । १०९



आकुलतावाले-सुखसे भी शरीरकी व्याधि भूल जाते हैं , तो अनाकुल-सुखसे जगत कैसे न भूला जाए ? अर्थात् आत्माके स्वाभाविक सुख द्वारा संसारके चाहे जैसे घोर दुःख भी भूले जाते हैं । ११०



जगतका प्रेम घटाये बिना परमेष्ठीके हृदयमें क्या है, उनके कलेजेमें क्या है ? यह समझमें नहीं आता । अतः परमेष्ठीके स्वरूपके ज्ञानके लिए जगत-प्रतिका प्रेम घटाना चाहिए । १११



प्रश्न :- ज्ञान, ज्ञान को तो करे न ?

उत्तर :- मात्र ज्ञानको ही नहीं पकड़ना वरन् अखंड आत्माका अनुभव करना - यह ज्ञान प्रधान कथन है, परन्तु ज्ञान सहित सभी शक्तियोंके निर्मल परिणाम द्वारा आत्मा परिणामित होती है । ११२



प्रभु तो चैतन्यधन है - जिसमें मोक्ष व मोक्षमार्गका करना नहीं है , बन्ध व बन्धके कारणका करना नहीं है । सम्यग्दर्शनका विषय ध्रुव भगवान बन्ध-मोक्षके कारण व बन्ध-मोक्षके परिणामसे शुन्य है । त्रिकाली ध्रुव तो सम्यग्दर्शनके परिणामसे भी शुन्य है । उत्पाद-व्यय तो परिणाम हैं, उन्हें ध्रुव स्पर्श ही नहीं करता - तो करे कैसे ? ११३



जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह भावनारूप नहीं और वर्तमान पर्यायरूप भी नहीं है । मोक्षके कारणरूप जो अबन्ध परिणाम हैं वे भावनारूप हैं , और त्रिकाली शुद्ध पारिणामिक तो भावनारूप नहीं है - यह तो भाव है । राग तो कहीं दूर रह गया, पर मोक्षका मार्ग भी भावनारूप होनेसे शुद्ध पारिणामिकभावसे भिन्न है । ११४



मिथ्यात्वभाव है सो विकारीभाव है, वह भी अपने स्वयंके ष्टकारकों द्वारा होता है,

उसे कर्म अथवा निमित्तकी अपेक्षा नहीं । जब विकारकी पर्याय आत्माका स्वभाव ही नहीं है और आत्मामे कोई ऐसी शक्ति भी नहीं है जो विकारके करे, तथापि विकार स्वतंत्ररूपसे स्वयंके एक समयके षट्कारसे होता है । तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय मोक्षमार्गरूप जो निर्मल पर्याय है वह तो स्वयंके एक समयके षट्कारके परिणामित होकर उत्पन्न होगी ही । जब निश्चय मोक्षमार्गको त्रिकाली शुद्ध द्रव्यकी भी अपेक्षा नहीं, तो व्यवहार रत्नत्रयके रागसे उत्पन्न हो - ऐसा कैसे संभव हो सकता है ?

११५



शुद्धपरिणामिक भावरूप त्रिकाली सहजानन्द प्रभुका अवलंबन लेनेवाली (त्रिकाली निजानन्द प्रभु तो भाव है और उसके लक्ष्यसे-उसके अवलंबनसे जो निश्चय मोक्षमार्ग प्रकट होता है वह ) भावना है । ऐसी उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक भावरूप भावना समस्त रागादिसे रहित है । उपशमादिभाव समस्त रागादिसे रहित हैं , अर्थात् रागका कोई भी अंश मोक्षमार्ग नहीं हो सकता । जिस भावसे तीर्थकर नामकर्म बंधता है - वह भाव भी मोक्षका मार्ग नहीं है, वरन् उदयभाव होनेसे बन्धभाव है और ये जो उपशमादि भाव हैं - वे समस्त रागादि रहित होनेसे मोक्षमार्ग हैं , मोक्षके कारण हैं । ११६



जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो त्रिकाल स्वभावभाव है । वह मोक्ष करना है या मोक्ष हुआ है, ऐसा नहीं , परन्तु इस शक्तिरूप मोक्षका आश्रय लेकर जो पर्याय होती है , वह व्यक्तिरूप मोक्ष है । वह व्यक्तिरूप मोक्ष - मोक्षमार्गकी प्रयायसे प्राप्त होता है, परन्तु द्रव्यसे प्राप्त नहीं होता । पर्याय ही मोक्ष प्रकट करती है, त्रिकाली ध्रुवद्रव्य मोक्षको प्रकट नहीं करता, न ही जड़कर्म मोक्षको प्रकट करता है । इसे भी सच में तो शुद्धउपादान-कारणभूत होनेसे मोक्षका कारण कहा है, परन्तु यह भी एक अपेक्षासे ही है । वास्तवमें तो मोक्षमार्गका व्यय होने पर ही मोक्षकी पर्याय होती है । ११७



अनन्तशक्तिका सम्राट ऐसा जो भगवान आत्मा वह सम्यग्दर्शनका ध्येय है, परन्तु सम्यग्दर्शनरूप ध्यान उसमें नहीं है । सम्यग्दर्शन ध्यान है और त्रिकाली वस्तु ध्येय है । ऐसे ही स्वसंवेदनज्ञान- शास्त्रज्ञान नहीं , परलक्षी ज्ञान नहीं, - ध्यानरूप है और

निजानन्द प्रभु ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं, क्योंकि ध्यान बिनश्वर है । निश्चय मोक्षमार्ग तो पर्याय है और मोक्ष होते ही मोक्षमार्गकी पर्यायका नाश हो जाता है...व्यय हो जाता है । शुद्ध पारिणामिकभाव तो अविनाशी है, किसी परिणमनका होना , न होना उसमें नहीं है ।

११८



सम्यग्दर्शनमें क्षयोपशमज्ञान है, वह कैसा है ?...कि निर्विकार, स्वसंवेदन लक्षण वाला है -ऐसा कहकर कहते हैं कि शास्त्रज्ञान कार्य नहीं करता, परन्तु निर्विकारी स्व-संवेदनज्ञान ही कार्य करता है, उसे यहाँ क्षयोपशमज्ञान कहा है । सम्यग्दर्शन होने पर जो ज्ञान है - वह क्षयोपशमज्ञान है, भले ही क्षायिक सम्यग्दर्शन हो, परन्तु ज्ञान तो क्षयोपशमज्ञान है । ११९



निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प समाधि है । उससे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव जिसका लक्षण है , ऐसा स्व-संवेदनज्ञान ही ज्ञान है । शास्त्राध्ययन ज्ञान नहीं, परन्तु निर्विकल्प स्वसंवेदन ही ज्ञान है । सुखानुभूति-मात्रलक्षणरूप स्व-संवेदनज्ञानसे ही आत्मा जानने योग्य है, वह अन्यथा जाननेमें आवे - ऐसा नहीं है । निर्विकारी - स्वसंवेदनज्ञानसे तो जाना जाता है परन्तु भगवानकी वाणीसे जाननेमें नहीं आता, भगवानकी भक्तिसे जाना जाए - ऐसा भी नहीं है । आनन्दकी अनुभूतीरूप स्व-संवेदन ज्ञानसे जाननेमें आए - ऐसा मैं हूँ और समस्त आत्मायें भी अपने स्वसंवेदनज्ञानसे ही जाननेमें आए ऐसी हैं । १२०



निर्विकारी आनन्द सहित जो ज्ञान होता है उसे सम्यग्दृष्टिको क्षयोपशम ज्ञान कहते हैं । सम्यग्दर्शन एवम् आत्म-अनुभवकी स्थितिरूप पर्यायमें सम्पूर्ण आत्मा नहीं आता, परन्तु समस्त शक्तियाँ उस पर्यायमें एकदेश प्रकट होती है । तेरा आत्मा तुझे किस प्रकार जाननेमें आये ? कि आनन्दकी अनुभूति सहित स्वसंवेदन ज्ञानसे आत्मा जाननेमें आए - ऐसा है, जब अनन्त शक्तियाँ पर्यायमें एक अंश प्रकट होती हैं, तब आत्मा जाना जाता है । १२१



आत्माको जाननेवाला ध्यातापुरुष-धर्मीजीव, जिसको स्वसंवेदन आनन्दानुभूति सहितका एक अंश ज्ञान प्रकट हुआ है - ऐसा ध्यानी-ज्ञानी - उस प्रकट दशाका ध्यान नहीं करता। अनुभवकी जो पर्याय है वह एकदेश प्रकट पर्यायरूप है, फिर भी ध्याता पुरुष - ध्येयका ध्यान करनेवाला पुरुष उस प्रकट पर्यायका ध्यान नहीं करता।

धर्मी किसका ध्यान करता है ? धर्मी जीवको सम्यग्दर्शनकी पर्याय प्रकट होने पर भी वह उसका ध्यान नहीं करता, तो किसका ध्यान करता है ? -कि एक समयकी पर्यायके पीछे विराजमान - सकल निरावरण, अखंड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध, पारिणामिकभावलक्षण निज परमात्मद्रव्यका ध्यान करता है।

सम्यग्दृष्टिका ध्येय क्या ? सम्यग्दृष्टि धर्मीका विषय क्या ? - कि त्रिकाली आत्मा, सकल निरावरण एक अखंड वस्तु ही इनका विषय है। १२२



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होते ही सब कुछ व्यवस्थित है ?

उत्तर :- सब सहज ही व्यवस्थित है, पर सम्यग्दर्शन होने पर उसे निर्णय हो जाता है कि सब कुछ व्यवस्थित ही है। १२३



भावशक्तिके कारण प्रत्येक गुणकी पर्याय भवनरूप होगी ही, पर्याय होती ही है, होती है -उसे करना क्या ? सचमुच तो द्रव्यके उपर दृष्टि गई, द्रव्यको अपनाया कि बस पर्याय प्राप्त हुई और वही उसके प्राप्त होनेका काल था। वह पर्यायका स्वकाल था, उसका भी वह कर्ता नहीं, क्योंकि भावशक्तिके कारण भवन तो है ही। जो है उसको करना क्या ? १२४



जिस समय जिस प्रकारकी जो पर्याय जहाँ होती है उसकी केवलज्ञानमें नोंध है। केवलज्ञानकी एक समयकी पर्याय तीन लोक और तीन कालकी पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानती है। जो पर्याय हुई ही नहीं, उसे भी भविष्यममें जिस रूप होगी उसे भी उस रूप वर्तमानमें प्रत्यक्ष जानती है। निगोदका जीव किस समय सिद्ध होनेवाला है वह केवली वर्तमानमें प्रत्यक्ष जानते हैं। जिसको केवलज्ञानका ऐसा निर्णय होता है, उसकी दृष्टि पर्यायसे खिसककर द्रव्यमें चली जाती है और भगवानने उसके भव देखे ही नहीं। जिसको



केवलज्ञानके अस्तित्वकी स्वीकृति होती है, उसे ज्ञानस्वभावका निर्णय हुए बिना नहीं रहता । अनादि अनन्त जिस समय जो पर्याय होनी है, वह तब ही होगी । अनन्त पर्यायोंका (निश्चत) समय - ऐसा स्वकाल आगे-पीछे नहीं होता, क्रमानुसार ही होता है ।

१२५



क्रमबद्ध सिद्ध करनेका हेतु अकर्तृत्व बतलाना है । एक तत्त्वके परिणामको दूसरा तत्त्व करें, ऐसा तीन कालमें भी नहीं हो सकता । जिस समय जिस द्रव्यकी जो क्रमबद्ध पर्याय होती है उसका कर्ता अन्य द्रव्य नहीं है, ऐसा बतलाकर यह सिद्ध करना है कि जीव रागका कर्ता नहीं, जीव तो ज्ञान-श्रद्धा-आनन्दरूप कार्य ही करता है । १२६



जीव ज्ञान और आनन्दरूप परिणमित होता हुआ रागके परिणामका कारण नहीं है । भगवान् चैतन्य-प्रकाश स्वरूप अतीन्द्रिय-आनन्दके स्वभावसे परिपूर्ण है । जिसने उसे दृष्टिमें लिया है, ऐसा जीव ज्ञाता-दृष्टाके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ, रागके कार्यका कर्ता नहीं है । जो जीव अनुभवके कार्यरूप उत्पन्न हुआ, वह रागके कार्यरूप उत्पन्न हो-ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि उसकी विकाररूप परिणमित होनेकी कोई शक्ति ही नहीं है । जीव स्वयं कर्ता अर्थात् कारण और वीतरागी पर्याय उसका कार्य - ऐसा होने पर जीव न तो रागरूपी कार्यका कारण है और न ही परद्रव्यके कार्यका कारण । १२७



निरंतर कल्याणमय - ऐसे परमात्मतत्त्वमें देह-मन-वाणी अदि उदय भाव हैं ही नहीं । राग तो है ही नहीं, परंतु शुद्धनय, तो उसमें ध्यानावली होनेका भी निषेध करता है । आ हा हा ! परमात्मतत्त्व तो सदा शुद्ध ही है । पर्यायमें चाहे ध्यानकी जमावट जमी हो -आनन्दकी परिणति जमी हो, परन्तु शुद्धनय तो ऐसी पर्यायका अस्तित्व भी परमात्मतत्त्वमें स्वीकार नहीं करता । अहा हा ! स्वयंको पामर...पामर...पामर मान लिया है, पर स्वयं सदा ही परमात्मा है, ऐसा इसको विश्वास ही नहीं होता । इसने स्वयंको साधारण प्राणी मान लिया है । १२८



अरे भाई ! तेरे जैसा कोई धनाढ्य नहीं । तुम्हारे अन्तरमें परमात्मा विराजते हैं,

इससे अधिक धनाढ्यपन अन्य क्या हो सकता है ? ऐसे अपने परमात्मस्वरूपकी बात सुनते ही तुझे अन्तरसे उल्लास, उछलना चाहिए, इसकी लगन लगनी चाहिए, इसके पीछे पागल हो जाना चाहिए - ऐसे परमात्मस्वरूपकी धून लगनी चाहिए । सच्ची धून लगे तो, जो अन्तर स्वरूप है वह प्रगट हुए बिना कैसे रहे ? अवश्य ही प्रगट हो । १२९



एक समयकी वर्तमान हलचलवाली परिणमनशील पर्यायके पीछे प्रभु स्वयं विराजमान है, परन्तु पुण्य-पापको देखनेके चक्करमें उसके पीछे विराजमान भगवानको तू नहीं देखता । १३०



ज्ञानदशामें अनुभूति-स्वरूप भगवान जाननेमें आने पर भी तू उसे क्यों नहीं जानता । अरेरे!! ज्ञानदशामे भगवान जाननेमें आने पर भी तू अनादिसे विकल्पाधीन होनेसे भगवानको नहीं जानता । ज्ञानरूपी दर्पणकी स्वच्छतामें भगवान आत्मा बिंबित होने पर भी स्वयंको कैसे खबर नहीं होती ?- कि रागके विकल्पवश होनेसे उसकी नजरमें राग ही आते हैं, जिससे भगवान अनुभूत होते हुए भी जाननेमें नहीं आता । अज्ञानी अनादिसे दया-दान आदि विकल्पोंका गुलाम होनेसे ज्ञानकी वर्तमान दशामें अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा अनुभूत होने पर भी उसे जाननेमें नहीं आता । १३१



अनादिसे जो मोहसेना है, उसे किस रीतिसे जीते ? उसको जीतनेका उपाय क्या ? ...यह उपाय आचार्य महाराज यहाँ बतलाते हैं - जिन्होंने तीन काल और तीन लोकको एक समय मात्रमें जान लिया है सर्वप्रथम ऐसे अर्हन्तदेवके द्रव्यको, गुणको और पर्यायको यथार्थरूपसे जानना । यथार्थरूपसे अर्थात् ? -कि उन्हें जानकर स्वयं भी उन जैसा है, ऐसा मिलान करने हेतु स्वके लक्ष्यसे अर्हन्तके द्रव्य-गुण-पर्यायको जानना । १३२



दुष्कर लगे तो भी, इस बिना चतुर्गतिरूप भ्रमणचक्र न रुके । बापू ! ज्ञानकी जो वर्तमान पर्याय है, उस पर तो अनादिसे लक्ष्य है, परन्तु उसके निकट जो परमपुरुष, सर्वोत्कृष्ट प्रभु विराजते हैं , उनका लक्ष्य कभी नहीं किया । इसलिए अब इस पर्यायको वहाँ अन्तरमें ढाल, भाई! १३३



प्रथम पर्यायका लक्ष्य छूड़वाकर, पश्चात् गुण-गुणीके भेदका लक्ष्य छूड़वाया है । क्रम डालकर समझानेके सिवाय अन्य किस रीतिसे समझाये ? इसलिए कहते हैं कि पर्यायको अन्तरमुखी कर और साथमें जो गुण-गुणीके भेद हैं , उनका तिरोधान कर दे, अदृश्य कर दे, ढक दे - ऐसा कहा जाता है । वस्तु जो द्रव्य है, याने कि चेतन ऐसा द्रव्य और चैतन्य उसके गुण - ऐसे भेदको ढककर एक अभेदको लक्ष्यमें ले । यह तो तीन लोकके नाथकी दिव्यवाणी है । अनन्तकालमें जो नहीं किया उसे करनेके लिए यह है । १३४



तीनलोकके नाथस्वरूप यह आत्मवस्तु अभेद है । उसका लक्ष्य करनेसे सम्यग्दर्शन होता है । गुण- गुणीके भेदमें लक्ष्य रहनेसे विकल्प उठेंगे , राग होगा, बन्धन होगा, इसलिए गुण-गुणीके भेदको ऐसा अलोप कर दे कि मानो जानता ही नहीं और जहाँ नित्यानन्द प्रभु है वहाँ दृष्टि दे, भाई ! द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दर्शन है । परन्तु द्रव्य तथा उसके गुणोंकी दृष्टि सम्यग्दर्शन है - ऐसा नहीं कहा है । १३५



प्रथम द्रव्य-गुण-पर्यायको जानें । प्रारंभमें भेद आदिके विकल्प होते हैं, परन्तु बादमें एक सूक्ष्म विषयी पर्यायको संक्षिप्त करते हैं और गुण-गुणीके भेदको अंतरलीन कर देते हैं । संक्षिप्त करना - इसका अर्थ क्या ? - कि पर्यायका लक्ष्य छोड़कर अनन्त-अनन्त गुणोंका जो पी गया है, ऐसे द्रव्यको ध्येय बनाकर केवल आत्माको ही जाननेसे प्रतिक्षण मलिनताका नाश होता है, वीतरागता प्रकट होती है । मलिनताका क्षय होता जाता है - करना पड़ता है, ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वह प्रतिक्षण स्वतः नाशको प्राप्त होती है ।

१३६



जब तक परिपूर्ण स्वभाव पर दृष्टि नहीं होती , तब तक पर्याय पर दृष्टि होनेसे उस कालमें, अर्थात् मिथ्यात्व दशाके कालमें, जीव रागादिका कर्ता होता है । १३७



जगतमें सारभूत क्या ? - कि निजशुद्ध जीववस्तु ही सार है, वही हितकारी है और उसे जाननेसे पर्यायमें ज्ञान तथा सुख प्रकट होते हैं , क्योंकि शुद्ध जीववस्तुमें ज्ञान और

सुख है और उसीसे वह साररूप होनेसे वन्दनीय है - पूजयनीय है । १३८



जिनवर कथित व्यवहार स्वयं न तो सम्यक्त्व स्वरूप है और न ही सम्यक्त्वका कारण है । ज्ञायक भगवान स्वयं ही सम्यक्त्वका कारण है । सम्यक्त्वका कारण है । स्वके ज्ञान और स्वकी श्रद्धा बिना जिनवर कथित व्यवहारका पालन करे, तो भी वह संसार ही का कारण है । १३९



बारह-अंगका ज्ञान, पूर्वमें कभी न होने पर भी, विस्मयकारी नहीं है, परन्तु उसमें दर्शित भगवान आत्मा ही विस्मयकारी है । जिस ज्ञानमें आत्मा कारण न हो वह ज्ञान नहीं । यहाँ तो अभेददृष्टिसे आत्माहीको 'ज्ञान' बतलाया है , परन्तु ऐसा बतलाकर पुनः कहा है कि आत्मा ही ज्ञान में कारण है - हेतु है - निमित्त है। लेकिन ऐसा नहीं कहा है कि आत्मा ज्ञानकी पर्यायमें उतर आता है । आत्माका ज्ञान पर्यायमें होता है, परन्तु आत्मा पर्यायमें नहीं आता । १४०



शास्त्रका जो कुछ भी ज्ञान होता है , उसमें शब्द निमित्त है । इसलिए उस ज्ञानको शब्दश्रुत-ज्ञान कहते हैं, पर वह आत्मज्ञान नहीं है । वास्तवमें तो शब्दश्रुत-ज्ञानमें ज्ञानका जो परिणमन है वह आत्माका परिणमन ही नहीं , क्योंकि जैसे पुद्गलकी शीत-उष्ण आदि अवस्था ज्ञान करानेमें निमित्त है, परन्तु शीत-उष्णरूप परिणमित होना ज्ञानका कार्य नहीं, वह तो पुद्गलका ही कार्य है, वैसे ही नव-तत्त्वकी श्रद्धा, शास्त्र-ज्ञान और व्यवहारःचारित्र ये तीनों ही राग हैं और आत्माका रागरूप परिणमित होना असंभव है । १४१



जिस ज्ञानका आधार शब्दश्रुत है - आत्मा नहीं, वह शब्दश्रुत-ज्ञान है, उससे आत्मज्ञान नहीं होता । शब्दश्रुतको जाननेका जितना विकल्प है, वह परलक्ष्यीज्ञान है । वीतरागके शास्त्रोंका ज्ञान भी परलक्ष्यी ज्ञान होनेसे परलक्ष्यी ज्ञानका निषेध किया गया है । १४२



प्रश्न :- पर्याय द्रव्यसे (ध्रुव) भिन्न है अथवा अभिन्न ? किस प्रकार ?

उत्तर :- ध्रुव द्रव्य तो पर्यायसे भिन्न है, क्योंकि जो ध्रुव है उसमें पर्याय नहीं और पर्यायमें ध्रुव उतरता नहीं, अर्थात् ध्रुव पर्यायका स्पर्श ही नहीं करता । परन्तु परसे भिन्न करने के प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि पर्याय द्रव्यकी है, पर उसका अर्थ यह नहीं कि सामान्यरूप द्रव्य और विशेषरूप पर्याय - ऐसे भिन्न धर्म एकरूप हो जाते हैं । वस्तुतः तो दोनों धर्म एक दुसरेका स्पर्श ही नहीं करते । १४३



प्रश्न :- आगमका व्यवहार और अध्यात्मका व्यवहार - माने क्या ?

उत्तर :- स्वरूपकी दृष्टि होनेसे जो शुद्ध परिणामन होता है वह अध्यात्मका व्यवहार है और (पंच) महाव्रत, तीन गुप्ति आदि शुभराग आगमके व्यवहार हैं । १४४



प्रश्न :- किसी अपेक्षा द्रव्य परिणामी है न ?

उत्तर :- (ध्रुव) द्रव्य तो अपरिणामी है, वह तो बन्ध-मोक्षके परिणामोंको भी नहीं करता, परन्तु पर्यायदृष्टिसे कहना हो तो पर्याय ध्रुवमें से उत्पन्न होती है और ध्रुवमें ही विलीन होती है, अतः पर्याय अपेक्षासे द्रव्य परिणामन करता है । वह द्रव्यदृष्टिसे निष्क्रिय है, पर्यायदृष्टिसे सक्रिय है । १४५



प्रश्न :- परलक्ष्यी ज्ञानसे आत्मा जाना नहीं जाता और अनादि मिथ्यादृष्टिको स्वलक्ष्यीज्ञान नहीं है तो साधन क्या ?

उत्तर :- रागसे भिन्न होना - यह साधन है । प्रज्ञाछेनी साधन कहो या अनुभूतिको साधन कहो, यह एक ही साधन है । १४६



प्रश्न :- परिणामी निश्चयसे स्वयंके परिणामका कर्ता है और दूसरी ओर पूर्व पर्यायका "व्यय" कर्ता है...वह किस प्रकार ?

उत्तर :- वास्तवमें तो उत्पादकी पर्यायका कर्ता उत्पाद ही है, परन्तु अभेदको मुख्य रखते हुए उपचारसे परिणामीको कर्ता कहते हैं । लेकिन (ध्रुव) द्रव्य तो परिणामित ही नहीं होता । ध्रुव द्रव्य तो निष्क्रिय है, जो परिणामनशील है वह पर्याय है । व्ययको उत्पादका कर्ता कहना यह भी व्यवहार है । षट्कारकके परिणाम - ध्रुव और व्ययकी

अपेक्षा बिना स्वतः उत्पन्न होते हैं । १४७



जिज्ञासुको प्रथम ऐसा निर्णय होता है कि मैं निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करने योग्य हूँ । वहाँ शंकाके लिये अवकाश नहीं । आयु-बंध हो गया हो तो ! ऐसी शंकाके लिये स्थान नहीं होता । आत्माके लिये हक्ली-फुल्की बात न करना । स्वयं जो अनन्त गुणोंसे युक्त है, उसे देख, तू ही देवाधिदेव है - ऐसे देखना चाहिए । १४८



प्रश्न :- आत्मामें जो शुभाशुभ-भाव होते हैं उनका मूल उपादान कौन है ?

उत्तर :- अशुद्ध उपादानसे आत्मा स्वयं शुभाशुभ-भावमें व्याप्त होकर उन्हें करनेसे उनका कर्ता है और शुद्ध उपादानसे देखें तो पुण्य-पापभाव आत्माके स्वभाव-भाव न होनेसे तथा पुद्गलके लक्ष्यके उत्पन्न होनेसे, वे पुद्गलके कार्य हैं । पुद्गल उनमें व्यापक होकर कर्ता होता है । जब स्वभाव पर दृष्टि जाती है तब ज्ञानी योग और उपयोग (राग) का स्वामी न होनेसे उनका कर्ता नहीं होता । परन्तु ज्ञानीके ज्ञानमें राग निमित्त होता है ।

१४९



जैसे भक्ति आदि बन्धके कारण हैं वैसे ही शास्त्र-अध्ययन भी पुण्य-बन्धका कारण है और उनसे हटकर ज्ञायकका अनुभव करना ही मोक्षका कारण है । शास्त्रोंका क्या कथन है ? आचारांगादिमें क्या कहा है ? - कि आत्माका अनुभव करो । परसे, रागसे भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्माका करना-यही शास्त्र-अध्ययनका गुण है । लेकिन अभीको उसका अभाव होनेसे वह अज्ञानी है । आत्मा शुद्धज्ञानमय है जो शास्त्रज्ञानके विकल्पसे भी रहित है - जिन्हें ऐसे आत्माका ज्ञान नहीं, उन्होंने यदि शास्त्र-अध्ययन भी किया, तो उससे क्या ? १५०



शंका :- तो फिर हम शास्त्र पढ़े या नहीं ?

समाधान :- आत्मलक्ष्यसे शास्त्र पढ़ना - ऐसा "प्रवचनसार" में कहा है , क्योंकि शास्त्रोंका कहना ऐसा है कि भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत आनन्दकी मूर्ति है - उसका ज्ञान करना, अनुभव करना । करणानुयोग या चरणानुयोगके पढ़नेसे लाभ

क्या ? - कि उन चारों अनुयोगोंके पढ़नेका गुण तो आत्म-अनुभव प्राप्त करना है - यही शास्त्र पढ़नेका लाभ है अर्थात् "आत्म-अनुभव करना ही शास्त्राभ्यास का तात्पर्य है ।"

१५१



प्रश्न :- जब पर्याय द्रव्यका स्पर्श ही नहीं करती तो आनन्द किस प्रकार आए ?

उत्तर :- पर्याय द्रव्यको स्पर्श न करने पर भी सम्पूर्ण द्रव्यका ज्ञान पर्यायमें हो जाता है, फिर भी द्रव्य पर्यायमें नहीं आता। धर्मों और धर्म में दो वस्तुयें हैं। पर्याय व्यक्त है और ध्रुव वस्तु अव्यक्त है। दोनों एक द्रव्यके धर्म होने पर भी व्यक्त-अव्यक्तको नहीं छूता, परन्तु पर्यायका लक्ष्य द्रव्योन्मुख होनेसे पर्याय आनन्दरूप परिणमित होती है। १५२



प्रश्न :- हम आत्माका ध्यान तो बहुत करते हैं, फिर भी आत्माका अनुभव क्यों नहीं होता?

उत्तर :- आत्मासे सच्चा प्रेम होना चाहिए। जैसे बालकको अपनी प्रिय माँको और युवकको अपनी प्रिय पत्नीको देखते ही अन्तरमें प्रेम उमड़ता है, वैसे ही अन्तरमें आत्माके प्रति सच्चा प्रेम उमड़े तो आत्म-अनुभव हुए बिना न रहे। आत्म-अनुभव नहीं होता इसका कारण - अभी आत्माके प्रति सच्चा प्रेम जगा ही नहीं है। १५३



प्रश्न :- आचार्यदेवने सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिए छः मास तक अभ्यास करनेका निर्देश दिया है और हमको तो पच्चीस-तीस वर्षोंके अभ्यासके बावजूद भी आत्म-अनुभव नहीं होता, तो क्या कमी रह जाती है ?

उत्तर :- अन्तरकी गहराईसे रुचि और लगन होनी चाहिए, बस, इसीकी कमी रह जाती है। छः मास तक अन्तर्धून लगनी चाहिए। जो आत्माको लक्ष्य कर छः मास तक आत्मःधून लगे तो आत्म-अनुभव हुए बिना नहीं रहे। १५४



नरकके नारकीको स्वर्गके सुखकी गन्ध नहीं, स्वर्गके देवको नरकके दुःखकी गन्ध नहीं, रागमें धर्मकी गन्ध नहीं, परमाणुमें पीड़ाकी गन्ध नहीं, सूर्यमें अन्धकारकी गन्ध नहीं और सुख-स्वभावमें संसार-दुःखकी गन्ध नहीं। १५५



प्रश्न :-सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी विधि क्या है ?

उत्तर :- आत्मा परका कर्ता नहीं, रागका भी कर्ता नहीं । रागसे भिन्न ज्ञायक मूर्ति हूँ - ऐसी अन्तर-प्रतीति करना ही विधि है । अहा हा ! ऐसा समय मिला है ! यह तो आत्माको रागसे भिन्न कर लेनेका अवसर है । १५६



“जयधवल” में आता है कि खम्भेके एक भागको देखते ही पूरे खम्भेका ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार मतिज्ञान केवलज्ञानका अवयव होनेसे उस एक अंशका ज्ञान होते ही केवलज्ञानकी प्रतीति हो जाती है । १५७



प्रश्न :- जब समयगृष्टिका उपयोग परमें हो - क्या वह तब भी स्वप्रकाशक है ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टिका उपयोग परमें हो तब भी (ज्ञान) स्वप्रकाशक है । परन्तु उपयोगरूप परप्रकाशक होनेके समय उपयोगरूप स्वप्रकाशक नहीं होता और उपयोगरूप स्वप्रकाशक हो तब उपयोगरूप परप्रकाशक नहीं होता । लेकीन ज्ञानका स्वभाव तो स्व-पर-प्रकाशक ही है । १५८



प्रश्न :- चैतन्यतत्त्वमें रस लेनेसे क्या लाभ होता है ?

उत्तर :- चैतन्यतत्त्वमें रस लेनेसे आत्म-संस्कार पड़ते हैं, संस्कार दृढ़ होते हैं ।

प्रश्न :- संस्कारसे लाभ होता है ?

उत्तर :- भेदज्ञानके संस्कार दृढ़ होते-होते एकदमसे स्वानुभव हो जाता है । १५९



प्रश्न :- एकदमसे आत्मामें कैसे जाया जाए ?

उत्तर :- रागसे भिन्न पड़ते ही अकदमसे आत्मामें जाया जाता है । मैं यह नहीं , मैं यह नहीं, मैं राग भी नहीं - यह ज्ञानमूर्ति ही मैं हूँ, अन्तरमें ऐसे उतरते-उतरते आत्माको पाया जाता है । यद्यपि यह काम अति दुष्कर है- अलौकिक है फिर भी अन्तर प्रयत्नसे संभव है । १६०



प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने स्वकालमें अपने षट्कारकसे स्वतंत्र ही परिणामित होती



है -यह सूक्ष्म विषय है । जैन-दर्शन वस्तु-स्थितीका वर्णन करता है । १६१



प्रश्न :- आत्माको जाननेका प्रयत्न करने पर भी वह जाननेमें क्यों नहीं आता ?

उत्तर :- सच्चा प्रयत्न तो किया नहीं, उल्टी ही कोशिश करता है । पुण्यमें एकता करता है, रागमें एकत्व कर लाभ मानता है, व्रतादिसे लाभ मानकर अभिमान करता है । इन सभी विपरीत बुद्धिओंको छोड़कर ज्ञायक मूर्ति आत्माके सम्मुख देखे तब ही आत्मा जाननेमें आता है । १६२



श्रीमद् योगीन्द्रदेवने तो स्पष्ट कहा है कि हिंसा-झुठ-चोरी आदि तो पापभाव हैं; परन्तु दया-दान-पूजा-भक्ति आदिके शुभराग भी परमार्थ दृष्टिसे पाप हैं , क्योंकि वे भी स्वरूपसे पतित करते हैं । आहा ! पापको तो सभी पाप कहते हैं परन्तु आत्मानुभवी जीव तो पुण्यको भी पाप कहते है । यह बहुत सूक्ष्म बात है, अन्तरकी गहराईसे ही समझमें आनेवाली है । १६३



प्रश्न :- ज्ञानीको दुःखका ज्ञान होता है, या वेदन होता है ?

उत्तर :- ज्ञानीको दुःखका ज्ञान होता है और वेदन भी होता है । जैसे आनन्दका वेदन होता है , वैसे ही जितना दुःख है उतना दुःखका वेदन भी है । १६४



ज्ञाता-दृष्टा स्वभावमात्रकी दृष्टि होने पर अभेदमें नवतत्त्वरूप परिणमन नहीं है, चेतना स्वभावमात्र वस्तु में भेद तो है नहीं , अतः उन्हें झुठ कह दिया है । पर्याय-पर्याय रूपसे सत्य है लेकिन लक्ष्य करनेके उद्देश्यसे झुठी है । दया-दान आदि तो राग हैं , वे लक्ष्य करने योग्य नहीं हैं । पर संवर-निर्जरा भी लक्ष्य करने योग्य नहीं, केवल जानने योग्य हैं । १६५



जो विकल्प उठते हैं उन्हें धर्मी जानता है पर वह उन विकल्पोंको करता नहीं है । विकल्प सम्बन्धी जो ज्ञान होता है - उसका भी कर्ता विकल्प नहीं । राग होने पर भी, रागके कारण ज्ञानीको राग-सम्बन्धी ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है । राग और ज्ञानीके

ज्ञानमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, राग उस ज्ञानका कर्ता नहीं है । १६६



आनन्दसकंद प्रभुके आस्वादन बिना अशुद्धभाव नहीं छूटते और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना स्वरूपका अनुभव नहीं होता । रागसे एकताके संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता और शुद्धस्वरूपका अनुभव हुए बिना रागसे एकताके संस्कार नहीं छूटते । महिमावन्त प्रभुकी ऐसी महिमा भासित हुए बिना तुच्छता और पामरताके संस्कार नहीं छूटते और तुच्छता तथा पामरताके संस्कार छूटे बिना महिमावन्त प्रभुकी महत्ता भासित नहीं होती । अतः अशुद्धताका व्यय एवम् शुद्धताकी उत्पत्तिका एक ही काल है ।

१६७



स्वयं अन्तरमें नहीं उतर पाता, इसका कोई कारण तो होना चाहिए न ? अनन्त गुणयुक्त अपार महिमावन्त प्रभु है, उसकी अनुभूति न होनेका कोई कारण तो होगा न ? - या तो परका अभिमान या रागका अभिमान या स्वयं कहाँ अटका है उसकी अनभिज्ञता आदि कारणोंसे अन्तरमें नहीं उतर पाता । १६८



“आत्मा ज्ञानमात्र है” ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मा शरीररूप नहीं , वाणीरूप नहीं, पुण्यपापरूप नहीं और एक समयकी पर्याय मात्र भी नहीं है । “आत्मा ज्ञानमात्र है” यह कहनेका अर्थ है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन, अकार्य-कारण, भावादि अनन्त शक्तिमय है । प्रभु ! तेरे घरकी क्या बात है ! तेरेमें अनन्त शक्तियाँ भरी हुयी हैं और एक-एक शक्ति अनन्त सामर्थ्यवान है, प्रत्येक शक्ति अनन्तगुणोंमें व्याप्त है. प्रत्येक शक्तिमें अन्य अनन्त शक्तिका रूप है, प्रत्येक शक्ति अन्य अनन्त शक्तियोंमें निमित्त है । ऐसी प्रत्येक शक्तिमें अनन्त पर्यायें हैं , वे पर्याये क्रमसे परिणमित होनेसे क्रमवर्ती हैं, तथा अनन्त शक्तियाँ एक साथ रहनेके कारण वे अक्रमवर्ती हैं । ऐसे अक्रमवर्ती और क्रमवर्ती गुण-पर्यायोंका पिण्ड - वह आत्मद्रव्य है । द्रव्य शुद्ध है, गुण भी शुद्ध है तथा उन पर दृष्टि करनेसे परिणमन भी शुद्ध ही होता है । १६९



मैं ज्ञानमात्र वस्तु हूँ - ऐसी दृष्टि होते ही पर्यायमें जीवत्व शक्तिका परिणमन हुआ,

उसके साथ ही ज्ञान-दर्शन-आनन्द, अकार्य-कारणत्व आदि अनन्त शक्तियाँ पर्यायमें उछलती हैं, प्रकट होती हैं।

प्रश्न :- उछलती हैं - इसका अर्थ क्या ?

उत्तर :- द्रव्य वस्तु है, उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं, जहाँ एक शक्तिका परिणमन होता है, उसी समय अनन्त शक्तियाँ एक साथ परिणमित होती हैं - इसीको उछालना कहते हैं । १७०



अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ती स्वरूप भगवान आत्माके अनुभवके लिए-निमित्त अथवा व्यवहार रत्नत्रयरूप रागके अवलंबनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जीव स्वयंके शुद्ध स्वरूपको स्वयं ही स्वयंके द्वारा अनुभव करनेमें समर्थ है । भगवानकी वाणीसे अनुभव हो अथवा गुरुके उपदेशसे अनुभव हो - ऐसा है ही नहीं । स्वयंके द्वारा शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेकी सामर्थ्यसे ही जीव द्रव्य शोभायमान है । स्वयं स्वयंके द्वारा शुद्ध स्वरूपका अनुभव करते हुए समस्त जगतके साक्षीभावरूप शोभित होता है - अतः परकी अथवा रागकी अपेक्षा बिना तूँ तेरे शुद्ध स्वरूपका अनुभव कर । १७१



अनुभवकी विधिका वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जीव द्रव्य स्वयंके द्वारा शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेमें समर्थ है । रागकी मन्दता थी या बहुत व्रत-तप आदि किये थे इसलिये आत्मज्ञान हुआ - ऐसा नहीं है । निजस्वरूपका ज्ञान नहीं था तबतक जो जीव अज्ञानवश विकार भावोंका वेदन और अनुभव करनेमें समर्थ था वह स्वयं ही स्वयंके द्वारा निजशुद्ध द्रव्यका अनुभव करनेमें समर्थ है, परन्तु अज्ञानीको निजद्रव्यकी सामर्थ्यका भान ही नहीं है । १७२



जब जीव आनन्द स्वभावका अनुभव करनेमें समर्थ हुआ तबसे समस्त जगतका साक्षी हो गया । परवस्तु मेरी है - ऐसी दृष्टि छूटनेसे वह उसका साक्षी हुआ है । पर मेरा है और मैं उसका- ऐसी मान्यता छूट गयी है और सकल पर द्रव्योंका जाणनशील हो गया है । अरे ! परमात्मा हो तो भी मैं तो उनका जाननेवाला हूँ और स्त्री-पुत्रादि हों उनका भी मैं जाननेवाला हूँ, वे कोई मेरे नहीं । मेरा क्या है ? - कि ज्ञान और आनन्द

स्वरूप - वह मैं हूँ, इस प्रकार निज वस्तुका स्वयंके द्वारा अनुभव करता है और निज वस्तुसे भीन्न वस्तुओंका ज्ञाता रहता है । १७३



साधक जीव परद्रव्यरूप-द्रव्यकर्म, दया-दान आदि - परद्रव्यरूप-भावकर्म और शरीरादिके प्रति उदासीन है, क्योंकि शुद्धस्वरूपका अनुभव होनेसे उसे शुद्ध चैतन्य ही उपादेय है । जबसे ध्रुवको ध्यानमें लेकर आत्मअनुभव हुआ, तबसे वही जीव पूर्णानन्द स्वरूपको उपादेय जाननसे रागदिरूप उठने वाले विकल्पोंके प्रति उदासिन है । १७४



जो निज स्वरूपको नहीं जानते ऐसे अज्ञानी जीव रागके साथ एकताबुद्धि कर 'राग मेरा कर्तव्य है' - ऐसे अज्ञानवश कर्ता-कर्मरूप प्रवृत्ति कर रहे हैं । रागके साथ एकत्व माना है, परन्तु ज्ञायक प्रभु एकरूप हुआ नहीं । रागसे एकताबुद्धि तो अज्ञानका अभ्यास है और रागसे भिन्न होकर ज्ञायकका अभ्यास - वह धर्मका अभ्यास है, ज्ञानका अभ्यास है । १७५



प्रश्न :- क्या हमारे लिए इस चक्करसे छूटनेका कोई रास्ता नहीं है ?

उत्तर :- 'परसे भिन्न हूँ' - ऐसा भेदज्ञान करना - संसार चक्रसे छूटनेका यही एक मात्र रास्ता है, दुःखसे छूटनेका अन्य कोई रास्ता नहीं है । १७६



प्रश्न :- धर्म करना हो पर कुगुरु मिल जाए तो क्या करें ?

उत्तर :- अंदरकी सच्ची पात्रता हो तो यथार्थ निमित्त सहज ही मिल जाते हैं, (यहाँ तक कि) साक्षात् भगवान मिल जाते हैं । सिंह जैसे प्राणीको भी अंतरयोग्यता जाग्रत होते ही आकाशसे वनमें नीचे उतरकर मुनिराजने बोध दिया था । पात्रता हो तो निमित्तका योग किसी न किसी प्रकार मिल ही जाता है । अंतरपात्रता हो और यथार्थ योग न मिले - यह असंभव है । १७७



प्रश्न :- शुद्धनयका विषय अंश है या अंशी ?

उत्तर :- नयका विषय अंश है ।

प्रश्न :- शुद्धनयका विषय परिपूर्ण है न ?

उत्तर :- परिपूर्ण होने पर भी वर्तमान पर्याय रहित होनेसे वह अंश कहा जाता है । परन्तु इस अंशके त्रिकाली होनेकी अपेक्षासे उसे अंशी भी कहते हैं । १७८



एक और ज्ञान-सिन्धु है व दूसरी ओर भव-सिन्धु है - जहाँ रुचे वहाँ जा । १७९



प्रश्न :-सविकल्प द्वारा निर्विकल्प हुआ जाता है न ?

उत्तर :-सविकल्प द्वारा निर्विकल्प हुआ जाता है - इसका अर्थ यह नहीं है कि सविकल्पसे निर्विकल्प होते हैं, परन्तु निर्विकल्प होनेके पूर्व आनेवाले 'मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ - ऐसे विकल्पोंसे भी छूटकर अन्तर अभेद स्वभावका आश्रय लेते ही निर्विकल्प होते हैं, तब उपचारसे कहा जाता है कि वह सविकल्प द्वारा निर्विकल्प हुआ ।

१८०



प्रश्न :-''समयसार' की गाथा १३ मे कहा है कि नवतत्त्वको भूतार्थसे जानने पर सम्यग्दर्शन होता है - वहाँ भूतार्थसे श्रद्धा होने पर सम्यग्दर्शन होता है । ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर :- जाने बिना श्रद्धा नहीं होती इसलिए 'भूतार्थसे जानने पर' ऐसा कहा है, क्योंकि जिसे जानते हैं उसीकी श्रद्धा होती है , जाने बीना श्रद्धा नहीं होती । १८१



प्रश्न :- ज्ञान और श्रद्धा होनेका एक ही समय है या समयभेद है ?

उत्तर :- एक ही समयमें ज्ञान - श्रद्धान साथ होने पर भी ज्ञानको कारण कहा है, और श्रद्धानको कार्य कहा है । १८२



एक-एक गुणका परिणमन स्वतंत्र और अलग नहीं होता, परन्तु अनन्त-गुणमय द्रव्यके परिणमित होने पर गुणोंका साथ-साथ परिणमन होता है । एक-एक गुण पर दृष्टि डालनेसे गुणका शुद्ध परिणमन नहीं होता, परन्तु द्रव्य पर दृष्टि देनेसे अनन्त गुणोंका निर्मल परिणमन होता है, - आशय यह है कि गुण भेद परसे दृष्टि हटाकर अनन्त

गुणमय द्रव्यको दृष्टिगत करते ही द्रव्य शुद्धरूपसे परिणमित होता है । १८३



प्रश्न :- क्या ज्ञानविभावरूप परिणमित होता है ?

उत्तर :- ज्ञानमें विभारूप परिणमन नहीं होता । ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक स्वभावी है, पर जो ज्ञान स्वको प्रकाशित नहीं करता और केवल परको ही प्रकाशित करता है - वह ज्ञानका दोष है । १८४



प्रश्न :- मिथ्या श्रद्धाके कारण ज्ञान विपरीत कहलाता है ?

उत्तर :- मिथ्या श्रद्धाके कारण ज्ञानको विपरीत कहना तो निमित्त अपेक्षाका कथन है । ज्ञान स्व-प्रकाशक होने पर भी स्वको प्रकाशित नहीं करता, वह ज्ञानका अपना दोष है । १८५



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टिको शुभ भाव आते हैं, वह उनमें उसी समय उदासीन है कि शुभभावसे हटकर आत्मोन्मुख होने पर उदासीन है ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टिको शुभभाव आते हैं - वह उनमें उसी समय उदासीन है और उनसे हटकर आत्मोन्मुख होनेपर तो वीतरागता ही है । अतः वह शुभ भावके समय भी उदासीन है । १८६



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होने बाद वास्तवमें ऐसा खयाल आता है न कि विकार भाव दुःखरूप हैं ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन होने बाद ही विकारका दुःख यथार्थरूपसे भासित होता है, परन्तु उसके पूर्व भी जिज्ञासुको इतना तो खयालमें आ जाता है कि पर ओर झुकनेवाली वृत्तिमें आकुलता होती है, जिस कारण वह विकारसे हट कर स्वभावकी ओर ढलता है ।

१८७



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होने के बाद ही तत्त्वकी ये सब बातें समझमें आती हैं, या पहले भी ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व प्रयोजनभूत नवतत्त्वकी सभी बातें लक्ष्यमें आ जाती हैं, बादमें अनुभव होता है । वस्तुका स्वरूप क्या है, मुनिपना व केवलज्ञान क्या है, मैं कौन हूँ आदि नवतत्त्वके भिन्न-भिन्न स्वरूप जिस रूपमें हैं उसी रूपमें पहले लक्ष्यमें आते हैं, बादमें अनुभव होता है । १८८



प्रश्न :- सम्यग्दर्शनका बहुत-बहुत महत्व बतलाया जाता है, इसका कारण क्या ?

उत्तर :-सम्यग्दर्शनमें पूर्ण परमात्मा प्रतीतिमें आ जाता है उसके महत्वका क्या कहना ! पूर्ण प्रभु प्रतीतिमें आ गया, फिर बाकी क्या रहा ? १८९



जैसे सिंहको चारों ओर घुमते देखकर नींद नहीं आती, मारनेके लिये हथियारबन्द पुलिसको घुमते देख नींद नहीं आती है, वैसे ही जब तक तत्त्वनिर्णय न हो तब तक जीवको सुखकी नींद नहीं आती । १९०



बाहरकी विपदा - यह वास्तविक विपदा नहीं । बाहरकी संपदा - यह संपदा नहीं है । चैतन्यका विस्मरण ही घोर विपदा है, चैतन्यका स्मरण (संवेदन) ही वास्तवमें सच्ची संपदा है। १९१



सर्वज्ञका निर्णय करे - आदर करे-विश्वास करे - प्रशंसा रुचि करे - तो उसीमें स्वयंके सर्वज्ञस्वभावकी प्रतीति हो जाती है, यही पुरुषार्थका स्वरूप है । १९२



आत्माकी विकल्प सहीत साधारण महिमको महिमा नहीं कहते । अन्तरमें रुचे तो वीर्य उछले, वह यहाँ-कहाँ उछलता है ? साधारण धारणा और महत्ता तो अनन्त बार हुई, परन्तु यथार्थ आत्ममहिमा तो अन्तर-स्फुरित होनी चाहिए, एक यही कमी रह गयी है । प्रथम महात्मय होता है और पीछे माहात्मयकी उग्रता होते-होते एकाग्रता होती है ।

१९३



आत्म-अनुभवके बिना सब कुछ शून्य है । लाख कषायकी मन्दता करो या लाख

शास्त्र पढो, किन्तु अनुभव बिना सब कुछ व्यर्थ है । यदि कुछ भी न सीखा हो, पर अनुभव किया हो तो उसने सब कुछ सीख लिया, उसे बात करना भले ही न आए तो भी वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा । १९४



अल्प किन्तु सत्य ग्रहण करे तो उतनेमें तो केवलज्ञान प्रकट करनेकी शक्ति है । बहुत किन्तु विपरीत ग्रहण करे तो उसमें तो निगोदके अनन्त भव होनेकी शक्ति हैं ।

१९५



कोई क्रोधमें तन्मय हो और कहे कि मैं क्रोधका ज्ञाता हूँ, तो यह गलत है - क्योंकि वह तो क्रोधमे तन्मय है (क्रोधका) ज्ञाता नहीं । जो ज्ञानमें तन्मय है वही क्रोधके परिणामका ज्ञाता है । १९६



भाई ! तू विश्वास तो कर कि मेरे आनन्दके आगे स्मस्त प्रतिकूलता और सारी दुनिया विस्मृत हो जाती है - मैं ऐसी वस्तु हूँ । १९७



पात्र होना कठिन है । बातें करना सीख गया हो और ऐसा माने कि मैं समझ गया हूँ तो यह ठीक नहीं । बापू ! यह समझना अति दुष्कर है, कितनी पात्रता - कितनी सज्जनता - कितनी योग्यता हो तब जीव समझने योग्य होता है । १९८



अहो ! जिसके आनन्दके एक क्षणके (रसास्वाद)के आगे तीन लोकका सुख विष सम लगे- जहर जैसा लगे - तिनके-समान तुच्छ लगे - भगवान आत्मा तो ऐसा है ।

१९९



मेरे चैतन्य उपयोग हनन होता ही नहीं, जिसका हनन हो उसे उपयोग ही नहीं कहते। पर प्रभु ! केवलज्ञान नहीं है न ! केवलज्ञानका प्रयोजन ही क्या है ? जिसके हाथमें केवलज्ञानकी खान आगयी है - उसे केवलज्ञान प्राप्त होगा ही । २००





परमात्मदशा भी द्रव्यमें नहीं, वह तो इससे रहित है । आहाहा ! द्रव्य पर दृष्टि गये बिना उसे प्रतीतिमें जोर आ ही नहीं सकता, जोर आता भी नहीं है । पर्यायका लक्ष्य छोड़कर 'मैं तो ऐसा वर्तमानमें ही हूँ - इस प्रकार द्रव्यमें तन्मय हो जाए, तब ही प्रतीतिमें जोर आ सकता है । २०१



भगवान आत्मा ज्ञानकी मौजोंमें उछलता हुआ, परके काम और रागके काम मेरे नहीं - ऐसी दृष्टि करता हुआ केवलज्ञानके किनारे आ खड़ा हुआ है । २०२



राग होने पर भी साधकके हृदयमें सिद्ध भगवान टंकोत्कीर्ण रहते हैं । २०३



भविष्यमें कैसे कर्मका उदय होगा - ऐसा विचार मत कर । पर, मैं भविष्यमें ऐसा होऊंगा कि पुरुषार्थ उग्र हो गया तो एक क्षणमें केवलज्ञान प्राप्त कर लूँगा । २०४



कागज पर चित्रित दीपक-तिनकों को जलाता नहीं, उसी प्रकार केवल शास्त्रज्ञान संसार (बन) को नहीं जला सकता । २०५



जिनके जन्म-मरणकी गांठ (भेदित) नहीं हुई, उन्होंने जीवनमें कुछ भी नहीं किया और जिन्होंने गृहस्थाश्रममें भी जन्म-मरण रुपी ग्रंथीको भेद दिया - उन्होंने सब कुछ कर लिया । सिद्ध प्रभु तो उनके हाथ आ गये हैं । २०६



(पर) वस्तुने शरीरका स्पर्श नहीं किया, शरीरने कर्मका स्पर्श नहीं किया, कर्मने विकारको स्पर्श नहीं किया, विकार निर्मल पर्यायका स्पर्श नहीं करता, निर्मल पर्याय द्रव्यको नहीं छूती । आहा ! वस्तु स्वभाव सुक्ष्म है, उसके एक प्रदेशमें अन्य प्रदेशका अभाव है, एक गुणमें अन्य गुणका अभाव है, एक पर्यायका अन्य पर्यायमें अभाव है, विभावव्यंजन पर्यायका स्वभावव्यंजन पर्यायमें अभाव है । - ऐसा वस्तुभाव सर्वज्ञने जैसा देखा है वैसा कहा है । २०७



रागने स्वभावका स्पर्श नहीं किया - इस बातकी प्रतीति हुए बिना यह बात समझमें नहीं आयेगी कि निमित्त उपादानका स्पर्श नहीं करता । २०८



जिन्होंने स्वयंके पर्याय अंशसे दृष्टि हटाकर द्रव्य पर दृष्टि की वे अन्य द्रव्यको भी इसी प्रकार देखते हैं अर्थात् अन्य पदार्थोंको भी उनकी पर्यायसे नहीं देखते, बल्कि उन्हें द्रव्य रूपसे ही - वस्तुरूपसे ही - अखंड देखते हैं । २०९



प्रथम निज स्वभाव - श्रद्धामें - ज्ञानमें - रुचिमें - और लक्ष्यमें आए तभी इसका वीर्य स्वभाव-सन्मुख स्फुरित होता रहे । यब सम्यग्दर्शनकी पूर्व भूमिका है, यही सम्यग्दर्शनका उपाय है, अन्य कोई भी उपाय नहीं है । २१०



केवलज्ञानमें कैसा आनन्द है और उसका कैसा स्वरूप है, उसका प्रतिभास भावश्रुत ज्ञानमें हो जाता है । २११



दृष्टि स्वभावरूप परिणित हुयी कि हुयी, फिर उसका स्मरण क्या करना ? रुचिका तो परिणमन हुआ सो हुआ, वह तो सदा ही रहनेवाला है । 'मैं निःशंक हूँ' इस भावका स्मरण नहीं करना पड़ता । (उपयोग) शुभाशुभमें हो या आत्म-अनुभवमे (दृष्टिका) सम्यक्परिणमन तो जैसा है वैसा ही रहता है । २१२



विकारकी तुच्छता भासित हो तो वीर्य वहाँसे खिसके ओर स्वभावकी महिमा भासित हो तो वीर्य वहाँ ढले । २१३



'अभिप्राय' - यह तो जीवका जीवन हो जाता है - उसका घर बन जाता है । अभिप्राय-परिवर्तन तो उसे जीवन-परिवर्तन सा लगता है । २१४



'जैन'- अर्थात् जो अन्तरमें समाये वह जैन है । बाहरमें जितने भी उफान आते हैं, वे तो प्रकृतिके खेल हैं । विकल्प उठते हैं, य सब भी प्रकृतिके ही खेल हैं । २१५

जिसने बाहरमें किसी रागमें - 'संयोगमें-क्षेत्रमें व ऐसे ही कहीं न कहीं या किसी द्रव्यमें - क्षेत्रमें-कालमें, कुछ ठीक सा मानकर, वहां रुककर समय गंवाया है - उसने अपनी आत्माको ठग लिया है । २१६



स्वके 'लक्ष'का मार्ग अलौकिक है - यह तो वीतराग देवका मार्ग है । वे तो कहते हैं कि तूँ मेरी ओर न देख ! वीतराग प्रभुके सिवा कौन ऐसा कह सकता है ? २१७



प्रथम समझे तो सही, स्वभावका पक्ष तो हो याने राग और निमित्तकी ओर झुकना योग्य नहीं पर 'स्वभाव' की ओर ही ढ़लना योग्य है - ऐसा यथार्थ निर्णय तो हो, निर्णयरूपी वज्रस्तंभ तो गाड़े, - इसके बिना एक डग भी नहीं भर सकते । २१८



द्रव्यमें जितनी सामर्थ्य निहित है , उतनी ही सामर्थ्य जबतक दृष्टिमें न आये - तब-तक निर्विकल्प दृष्टि नहीं होती । २१९



जो बाहरकी अनुकूलताको अनुकूलता मानता है, बाह्य प्रतिकूलताको प्रतिकूलता मानता है-वह प्रगटरूपसे भगवानको (आत्माको) शरीर-स्वरूप ही मानता है । २२०



धर्मीका चित्त आत्माके सिवा अन्य कहीं नहीं रमता । वे संसारमें सब कुछ ऊपरी नजरसे ही देखता हैं , पर उनका चित्त तो कहीं भी नहीं रमता । मक्खीका चित्त शक्करके स्वादमें इतना आसक्त रहता है कि पंखोपर दबाव होने पर भी वह वहाँसे हटती नहीं । वैसे ही धर्मीका चित्त आत्मामें रमा रहता है । प्रतिकूलता आने पर भी-बाहरी दबाव आने पर भी, आत्मासे उनका चित्त नहीं हटता । दुनियाको भले ही धर्मी मूर्ख लगे-पागल लगे । २२१



'सर्वज्ञ-सर्वदर्शी' - ये शब्द जब सामने आते हैं, तब आहाहा ! अखंड वस्तु जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है - वह पूरी की पूरी नजरोंमें तैरने लगती है । २२२



क्या पुण्य-परिणामरूपी कार्य सर्वज्ञको सौंपा जाय ? - चक्रवर्तीको आंगन बुहारनेका काम नहीं सौंपा जाता । आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है - जिसको ऐसा भान हुआ उसे पुण्यके कार्यमें कर्ताबुद्धि नहीं होती । २२३



सम्यक्त्वीकी पूरी दुनियासे रुचि उड़ गयी है, - उसे एक आत्मामें ही रुचि है । वह एक आत्माको ही विश्राम-स्थल मानता है । एक आत्माकी ओर ही उसकी परिणति रह-रह कर जाती है । २२४



पुण्यसे आत्मा प्राप्त होती है - यह तो आत्माको गाली देना है । इसे प्राप्त करनेका साधन तो इसके अन्तरमें ही निहित है, यह कोई पंगु को है नहीं । २२५



भगवान आत्मासे एकाकार होना - उसमें तन्मय होना - इसीका नाम व्रत है ।

२२६



आत्मा आनन्दस्वरूप है । इसके भान-बिना व्रत, जप और तप - ये सभी की बिन दूल्हे बारात जैसे हैं । २२७



जब तक अन्तरमें ऐसा नहीं भासित होता कि पैसेमें सुख नहीं है, पुण्य-पापमें सुख नहीं है- तब-तक जीव आत्म-सुखके लिए पुरुषार्थसा नहीं होता । २२८



इस बातको समझनेके लिये अनन्त पुरुषार्थ चाहिए, बहुत अंतर-पात्रता चाहिए, सर्व पदार्थोंकी सुख-बुद्धि उड़ जानी चाहिए । इस प्रकारकी उत्कृष्ट पात्रता चाहिए । इसकी पर्यायमें प्रबल योग्यता चाहिए । श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि "तू तेरे दोषसे दुःखी हो रहा है, तेरा दोष इतना ही है कि परको अपना मानना व अपनेको भूल जाना ।" २२९



जगत सुखका इच्छुक है, परन्तु सुखके कारणको नहीं जानता । संसारी जीव लेशमात्र भी दुःख नहीं चाहते पर दुःखके कारणमें लीन रहते हैं । २३०



यदि कुछ भी दुर्धर और दुष्कर है - तो वह आत्मप्राप्तिका पुरुषार्थ है, यही उत्तमोत्तम पुरुषार्थ है । शेष सभी पुरुषार्थ थोथे हैं । २३१



जो विचारकी भूमिकामे खड़े हैं । उन्हें भक्ति आदिके राग आये बिना नहीं रहते, ऐसा ही (परिणाम) स्वभाव है । भक्ति आदिके राग होने पर भी वे हेय हैं । २३२



जिनके सिर पर जन्म-मरणरूपी तलवार लटक रही है - फिर भी जो संयोगोंमें खुशी मानते हैं, वे पागल हैं । २३३



सत्-प्राप्तिके लिए यदि सारी दुनिया बिक जाए, पुरा जगत चला जाए तो भी आत्माको न गँवाया जाए । २३४



भगवानकी मूर्तिके जैसे ही भगवानके आगमनका बहुमान होना चाहिए । आगम तो मुनियोंका अक्षर-देह है । २३५



समझके द्वारा ज्ञानमें जैसे-जैसे भाव-भासन विकसित होता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञानकी सामर्थ्य बढ़ती जाती है और ऐसी बढ़ती हुई ज्ञान सामर्थ्य द्वारा मोह शिथिल होता जाता है । ज्ञान जब सम्यक् रूपसे परिणमित होता है तब मोहसमूह नाशको प्राप्त होता है । अतः ज्ञानसे ही आत्माकी सिद्धि है , ज्ञानके अतिरिक्त आत्मसिद्धिका अन्य कोई साधन नहीं है । २३६



अन्य जीवकी निन्दा करनेका भाव तो आस्रव है, और कागजमें हुई शब्द रचना पुद्गलकी पर्याय है । इनमें लिखनेवाला जीव कहीं भी संबद्ध नहीं है और स्वयंको अस्थिरतासे उठनेवाले विकल्प भी आत्मामें कहां हैं ? ये भी आस्रव हैं । इस प्रकार ज्ञानी समाने चाहे जैसा विरोधी जीव हो उसे भी पूर्ण आत्मरूपमें ही देखते हैं - यही वीतरागी समता है । ऐसे ज्ञान बिना सहज समता होना संभव ही नहीं । २३७



जिसकी महिमा की होगी, उसकी महिमा मृत्युके समय भी नहीं छूटेगी । राग-द्वेष और संयोगकी कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगी । आत्माकी महिमा की होगी तो नहीं छूटेगी, जो किमती लगा होगा - उसकी कीमत नहीं छूटेगी । २३८



जो विचक्षणता आत्माको दुःखसे मुक्त न करे - वह विचक्षणता ही क्या ? २३९



(इस जीवन कालमें) धन उपार्जनकी वृत्ति तो आत्मघात ही है । वास्तवमें यह तो आत्मलाभका अवसर है - आत्माके आनन्दकी कमाईका अवसर है , इसे न चूके । २४०



शुभरागकी मिठास जीवको मार डालती है और परसत्तावलंबी ज्ञानकी मिठास भी जीवको मार डालती है । २४१



जिसने जीवनकालमें संयोगके साथ ही भावी वियोगको चाहा है, अनुकूलतामें भी जिसको उसके वियोगकी भावना है, उसको उनके वियोगके समय खेद नहीं होता ।

२४२



देह तो तुझे छोड़ेगी ही, पर तूँ देहको (दृष्टिमें) छोड़े तो तेरी बलिहारी है - यह तो शूरवीरोंका खेल है । २४३



हे भगवान ! आपने जो चैतन्यभंडार खोल दिया है - उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्तीका वैभव भी तृणवत् न लगे ? आहा ! अन्तर-अवलोकनमें तो अमृतरस झरता है और बाह्य अवलोकनमें तो विष सा अनुभव होता है । २४४



जिन्हें अशुभके फलमें द्वेष है, उन्होंने अशुभ भावको हेय माना ही नहीं । शुभभावके फलमें जिन्हें गुदगुदी होती है और मिठास लगती है - उन्होंने शुभभावको हेय माना ही नहीं । २४५



यदि ब्रह्मचर्य आदि व्रत ले, वस्त्रादि छोड़े तो उसे ऐसा लगता है कि मैं धर्ममार्गमें कुछ आगे बढ़ा हूँ, परन्तु आत्मभान-बिना उसने उल्टे शल्यकी ही वृद्धि की है - मिथ्यात्वकी पुष्टि की है। २४६



एक बार अन्तरदृष्टि से प्रतीति कर कि मैं सिद्ध समान अशरीरी हूँ, शरीरका स्पर्श ही नहीं करता, अभी ही शरीरके मुक्त हूँ - एसी श्रद्धा न करने से देह छूटनेके समय शरीरके प्रति तेरी (एकत्व) लालसा तीव्रतर होती जायेगी। २४७



भाई ! संयोगोंका त्याग हुआ उससे तेरी पर्यायमें क्या अन्तर पड़ा ? जब बाहरके हीनाधिक संयोगोंका लक्ष्य छूट जाए, कषायकी मन्दता या तीव्रताका भी लक्ष्य छूट जाए और तेरी पर्याय चैतन्य वस्तुको लक्ष्य कर तद्रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्वका त्याग होता है - यही यथार्थ त्याग है। २४८



रागको जानने से ज्ञान मलिन नहीं होता, पर रागको अपना मानने से ज्ञान मलिन होता है। 'राग मेरा है' ऐसा मानने वाला अपने जीवका घात करता है और 'राग मेरा नहीं' - ऐसा मानने वाला अपने जीवकी रक्षा करता है। २४९



पुण्य-पुण्य करके अज्ञानी पुण्यकी मिठासका आस्वादन करता है परन्तु पुण्यकी मिठास तो उसका खून करती है। मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है। मिथ्यात्वका पाप सात व्यसनसे भी अनन्तगुणा (भयंकर) है, उसका पोषण करनेवाला तो कसाईखाने खोलते हैं। २५०



पर्याय-दृष्टि वाले जीव दया-दान, पूजा-भक्ति, यात्रा, प्रभावना आदी अनेक प्रकारके शुभभावोंके कर्ता होकर, अन्यकी अपेक्षा "मैं कुछ अधिक हूँ" ऐसा अहंकार करते हुए, मिथ्यात्व भावको दृढ़ करते हैं और निश्चय स्वरूप मोक्ष-मार्गको लेशमात्र भी नहीं जानते।



प्रश्न :- तत्त्वका श्रवण-मनन करने पर भी सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता ?

उत्तर :- सचमुच तो अन्तरमें रागके दुःखसे थकान लगी ही नहीं, अतः विश्रामका-शान्तिका स्थान हाथ ही नहीं आता । वास्तवमें अन्तरसे दुःखसे थकान लगे तो अन्तरमें उतरने पर विश्रामका स्थान हाथ लगे । सत्यके शोधकको सत्य न मिले - यह सम्भव ही नहीं । २५२



भगवानकी देशना होती है - पर उससे शासनका क्या होता है व किसको लाभ होता है, इस ओर उनका उपयोग जाता ही नहीं । इसीप्रकार सम्यग्दृष्टिको भी विकल्प उठते हैं और वाणी निकलती है, पर वे यह नहीं देखते कि किसको लाभ हुआ - कितना लाभ हुआ । वे तो निजात्माको ही देखते हैं । २५३



यह आत्मा स्पर्श-रस आदि गुणोंसे रहित और पुद्गल तथा अन्य चार अजीवोंसे भिन्न है, उसे भिन्न करनेका साधन तो चेतना-गुणमयता है । राग और विकल्पसे भी भिन्न करनेका साधन तो चेतना-गुणमयता ही है । जानन-शक्ति, चेतना-गुणमय-शक्ति यही आत्माको अन्य द्रव्योंसे भिन्न करनेका साधन है । २५४



भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूपसे विराजमान है उसे अतिन्द्रिय ज्ञानसे जाना जाता है, पर वह इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता । ज्ञायक आत्मा लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जाननेका कार्य नहीं करता । जो इन्द्रियों द्वारा जाननेका कार्य करे वह आत्मा नहीं है । इन्द्रियाँ अनात्मा है, इसलिए जो उनके द्वारा जाननेका कार्य करे - वह ज्ञान ही अनात्मा है । शास्त्र-श्रवण द्वारा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानको आत्मा नहीं कहते हैं । शास्त्र-श्रवण करते हुए खयाल आता है कि "ऐसा कहते हैं" -ऐसा जो ज्ञान होता है उसे इन्द्रिय द्वारा हुआ होनेसे आत्मा नहीं कहते । २५५



आत्मा अतीन्द्रिय-ज्ञानमय है, इन्द्रिय-ज्ञानमय नहीं । इन्द्रियों द्वारा शास्त्र-वांचन और श्रवणसे हुआ ज्ञान अतिन्द्रिय-ज्ञान नहीं, आत्मज्ञान नहीं, वह तो खंडखंड ज्ञान है । ११ अंग और ९ पूर्वका ज्ञान परसत्तावलंबी-ज्ञान है, वह बन्धका कारण है । यहाँ



परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु ! एक बार सुन; आत्माको अतिन्द्रिय ज्ञानसे ही जानना होता है, इन्द्रिय ज्ञानसे जानना - सो आत्मा नहीं है । २५६



जिन्हें इन्द्रियज्ञानका रस चढ़ा है - उन्हें अतीन्द्रिय-ज्ञान नहीं होता । २५७



सम्यग्दृष्टिका ज्ञान अतिसूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभावके बिचकी सन्धिमें ज्ञानपर्यायका प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है। ख्यालमें आ सके इस प्रकार (प्रथम ही) राग और स्वभाव दोनोंको छेदता है । बुद्धगम्य छेदन याने कि, ख्यालमें आ सके इस प्रकार दोनोंमें भिन्नता करता है । सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेकी और सम्यक्दर्शनको कायम रखनेके मार्गकी यह बात है। प्रथम यह बात सुनें; सुनकर विचार करें, और पीछे प्रयत्न करें । २५८



किस रीतिसे भिन्न-भिन्न करते हैं ? - कि स्व-पर-ग्राहक लक्षणयुक्त चैतन्यप्रकाश है; उस चैतन्यको जानकर और रागको जानकर भिन्न-भिन्न करते हैं । स्व-पर-ग्राहक - ऐसा ज्ञान-प्रकाश स्वको जानता है और परको भी जानता है, लेकिन परको जानकर उसे भिन्न रखता है । चैतन्यलक्षण द्वारा स्वको लक्षित करते ही ध्रुवके पूर (प्रवाह) पर लक्ष्य जाता है । २५९



प्रथम यह निर्णय तो करे कि ऐसे ही वस्तु प्राप्त होती है । व्रत-तप-भक्ति-यात्रा या धन खर्चसे प्राप्त हो सके - वस्तु ऐसी नहीं है । त्रिकाल अस्तित्वमय-असंख्य प्रदेशी-शुद्ध वस्तु सर्वकालमें प्रत्यक्ष है - प्रथम ही ऐसा निर्णय करना चाहिए । वस्तुका स्वरूप ही प्रत्यक्ष है, स्वरूप परोक्ष हो ही नहीं सकता । २६०



डॉ. गांगुली :- व्रत-तप-त्याग करनेसे आत्माके ऊपरका छालरूपी मैल निकल जाता है न ?

पू. गुरुदेव श्री :- नहीं, यह तो राग है । इन व्रत-तप आदिके रागको अपना मानना - यह तो मिथ्यात्व है - अपराध है - भ्रमणा है ।

डॉ. गांगुली :- तो साधारण जीवोंको तो ये व्रतादि करना ठीक है न ?

पू. गुरुदेव श्री :- नहीं, साधारण जीवोंको भी इन व्रतादिसे धर्म नहीं, इनसे जन्म-मरणका अन्त आने वाला नहीं, इनमें लाभ-बुद्धिसे तो जन्म-मरण बढ़ते हैं । २६१



डॉ. गींगुली :- आत्मज्ञान होने पर तो ये व्रतादि राग हैं - ऐसा भासित होता है, परन्तु आरंभमें आत्मज्ञान तो शीघ्र ही नहीं होता न ?

पू. गुरुदेव श्री :- शीघ्रका अर्थ - इसका अभ्यास करना चाहिए । राग क्या है, आत्मा क्या है, मैं त्रिकाल टिकने वाली वस्तु कैसी हूँ (आदिका) अभ्यास कर-ज्ञानकर, रागसे भिन्न आत्माका अनुभव करना - यह पहली बात है । आत्माको जाने बिना इसके सभी क्रिया-कांड अरण्य-रोदनसमान है । अन्तरमें आत्मा आनन्द-स्वरूप भगवान् चैतन्य-तेजका पुँज प्रभु है । उसका ज्ञान न हो, अन्तर दशाका वेदन न हो, तब तक अज्ञानीके सभी क्रिया-कांड झुठे हैं । सम्यक्दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है, सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेका ही प्रयत्न होना चाहिए । २६२



प्रश्न :- आत्मा परमें तो कोई हेर-फेर नहीं कर सकता - यह तो ठीक है पर क्या स्वयंकी पर्यायोंमें भी हेर-फेर करना उसके अधिन नहीं ?

उत्तर :- अरे भाई ! जहाँ द्रव्यका निर्णय किया वहाँ वर्तमान पर्याय स्वयं ही द्रव्यमें समाहित हो गई तो फिर तुझे किसे बदलना है ? जब पर्याय द्रव्यमें अंतर्मुख हो गई तब यह पर्याय क्रमशः निर्मलरूप ही परिणत होती रहती है और शान्ति बढ़ती जाती है । इस प्रकार पर्याय ही जब द्रव्यमें अन्तर्मग्न हो गई तब उसे बदलनेकी बात कैसी ? वह पर्याय स्वयं ही द्रव्यके अधीन आ गई है ।

पर्याय आएगी ही कहाँसे ? - द्रव्यमेंसे - अतः जब सम्पूर्ण द्रव्यको ही वशमें कर लिया है, (श्रद्धा-ज्ञानमे स्वीकार कर लिया) तब पर्याय वशमें आ ही गई ; तात्पर्य यह है कि द्रव्यके आश्रयसे पर्याय सम्यक् और निर्मल रूपसे ही परिणमित होने लगी । जब स्वभाव निर्णित हुआ तब ही मिथ्याज्ञानका नाश होकर सम्यक्ज्ञान हुआ, मिथ्याश्रद्धा पलट कर सम्यक्दर्शन हुआ । इस प्रकार पर्याय निर्मल होने लगी- यह भी वस्तुका धर्म है । वस्तुस्वभाव बदला नहीं और पर्यायोंकी क्रम-धारा टुटी नहीं । द्रव्यके ऐसे-ऐसे स्वभावकी

स्वीकृतिमें ही पर्यायकी निर्मल धाराका जन्म हुआ और ज्ञानादिरूप अनन्त पुरुषार्थ उसीमें समाविष्ट है ।

स्व या पर - जब किसी द्रव्य, किसी गुण व किसी पर्यायमें हेर-फेर करनेकी बुद्धि न रही तब ज्ञान-ज्ञानमें ही जम गया, अर्थात् मात्र वीतरागी ज्ञाता-भाव ही रह गया - ऐसे साधकको अल्पकालमें मुक्ति होगी ही । बस ! ज्ञानमें ज्ञातादृष्टा रूप रहना - यही स्वरूप है - यही सबका सार है । यह अन्तर रहस्य जिसके ख्यालमें न आए उसे कहीं न कहीं, परमें अथवा पर्यायमें - हेर-फेर करनेकी बुद्धि बनी रहती है । ज्ञाता-भावसे च्युत होकर कहीं भी हेर-फेर करनेकी बुद्धि मिथ्याबुद्धि है । २६३



प्रश्न :- 'मैं जानने वाला ही हूँ यह भाव जोर नहीं पकड़ता, यह कैसे जोर पकड़े ?

उत्तर :- तूँ स्वयं जोर नहीं लगाता इसलिये जोर नहीं पकड़ता । बाहरके संसारप्रसंगोंमें कितना चाव और उत्साह होता है, ऐसे ही अपने अन्तर स्वभावका चाव और उत्साह होना चाहिए। २६४



भाई ! तेरा रूप तो भगवान स्वरूप है न ! परमात्म स्वरूप तूँ है । जिनस्वरूप ही आत्मा है - वीतराग-अकषाय मूर्ति ही आत्मा है - उसे परम-पारिणामिक भाव कहो चाहे एक रूप भाव कहो, यहाँ उसे शुद्ध भाव कहनेमें आता है । उससे जीवादि सात बाह्य तत्त्व भिन्न हैं । निमित्त आदि तो भीन्न हैं ही, पर रागादि अशुद्ध भाव भी बहिर्तत्त्व हैं और पूर्ण स्वरूपके आश्रयसे उत्पन्न होने वाली वीतरागी पर्याय भी पर्याय होनेसे बहिर्तत्त्व है और जो बहिर्तत्त्व हैं, वे हेय हैं । २६५



कारणपरमात्मा - यही वास्तवमें आत्मा है । निर्णय करती है पर्याय, नित्यका निर्णय करती है अनित्य पर्याय, पर उसका विषय है कारणपरमात्मा, जिससे वही वास्तवमें आत्मा है । पर्यायको अभूतार्थ बतलाकर - व्यवहार कह कर - अनात्मा कहा है । २६६



अलिंगग्रहणके २० वें बोलमें कहा है कि जो ध्रुवका स्पर्श नहीं करती ऐसी शुद्ध पर्याय ही आत्मा है, वहाँ वेदनकी अपेक्षा ऐसा कहा है, क्योंकि आनन्दका वेदन परिणतिमें

है । त्रिकालीका वेदन नहीं होता, इसकारण ऐसा कहते हैं कि जो वेदनमें आया वह मैं हूँ । जहाँ जो आशय हो वहाँ वैसा ही समझना चाहिए । यहाँ सम्यग्दर्शनकी बात है । सम्यग्दर्शनका विषय जो त्रिकाली-ध्रुव सामान्य है, एक वही सर्व तत्त्वोंका सार है । वह वस्तु स्वयं ध्रुव है, उस पर दृष्टि जाने पर ही सम्यग्दर्शन होता है । २६७



शुद्धज्ञान त्रिकाली द्रव्यका ही अवतार है । अवतारका अर्थ ऐसा नहीं कि नवीन उत्पत्ति हो परन्तु द्रव्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप है - विकल्पसे व रागसे रहित ही है । शुद्ध ज्ञानस्वरूप गुण-गुणीके भेदसे भी रहित है तथा सुख-सागरका पूर है - वस्तु स्वयं ही सुखसागरका पूर है - वस्तुमें सुखसागरकी बाढ निहित है । अतीन्द्रिय आनन्दका पुँज प्रभु ही शुद्धभाव है, सामान्यभाव है, ज्ञायक भाव है - उसके एक समय मात्रके अनुभवसे समस्त संसारका नाश हो जाता है । २६८



मैं अभेद हूँ । "निर्विकल्प अहम्" ऐसा एक पाठ है । मुझमें विकल्प - भेद नहीं है - यह तो नास्तिका कथन है, अतः ऐसा न लेकर युँ कहा कि मैं निर्विकल्प हूँ, मैं उदासीन हूँ । आहाहा! ऐसी वस्तु समझनेके लिए सभी आग्रह छोड़ने चाहिए । "हम जानते हैं" ऐसा भी अभीमान छोड़ना होगा । मैं उदासीन हूँ - मेरी बैठक तो ध्रुवमें है - मेरा आसन ध्रुव है - मैं परसे तो उदास हूँ ही-पर्यायसे भी उदास हूँ । २६९



तीन काल और तीन लोकमें शुद्ध निश्चयनसे ज्ञान-रस और आनन्द-कन्द प्रभु केवल मैं हूँ। 'ऐसा हूँ - ऐसी दृष्टि ही आत्म-भावना है । मैं ऐसा हूँ तथा सभी जीव भी भगवत्स्वरूप है, परमात्मस्वरूप सभी जीव हैं, - वस्तुदृष्टिसे सभी जीव ऐसे हैं - ऐसे आत्माका अनुभव होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान है और उसमें स्थिर होना चारित्र है । इस प्रकार मन-वचन-कायासे व कृत-कारित-अनुमोदनासे निरंतर याने कि अन्तर डाले बिना - यह भावना भाना कर्तव्य है 'कि समस्त जीव ऐसे (परमात्मस्वरूप) ही हैं' इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने योग्य माने तो वह आत्माका अनादार है । २७०



सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवने जिस आत्माको ध्रुव कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे

ध्रुव स्वभावमें से शुद्धता प्रकट होती है । उसको आत्मा शुद्धरूपसे उल्लसित हुई - ऐसा कहनेमें आता है । जैसे अनादि अज्ञान-वश, "पुण्य-पाप भावरूप मैं हूँ" - ऐसे मिथ्यात्वका अनुभव वह दुःखका अनुभव है, वैसे ही ज्ञानीको अतीन्द्रिय आनन्द अमृतका भोजन है ।

२७१



प्रश्न :- ज्ञानीकी प्ररुपणामें असत्की प्ररुपणा होती है ?

उत्तर :- नहीं, ज्ञानीकी वाणीमें असत्की प्ररुपणा नहीं होती । ज्ञानीको अस्थिरता होती है, पर प्ररुपणामें अस्त कथन नहीं आता । 'व्यवहारसे निश्चय प्राप्त होता है, रागसे लाभ होता है अथवा रागसे धर्म होता है, एक द्रव्य अन्य द्रव्यका कार्य करता है' - ऐसी प्ररुपणाको असत् प्ररुपणा कहते हैं । २७२



प्रश्न :- 'प्रवचनसार'में शुद्धनयसे विकारको जीवका कहनेका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :- विकार तो जीवके स्वयंके द्वारा ही हुआ है । वह स्वयंका अपराधरूपी कार्य है । पर कर्मसे (पुद्गलसे) विकार नहीं हुआ यह बतलानेके लिए ही विकारको शुद्धनयसे (अशुद्ध निश्चयनयसे) जीवका कहा है । २७३



दो नय परस्पर विरोधी हैं । जो वे एकरूप हों तो नय दो नहीं रह जाते । व्यवहारनय नहीं है - ऐसा नहीं । पर व्यवहारसे लाभ हो तो निश्चयनय नहीं रहता । पानी गरम होता है, उसमें अग्नि निमित्त नहीं - ऐसा नहीं है, परन्तु निमित्तसे उपादानमें कार्य हो तो उपादान नहीं रहता । निश्चयके साथ व्यवहार नहीं होता - ऐसा नहीं है, परन्तु व्यवहारसे निश्चय हो तो निश्चय नहीं रहता । उपादानके कार्यकालमें निमित्त होता है, परन्तु निमित्तसे उपादानमें कार्य नहीं होता - ऐसी वस्तुकी स्थिति है । २७४



प्रश्न :- आप ध्रुवस्वभावमें उपयोग ले जानेको बारंबार कहते हैं, पर ध्रुव स्वभाव देखा हो तो उपायोग ले जाए न ?

उत्तर :- ध्रुवस्वभावकी और लक्ष्य करे तब पर्यायमें ध्रुवस्वभाव दिखे न ! लक्ष्य किए बिना कैसे दिखे, जो ध्रुवस्वभावकी ओर लक्ष्य न करे तो उसे कैसे दिखाई दे ? अन्तरमें

यथार्थ लक्ष्य करे तो उसे ध्रुवस्वभाव दर्शित होगा ही । पर्यायके पीछे द्रव्यस्वभाव विद्यमान है - वहाँ दृष्टि करे तो ध्रुव स्वभाव दर्शित होता ही है । २७५



प्रश्न :- अभेदस्वरूप आत्माकी अनुभूति होनेके बाद व्रतादि करनेसे क्या लाभ है ?

उत्तर :- शुद्धात्माका अनुभव होनेके पश्चात् पाँचवे और छठे गुणस्थानमें उस-उस प्रकारके शुभराग आए बिना नहीं रहते । वे शुभराग बन्धके कारण हैं ओर हेय हैं - ज्ञानी ऐसा जानते हैं । शुद्धताकी वृद्धि-अनुसार कषाय घटते जानेसे व्रतादिसे शुभराग आए बिना रहते ही नहीं - ऐसा ही स्वभाव है । २७६



प्रश्न :- परके लक्षसे आत्मामें जाना नहीं होता, पर शास्त्र पढ़नेसे तो आत्मामें जाना होता है न ?

उत्तर :- शास्त्र पढ़नेसे विकल्पसे भी आत्मामें नहीं जा सकते ।

प्रश्न :- तो शास्त्र नहीं पढ़े न ?

उत्तर :- आत्मालक्ष्यसे शास्त्रका अभ्यास करना - ऐसा 'प्रवचनसार'में कहा है और 'समयसार'की पहली गाथामें आचार्यदेवने कहा है कि 'तेरी पर्यायमें सिद्धोंकी स्थापना करके पढ़' । इसका अर्थ यह है कि तूँ सिद्ध स्वरूप है - ऐसी श्रद्धाप्रतीति करके पढ़ । जिसने सिद्ध स्वरूपमें दृष्टि जमाई है, उसको सुनते और पढ़ते हुए भी निजस्वरूपमें एकाग्रताकी वृद्धि होगी । २७७



ऊपर-ऊपरसे पढ़ना-सुनना आदि सब करे तो उससे क्या ? इसे स्वयं अन्तरसे 'हाँ' आनी चाहिए कि 'राग मैं नहीं हूँ और ज्ञायक स्वरूप ध्रुव वस्तु ही मैं हूँ' - ऐसे इसके अस्तित्वकी अन्तरसे 'हाँ' आए । 'हाँ' अर्थात् स्वभाव की प्रतीति होकर 'हाँ' आए, तब उसके कल्याणका आरंभ होता है । २७८



प्रश्न :- द्रव्यलिंगीको शुभमें रुचि है या अशुभमें भी है ?

उत्तर :- द्रव्यलिंगीको शुभमें रुचि है । २७९



प्रश्न :- काया और कषायमें एकत्व है - क्या द्रव्यलिंगीको इसका खयाल आता है ?

उत्तर :- उसे खयाल नहीं आता ।

प्रश्न :- तो उसे धारणाज्ञान भी सही नहीं हुआ ?

उत्तर :- तत्त्वकी जानकारीका धारणाज्ञान तो उसे सही है, पर स्वयं कहाँ अटका है - यह उसके ज्ञानमें नहीं आता, वह (अपनी) कषायकी अतीव मन्दताको स्वानुभव मानता है । २८०



प्रश्न :- बन्धका कारण परद्रव्य और मोक्षका कारण स्वद्रव्य है न ?

उत्तर :- बन्धका कारण परद्रव्य नहीं है । परद्रव्य तो सदा ही विद्यमान रहता है, यदि वह बन्धका कारण हो तो कभी भी बन्ध रहित नहीं हो सकते । परद्रव्य-प्रतिके स्वामित्वभाव ही बन्धका कारण है । स्वद्रव्यका अस्तित्व अनादिसे होने पर भी मोक्ष नहीं हुआ, इससे सिद्ध हुआ कि स्वद्रव्यमें स्वामित्वभाव ही मोक्षका कारण है । स्वद्रव्यमें स्वामित्व-भाव होने पर परद्रव्यके विद्यमान होते हुए भी बन्ध नहीं होता । अतः स्वद्रव्यमें स्वामित्व भाव मोक्षका कारण है, और परद्रव्य ते प्रति स्वामित्वभाव बन्धका कारण है ।

२८१



'कालनयकी अपेक्षा जिनकी सिद्धि समय पर आधारित है' अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्चारित्र-केवलज्ञान आदि जिस प्रकार समय प्रकट होने वाले हैं, उसी समय प्रकट होते हैं । जिस समय जो होना है, उसी समय वह होता है । परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पुरुषार्थ बिना हो जाता है । कालनयसे ज्ञान करने वाले साधककी दृष्टि काल ऊपर नहीं, वरन् स्वभाव पर होती है । अतः वे कालनयसे, जानते हैं कि जिस समय चारित्र प्रकट होना है - उसी समय प्रकट होगा, जिस काल केवलज्ञान होना है-उसी समय प्रकट होगा । किसी मुनिको लाखों वर्षों तक चारित्र पालन करने पर भी केवलज्ञान प्रकट होनेमें समय लगता है, किसी मुनिको अल्प कालमें ही केवलज्ञान हो जाता है । अतः दीर्घकाल तक चारित्र-पालन करने वाले मुनिको अधीरता नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि केवलज्ञान होगा ही , सो अपने स्वकालमें ही प्रकट होगा । २८२



मांगलिकका अर्थ :- 'मंग' अर्थात् पवित्रता और 'ल' अर्थात् प्राप्ति । आत्मा आनन्द-स्वरूप है, उसके आनन्दकी प्राप्ति होना - वही मांगलिक है । वस्तु तो आनन्दस्वरूप है, किन्तु 'पर्यायमे उसकी प्राप्ति होना ही मांगलिक है' । भगवान् आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, सत् शाश्वतज्ञान और आनन्दस्वरूप है, पर्यायमे उसकी प्राप्ति होना ही मंगल है ।

२८३



दूसरा अर्थ :- 'मम्' और 'गल' । पुण्य-पापके रागरूप मैं हूँ और उसका फल भी मैं हूँ -ऐसा अहंकार ही 'मम्' अर्थात् विपरीत अभीप्राय है, उसका नाश ही 'गल' अर्थात् वही मंगल है । प्रथम अर्थ अस्तित्से है ; और दुसरा अर्थ नास्तित्से है । मिथ्यात्वका नाश ही मम् + गल = मंगल है । २८४



कैसा है चैतन्यभाव ? - कि विभु है, अर्थात् निज स्वरूप में व्याप्त होने वाला है । स्वयंके विशेषोंमें व्याप्त होनेवाला गुणोंका एकरूप विभु है । निज स्वरूपमें व्याप्त होनेवाला चैतन्यविभु है । वह पर्यायमें नहीं आता, ऐसा निर्णय, ऐसा अनुभव पर्यायमें है । परन्तु उस पर्यायमें वस्तु नहीं आती । अनुभवसे वस्तु भिन्न है, पर अनुभवकी दृष्टिमें मात्र एकरूप वस्तु ही है कि जो सर्व कर्म उपाधिसे रहित है - ऐसे अनुभव (अभ्यास) के संस्कार ही एक मात्र कर्तव्य है । २८५



आचार्यदेव कहते हैं कि अनेक प्रकारके शुभ विकल्प करनेसे कोई कार्यसिद्धि तो होती नहीं । कार्यसिद्धि तो अनंत-अनंत आनन्दके सागर-ऐसे आत्माकी ओर ढलनेसे ही होती है । उधर क्यों नही झुकता ? अनेक प्रकारके शुभ विकल्पोंकी क्रियामें जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे स्वानुभवरूपी कार्यको सिद्ध करनेसे भ्रष्ट होता जाता है । प्रथम आत्माका निर्णय करके स्वानुभवका प्रयत्न करना चाहिए । जो ऐसा नहीं करता, और शुभ विकल्पोंमें आगे बढ़ता जाता है, वह स्वानुभव-मार्गसे भ्रष्ट होता जाता है । अशुभकी ओर जानेकी तो बात है ही नहीं । श्रीमद् राजचंद्रजी भी कहते हैं कि 'केवल वांचन ही करते रहनेसे चिन्तन शक्ति घटती है' उसी प्रकार जैसे केवल शुभविकल्पों और क्रियाकाण्डमें बढ़ते जाते हैं, वैसे ही स्वानुभव - मार्गसे भ्रष्ट होते जाते हैं । सर्व



शास्त्रबोधका सार तो आत्मानुभव करना है । बारह अंगमें भी आत्मानुभूति ही करनेका निर्देश है । २८६



प्रश्न :- शुद्ध निश्चयका पक्ष तो करना न ?

उत्तर :- पक्ष करना माने क्या ? अनुभव होनेके पूर्व ऐसा पक्ष होता है कि मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति ही हूँ, पुण्यपाप भावरूप मैं नहीं हूँ - प्रथम ऐसा विकल्प सहित निर्णय होता है, पर यह मूल परमार्थवस्तु नहीं है । प्रथम शुद्ध निश्चयनयका पक्ष आता है - होता है पर अन्तर स्वानुभवसे निर्णय करना ही मूल वस्तु है । २८७



अहो ! यहाँ भगवानका विरह वर्तता है, अतः तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा - आचरणवालोंको रोकनेवाला कोई नहीं रहा । वस्तु तो अन्तरतत्त्व है और लोग बाह्य क्रियाकाण्ड में खो गए हैं। भाई ! हम तो वस्तुका जो सत्य स्वरूप है, वही कहते हैं । यह बात विपरीत श्रद्धावालोंको न रुचे तो क्षमा करें । भाई ! विपरीत श्रद्धाके फल बहुत भयंकर हैं । इसलिये तो श्री कुन्दकुंदाचार्यने कहा है कि हमारे शत्रुको भी द्रव्यलिंग न हो । हमको किसीके साथ व्यक्तिगत विरोध नहीं है। वे सभी द्रव्य स्वभावसे तो प्रभु हैं, अतः वे द्रव्य अपेक्षा तो साधर्मी हैं, जिससे हमको समभाव है। २८८



सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि शुद्ध निश्चयनयसे मैं मोह-राग-द्वेष रहित हूँ, इससे सम्यग्दृष्टिको कोई ऐसा नहीं लगता कि शुभ और अशुभ दोनों समान हैं, अतः अशुभ भले ही हों ? सम्यग्दृष्टि अशुभसे छूटने हेतु वांचन, श्रवण, विचार, भक्ति आदि करता है । प्रयत्न करके भी अशुभको छोड़कर शुभमें प्रवृत्त हो - शास्त्रमें भी ऐसा उपदेश है । परमार्थदृष्टिसे शुभ और अशुभ समान हैं, फिर भी स्वयंकी भूमिकानुसार अशुभसे छूटकर शुभमें प्रवृत्त होनेका विवेक रहता है और वैसे ही विकल्प भी आते हैं । २८९



स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद करना योग्य नहीं । तूँ तेरे आत्माका अनुभव कर । परके साथ वाद-विवादमे पड़ना ठीक नहीं । निधान प्राप्त कर, निज वतनमें जाकर, उसे भोगनेकी सीख है अतः निज-निधिको प्राप्त कर के अकेले भोगना

ही श्रेयकर है । २९०



प्रश्न :- सम्यक्-सम्मुख जीव तत्त्वके विचार कालमें रागको अपना जानता है या पुद्गलका?

उत्तर :- सम्यक्-सम्मुख जीव रागको अपना अपराध मानता है। और अन्तरमें उतरनेके लिए 'राग मेरा स्वरूप नहीं, रागरूप में नहीं' - ऐसा जानकर उनका लक्ष्य छोड़, अन्तरमें उतरनेका प्रयत्न करता है । २९१



प्रश्न :- स्वभाव-सन्मुख होने के लिए मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ आदि चिन्तन करते-करते अपूर्व आनन्द आता है, वह अतीन्द्रिय आनन्द है या कषायकी मन्दता, यह कैसे समझमें आए ?

उत्तर :- चिन्तनमें कषायकी अतीव मंदता होने पर उसे आनन्द मान लेना भ्रम है, वह सच्चा अतीन्द्रिय आनन्द नहीं है । अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद आते ही राग और ज्ञानकी भिन्नता प्रतीतिमें आती है - उस अतीन्द्रिय आनन्दका क्या कहना ! वह तो अलौकिक है । यथार्थ रूचि वाले जीवको कषायकी मन्दतामें अतीन्द्रिय आनन्दका भ्रम नहीं होता । अतीन्द्रिय आनन्दके स्वाद आए बिना उसे चैन नहीं होता । २९२



प्रश्न :- ज्ञानी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होते हैं ; और सम्यक् सन्मुख जीव भी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होते हैं; उन दोनोंकी विधि का प्रकार एक ही है, अथवा कोई अन्तर है ?

उत्तर :- ज्ञानी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होते हैं । उन्हें आत्माका लक्ष्य हुआ है, आत्मा लक्ष्यमें है, और उसमें एकाग्रताका विशेष पुरुषार्थ करने पर विकल्पोंसे छूटकर निर्विकल्प होते हैं । स्वसन्मुख जीवको तो अभी आत्माका लक्ष्य नहीं हुआ, आत्मा लक्ष्यमें नहीं आया, उसने धारणाज्ञानसे जाना है, (वह) प्रत्यक्ष नहीं हुआ । विकल्पपूर्वक आत्माका लक्ष्य धारणारूप हुआ है, उसे अन्तरपुरुषार्थ उग्र होते-होते सविकल्पता छूटकर निर्विकल्पता होती है ( इस प्रकार निर्विकल्प होनेकी विधिका प्रकार एक होने पर भी ज्ञानियोंने वेदनसे आत्माको जाना है और स्वसन्मुखवाले जीवने धारणासे - आनन्दके वेदन बिना -

आत्माको जाना है ) । २९३



प्रश्न :-विकल्पसे निर्विकल्प होनेमें सूक्ष्म विकल्प रोकते हैं , उनका क्या करना ?

उत्तर :- निर्विकल्प होनेमें विकल्प नहीं रोकते, पर तूँ अन्तरमें ढलने योग्य पुरुषार्थ नहीं करता, जिससे विकल्प नहीं टूटते । विकल्पोंको तोड़ना नहीं पड़ता, पर स्वरूपमें ढलनेका पुरुषार्थ उग्र होने पर विकल्प सहज ही टूट जाते हैं । २९४



एक समयकी निर्मल पर्यायको -जो सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पर्याय है - रत्नत्रय कहा है तो उसके फलरूप केवलज्ञानपर्याय महारत्न है और ज्ञानगुणकी एक समयकी वह पर्याय महारत्न है, तो ऐसी अनन्त-अनन्त पर्यायोंका धारक ज्ञानगुण भी महारत्न है । ऐसे ज्ञान, आनन्द आदि अनन्तगुणोंरूप महा-महा रत्नोंका धारक आत्मद्रव्य तो महारत्नोंसे भरा हुआ सागर है, उसकी महिमाका क्या कहना ! अहो ! इसकी महिमा वचनातीत है । उसकी अपार-अपार महिमा अनुभवगम्य ही है । ऐसे स्वभावका विश्वास और दृष्टि करे तो मालूम हो । २९५



सन्त कहते हैं कि हम हमारे स्वघरमें आए हैं । अब हम अनुकूलताके बर्फमें गलनेवाले नहीं और प्रतिकूलताकी अग्निमें जलनेवाले नहीं । हमारा ज्ञान-विलास प्रकट हुआ है, उसमें हम सोये सो सोये । अब हमें उठानेमें कोई भी समर्थ नहीं है । २९६



अनुभवकी शोभा वासत्वमें आत्मद्रव्यके कारण है । आत्मद्रव्य कूटस्थ होनेसे अनुभव में नहीं आता । अनुभव तो पर्यायका ही होता है, परन्तु पर्यायमें द्रव्यका स्वीकर हुआ, पर्यायकी ऐसी शोभा आत्मद्रव्यके कारण ही है । २९७



'समयसार' - अर्थात् सर्वज्ञकी दिव्य ध्वनिका वर्तमान पूर्णरूप । बारह अंग और चौदह पूर्वका दोहन ही 'समयसार' है और सम्पूर्ण समयसारका दोहन ४७ शक्तियाँ हैं । (आचार्य देवने) शक्तियोंका वर्णन कर के आत्माके परमात्म-स्वरूपको उजागर कर दिया है । इन शक्तियोंके वर्णनमें तो केवलीका हार्द है । 'समयसार' तो भरतक्षेत्रका अद्वितीय

शास्त्र है । २९८



अहो ! सम्यग्दृष्टि जीवको छः छः खंडके राज्यमें संलग्न होने पर भी, ज्ञानमें तनिक भी ऐसी मचक नहीं आती कि ये मेरे हैं, और छियानवै हजार अप्सरा जैसी रानियोंके वृन्दमें रहने पर भी उनमें तनिक भी सुखबुद्धि नहीं होती । अरे ! कोई नरककी भीषण वेदनामें पड़ा हो तो भी अतीन्द्रिय आनन्दके वेदनकी अधिकता नहीं छूटती है । इस सम्यग्दर्शनका क्या माहात्म्य है - जगतके लिए इस मर्मको बाह्य दृष्टिसे समझना बहुत कठिन है । २९९



दर्शन-मोहको मन्द किये बिना वस्तुस्वभाव ख्यालमें नहीं आता ; और दर्शन-मोहका अभाव किए बिना आत्मा अनुभवमें आ सके, ऐसा नहीं है । ३००



आत्माको पानेके लिए तो पूरा इसके पीछे पड़ना चाहिए । इसीका रटन करना चाहिए । सोते-जागते इसीका प्रयत्न करना चाहिए । रूचिकी यथार्थता बनी रहनी चाहिए । अन्तरमें परमेश्वर कितना महान है ! उसके दर्शन के लिये कौतूहल जागे तो उसके दर्शन-बिना चैन न पड़े । ३०१



कोई भी जीव स्वयंके अस्तित्व-बिना, क्रोधादि होनेके कालमें यह जान ही नहीं सकता कि ये क्रोधादि हैं । स्वयंकी विद्यमानतामें ही ये क्रोधादि जाने जाते हैं । रागादिको जानते हुए भी 'ज्ञान'...'ज्ञान' इस प्रकार मुख्य रूपसे जाननेमें आने पर भी ऐसा नहीं मानता हुआ कि 'ज्ञान'...वही 'मैं हूँ,' ज्ञानमें ज्ञात होनेवाले रागादि मैं हूँ - ऐसे वह रागको एकताबुद्धिसे जानता है - मानता है, जिससे वह मिथ्यादृष्टि है । ३०२



भाई, तेर महात्म्यत्की क्या बात ! जिसके स्मरणसे ही आनन्द आता है, उसके अनुभवके आनन्दकी क्या बात ! अहो ! मेरी सामर्थ्य कितनी ? - जिसमें दृष्टि डालते ही खजाना खुल जाए, वह वस्तु कैसी ? रागको रखनेका तो मेरा स्वभाव नहीं, पर अल्पज्ञताको भी नहीं रख सकता । स्वयंको ऐसी प्रतीति होने पर यह निश्चय हो जाता है

कि "मैं सर्वज्ञ होऊंगा," अल्पज्ञ रहनेवाला नहीं हूँ । ३०३



इस वस्तुके लिए प्रयोग करने हेतु अन्तरमें-मूलसे पुरुषार्थका उफान आना चाहिए कि "मैं ऐसा महान पदार्थ" !! ऐसे निरावलम्बन रूपसे, अन्यके आधार बिना, विचारकी धून चलते-चलते ऐसा आए, कि बाह्य व्यापार न सुहावे । यह अभी है तो विकल्प ही, पर ऐसा लगे कि यह...मैं...यह...मैं...ऐसे धोलनका जोर बढ़ते-बढ़ते इन विकल्पोंसे भी छूट कर अन्तरमें उतर जाते हैं । (निर्विकल्प होनेके पूर्व ऐसी दशा होती है ।) ३०४



इस आत्माके परमात्मा होनेकी बात तो अरबों रूपये देने पर भी सुननेको न मिले ऐसी है । यह परमात्माकी बात पैसेकी चीज ही नहीं है । इसका पैसोंसे मूल्यांकन नहीं होता । किसी भी बाह्य वस्तुसे मुल्यांकन हो सके - यह ऐसी चीज ही नहीं है । ३०५



सिरके टुकड़े करनेवालों और कंठ के छेदनेवालोंसे भी अपना जितना अहित नहीं होता, उतना अहित अपने विपरीत अभिप्रायसे होता है । जगतको अपने विपरीत अभिप्रायकी भयानकता भासित नहीं होती । ३०६



ज्ञान और रागके बीच भेदज्ञान होनेका यह लक्षण है कि ज्ञानमें रागके प्रति तीव्र अनादारभाव जगता है - यही ज्ञान और रागके मध्य भेदज्ञान होनेका लक्षण है । आत्मामें रागकी गन्ध भी नहीं । रागके जितने भी विकल्प उठते हैं, मैं उनमें जलता हूँ, वह दुःख-दुःख और दुःख हैं, विष हैं - ऐसा ज्ञानमें पूर्व निर्णय हो ; तो भेदज्ञान प्रकट होता है ।

३०७



यदि अपने पीछे विकराल बाघ झपट्टा मारता हुआ दौड़ता आ रहा हो तो स्वयं कैसे भागते हैं ! क्या वह मार्गमें विश्रामके लिए रुकेगा ? ऐसे ही यह 'काल' झपट्टा मारता चला आ रहा है और अन्तरमें काम बहुत करना है , स्वयंको ऐसा लगना चाहिए । ३०८



सत्य बात समझनेमें अडिग रहना - भी एक पुरुषार्थ है । ३०९

परावलंबी-भावों में कहीं न कहीं महिमा रह जाती है - जिससे आत्माकी महिमाका खून हो जाता है । ३१०



भाई ! तू शरीरकी और न देख ! तेरे विकल्प व्यर्थ ही जाते हैं ; और आत्माका कार्य भी नहीं होता । शरीर तो धोखा देगा...भाई ! तेरी आत्माका जो कुछ करना है सो कर ले । ३११



परसत्तावाले तत्त्वोंके ग्रहणका अभिमान, पर सत्तावाले तत्त्वोंके त्यागका अभिमान - यह अभिमान ही मिथ्यात्व है ; और वह सात व्यसनके पापसे भी भयंकर पाप है । ३१२



यह चैतन्यतत्त्व तो कोई अगम्य वस्तु है । वह बाह्य वैराग्यसे अथवा ज्ञानके क्षयोपशमसे मिलनेवाली चीज नहीं । अन्तरमें अव्यक्त होने पर भी प्रकट अचिंत्य वस्तु विराजमान है । उसके माहात्म्य-प्रति उपयोग जाए तब वह गम्य हो और जन्म-मरण टले - ऐसी यह वस्तु है । ३१३



जिसने एक बार प्रसन्न चित्तसे चैतन्यस्वभाव लक्ष्यगत किया, वह अवश्य ही निर्वाणका पात्र है । जिस पुरुषको निश्चयका पक्ष हुआ, उसको भले ही अभी अनुभव न हो, पर उसका वीर्य चैतन्यस्वभावकी ओर ढल रहा है । यही स्वभाव है... यही स्वभाव है - ऐसी स्वभाव-सन्मुखता में ही जोर होनेसे वह अवश्य अनुभव कर केवलज्ञान पाएगा ही । ३१४



सुनते समय इसे आत्माका स्वरूप स्पष्ट लगता है, फिर भी इसका भ्रमजाल बना रहता है- इसका कारण यह है कि उसने ज्ञानके पायेको गहरा रोपा ही नहीं । ३१५



वर्तमानमें लेशमात्र भी प्रतिकूलता आए तो इससे सहन नहीं होती , परन्तु भविष्यमें आनेवाली अनन्त प्रतिकूलताओंके कारणरूप भावोंसे छूटनेकी इसे दरकार ही नहीं ।



मूल चीज - ध्रुव वस्तु - इतनी सूक्ष्म है कि यह सूक्ष्मवस्तु हाथमें (अनुभवमें) आए तो बस ! अमृतकी वर्षा ही वर्षा हुयी । ३१७



स्मशानमें फूले पड़े मुर्दोको खानेमें काले कौओंको मजा आता है । ऐसे ही यह हृष्टपुष्ट दिखता शरीर फूले-मुर्दे समान है, जो उसमें सुख मानते हैं, वे सभी काले कौओं समान हैं । ३१८



हे नाथ ! चक्रवर्तीकी अवज्ञा भले ही हो जाए, पर आपके 'दर्शन'की अवज्ञा संभव ही नहीं। सर्वज्ञके ज्ञानसे अन्यथा परिणमित होने में कोई द्रव्य समर्थ नहीं । ३१९



शरीरकी क्रियासे और रागकी क्रियासे आत्माको पहचानना तो आत्माका अपमान है। ३२०



कर्मसे विकार होता है - जिन्होंने ऐसा माना, अरे !! उन्होंने तो आत्माका खून कर दिया। ३२१



जिसके ज्ञानमें तीनकाल और तीनलोकको जाननेवाले भगवान बैठे हों उसके भव होता ही नहीं, क्योंकि उसका ज्ञान सर्वज्ञस्वभावमें ढला है । ३२२



जीव लकड़ीका, लोहेका, अग्निका, जलका, बिजलीके स्वभावका विश्वास करता है, दवाकी गोलीका विश्वास करता है ; यद्यपि इनसे परमें कुछ भी होनेवाला नहीं है, फिरभी जीव इनका विश्वास करता है । तो जिसमें आश्चर्यजनक एक ज्ञानशक्ति है, ऐसी ऐसी अनंत शक्तियोंमें व्याप्त भगवान आत्मा अचिन्त्य शक्तिमय और सामर्थ्यवान है - इसका भरोसा करे तो भवभ्रमण छूट जाए। ३२३



हम सर्वज्ञ हैं और तेरे गर्ममें भी सर्वज्ञ-पद विद्यमान है । स्वभावमें विद्यमान सर्वज्ञपदका आदर हुआ, उसमें अनन्त सर्वज्ञोंका आदर हो गया - ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं। ३२४

भगवान जिसके हृदयमें बिराजते हैं, उसका चैतन्यशरीर राग-द्वेष रूपी जंगसे रहित हो जाता है । ३२५



बाल चुरानेकी तो क्या बात ! पर यह तो परमाणुको चुरानेकी बात है । परमाणु भी क्या, पर उसकी अनन्त पर्यायोंको चुरानेकी बात है । एक पर्यायको दूसरी पर्यायकी सहायता नहीं है । आत्माके अनन्तगुणोंकी पर्यायमें एक पर्यायको दूसरी पर्याय सहायक नहीं है । पर्याय पर्यायकी योग्यतासे षट्कारकसे स्वतंत्र परिणमित होती है । अहो ! यह तो जैन-दर्शनके हार्दकी-स्वतंत्रताकी मूल बात है । ३२६



जैसे रागकी मन्दता मोक्षमार्ग नहीं, वैसे व्यवहार-सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग नहीं, या मोक्षका कारण नहीं ; वैसे ही उनके साथ प्रवर्तित परसत्तावलम्बी ज्ञान भी न तो मोक्षमार्ग है और न ही मोक्षका कारण । स्वसत्ताको अनुभवमें लेनेकी योग्यतावाला ज्ञान ही मोक्षका कारण है । ज्ञानानुभूति...आत्मानुभूति ...यही मोक्षका कारण है । ३२७



पर्यायमे, इसके स्वकालमें ही मोक्ष होता है - जल्दी या देरसे नहीं हो सकता - ऐसा निर्णय करने लगे तब दृष्टि ध्रुव पर ही जाती है और इसीमें स्वभाव सन्मुख होनेका अनन्त पुरुषार्थ होता है और तभी पर्यायके स्वकालका वास्तविक ज्ञान होता है । जिसको आत्मकी श्रद्धा और ज्ञान सम्यक् हुए उसका कार्य तो हो ही रहा है, फिर जल्दी या देरका प्रश्न ही कहाँ रहा ? ३२८



है प्रभु ! आपने चैतन्यका अनन्त भंडार खोल दिया है । तो हे प्रभु ! अब ऐसा कौन होगा जो तिनके-समान चक्रवर्तिके राज्यको छोड़कर, चैतन्यरूपी खजानेको खोलने न निकल पड़े ? ३२९



यह आत्मा - यही जिनवर है - यही तीर्थंकर है । अनादि कालसे जिनवर है । अहा ! अनन्त केवलज्ञानकी बेल है । निज आत्मा ही अमृतका कुम्भ है - अमृतकी बेल है ; इसीमें एकाग्र होनेसे पर्यायमें जिनवरके दर्शन होते हैं । परमात्मा प्रकट होते हैं,



उसीको सम्यग्दर्शन कहते हैं । ३३०



भगवान सर्वज्ञ देव ऐसा कहतै हैं कि आत्मामें शरीर, संसार या रागादि हैं ही नहीं - सर्वप्रथम ऐसा निर्णय कर, आत्माका अनुभव कर ले । इसके बजाय जो ऐसा मानते हैं कि प्रथम शुभ क्रिया करने से, कषाय-मन्द करने से, आत्मा हल्का हो तब आत्माका अनुभव होता है , वे जीव देव-शास्त्र-गुरुके कथनका अनादार करते हैं । ३३१



निर्मल-पर्याय और त्रिकाली-द्रव्यका ज्ञान और अनुभव होने पर दृष्टिका आसन तो अव्यक्त पर है, व्यक्तके प्रति वह उदासीन ही है । ३३२



भगवान ! तूँ तो गुणोंका गोदाम है, पुण्य-पापके भावोंका गोदाम नहीं। भगवान आत्मा ज्ञायकभावरूप है ओर शुभाशुभ भाव अचेतन हैं। यदि ज्ञायकभाव शुभाशुभ रूप हो तो, जो चेतन है, वह अचेतन हो जाए। 'जाणक' - 'जाणक' भाव वह जड़से शुभाशुभ भावोंरूप हो तो, अचेतन हो जाए। अतः ज्ञायक तो ज्ञायक रूप ही रहता है ; वही सम्यग्दर्शनका विषय है। ३३३



स्व-पर-प्रकाशका पुंज प्रभु तो शुद्ध ही है, पर जो रागसे भिन्न होकर उसकी उपासना करे- उसीके लिए वह शुद्ध है । जिसको समस्त पर द्रव्यसे भिन्न होकर स्वमें एकाग्रता करते हुए शुद्धता प्रकट होती है उसके लिए वह शुद्ध है । रागादि-विकल्प रूप नहीं हुआ है अतः रागादिसे भिन्न होकर ज्ञायककी उपासना करने पर जिसको पर्यायमें शुद्धताका नमूना हुआ है उसके लिए वह शुद्ध है - ऐसा प्रतीतिमें आता है । वह शुद्ध है ऐसा विकल्पवालोंको (विकल्पकी एकतावालोंको) प्रतीतिमें नहीं आता । ३३४



जिसकी ज्ञानधारामें ज्ञायकका ज्ञान हुआ है; उसे रागादि परज्ञेयोंका ज्ञान उन ज्ञेयोंके कारणसे होता है - ज्ञानमें ऐसी पराधीनता नहीं है । शुभाशुभसे पृथक् होकर चैतन्यकी दृष्टि हुयी और ज्ञान-पर्यायमें स्व और परका ज्ञान हुआ, वह पर-सम्बन्धी ज्ञान पर-ज्ञेयके होनेके कारण हुआ- ऐसा नहीं है। ज्ञानके स्व-पर-प्रकाशक धर्मके कारण

परका ज्ञान हुआ है । इसीलिए राग और ज्ञेयको जाननेवाला ज्ञान, ज्ञेयकृत है - ऐसा नहीं; परन्तु वह ज्ञानकृत ज्ञान है । ३३५



ओहो हो ! आत्मा तो अनन्त विभूतियोंसे मंडित अनन्त गुणोंकी राशि, अनन्त गुणोंका विराट पर्वत है । वह सर्वांग पूर्ण गुणमय ही है, उसमें एक भी अवगुण नहीं । ओहो ! "यह मैं" - ऐसे आत्माके दर्शनके लिए जीवने कभी सच्चा कौतूहल किया ही नहीं ।

३३६



प्रश्न :- आत्माकी महिमा कैसे आवे ?

उत्तर :- आत्मवस्तु ज्ञानस्वरूप है, यह ज्ञायक तो अनन्त गुणोंका पिण्ड है, यह अखण्ड पूर्ण तत्त्व त्रिकाल अस्तिरूप है । इसका स्वरूप-इसकी सामर्थ्य अगाध पर आश्चर्यकारी है; जिसे समझे (भाव-भासन हो) तो आत्माकी महिमा और माहात्म्य आवे व रागका माहात्म्य छूट जाए । आत्मवस्तु कैसे अस्तित्ववाली है, कैसी सामर्थ्यवाली है ? इसका स्वरूप रुचिपूर्वक खयालमें ले तो इसका माहात्म्य आवे और राग व अल्पज्ञाताका माहात्म्य छूट जाए । एक समयकी केवलज्ञानकी पर्याय, तीनकाल-तीनलोकको जाननेकी सामर्थ्यवाली है, तो भी वह प्रतिक्षण नयी - नयी उत्पन्न होती है , तो उसके धारक त्रिकाली-द्रव्यकी सामर्थ्य कितनी ? इस प्रकार आत्माके आश्चर्यकारी स्वभावको पथार्थतः खयालमें ले तो आत्माकी महिमा आवे । ३३७



अहो ! इस मनुष्यगतिमें ऐसे परमात्मस्वरूप मार्गकी आराधना करनेका प्रारंभ करना, यह तो जीवनकी कोई धन्य पल है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायक ही है - ऐसा भावमें आए । चाहे जैसे प्रसंगमें भी मैं ज्ञायक हूँ ... मैं ज्ञायक हूँ ... यही भाव रहा करे, ज्ञायकका ही लक्ष्य रहे तो उस और ढलना होता ही रहे । ३३८



प्रश्न :- आत्मा प्राप्त करनेके लिए सारे दिन क्या करना ?

उत्तर :- सारे दिन शास्त्रका अभ्यास करना, विचार-मनन कर तत्त्वका निर्णय करना और शरीरादि व रागसे भेदज्ञान करनेका अभ्यास करना । रागादिसे भिन्नताका अभ्यास

करते-करते आत्माका अनुभव होता है । ३३९



व्यवहारनय उपचरित अर्थको बतानेवाला होनेसे अभूतार्थ है । सम्यग्दर्शनके विषयभूत त्रिकाली ज्ञायकभावरूप अभेदमें भेद नहीं होने पर भी व्यवहारनय उसमें भेद बतलाता है, अतः उसे असत्यार्थ कहनेमें आता है । व्यवहारनय त्रिकाली ज्ञायक-भावको छोड़कर ज्ञायकभावमें नहीं है ऐसे भेदोंको - पर्याय आदिको प्रकट करता है, इसीलिए अभूतार्थ है । पर्यायको गौण कर, व्यवहार रूप बतलाकर, व्यवहारको झूठा बतलाया है । ३४०



जैसे घने धुएँकी आड़में चूल्हे पर रखा हुआ लापसीका भगोना (तपेली) नहीं दिखता, वैसे ही पुण्य-पापके प्रेमरूपी धुएँकी आड़में ज्ञायकभाव दिखाई नहीं देता । पर्यायबुद्धि वालेको रागमें रस है - रुचि है, जससे अन्तरमें विराजमान सकल-निरावरण वीतराग मूर्ति ढकी रह जाती है। प्रबल कर्मके संयोगसे ज्ञायक-भाव तिरोभूत हो जाता है । तो भी ज्ञायक-भाव तो ज्ञायक भाव ही है , वह तिरोभूत नहीं होता । परन्तु प्रबल रागके संयोगसे अर्थात् रागकी रुचि और प्रेमके कारण ज्ञायक-भाव नहीं दिखाई देता, जिससे तिरोभूत हुआ है । ३४१



आनन्दधन प्रभु और रागके मध्य सन्धि है । वे निःसन्धि हुए ही नहीं, क्योंकि चैतन्य आनन्द प्रभु - ज्ञायकतत्त्व - और शुभाशुभ राग, ये दो भिन्न भिन्न तत्त्व हैं । ये दो एक रूप नहीं होने पर भी आत्मा और कर्म, अर्थात् आत्मा और रागमें विवेक नहीं करनेवाले - भिन्नता नहीं करनेवाले - शुभ भावमें विमोहित हो जाते हैं । ३४२



ज्ञायक-भाव और रागको पृथक न करनेवाले जीव व्यवहारसे विमोहित हैं, अर्थात् शुभराग करते करते लाभ प्राप्तिकी मान्यतावाले हैं । शुभोपयोग साधन हैं, व शुद्धोपयोग साध्य है, ऐसी मान्यतावाले रागमें लाभ माननेसे व्यवहारसे विमोहित हृदय हैं, तथा आत्मा और रागको एक मानते हैं । चैतन्यस्वभावको भूलकर रागके कर्तृत्वमें बह जानेसे, रागसे विमोहित हुए जीव पर्यायमें जो अनेकरूप-विश्वरूप-भाव प्रकट हैं, उन रूप ही आत्माका अनुभव करते हैं । ३४३



ज्ञायक ध्रुव-नित्यानन्द प्रभुको देखनेवाले भूतार्थदर्शी हैं, पर शास्त्रको जाननेवाले अथवा एक समयकी पर्यायको देखनेवाले भुतार्थदर्शी हैं - ऐसा नहीं कहा । पूर्णानन्दके नाथ प्रभुको निज-बुद्धिसे अर्थात् स्व-चैतन्य-और ढली हुई ज्ञानदशारूप मतिज्ञान द्वारा, भगवान ज्ञायक स्वरूप है ; और राग आकुलता स्वरूप है - ऐसा दोनोंका विवेक-भेद-विज्ञान करके वे अन्तर पुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकको आविर्भूत कर आत्माका ज्ञायक रूपसे अनुभव करते हैं । ३४४



अखण्ड आनन्दका नाथ प्रभु है, जो उसे जाने बिना ही गुण-गुणीके विकल्पमें मग्न हैं - वे व्यवहारमें ही मग्न हैं । ज्ञान है सो आत्माका है - ऐसे लक्षण-लक्ष्यके विकल्पोंमें रुके हुए हैं, तब तक व्यवहार ही में मग्न हैं । संसारके पाप भावोंमें, अथवा दयादान आदि भावोंमें अटके हुआंकी बात तो दूर, पर लक्षण-लक्ष्य और गुण-गुणीके विकल्पोंमें भी अटके रहने तक वे व्यवहारमें ही मग्न हैं । ३४५



राग-द्वेषरूप विकार-भाव, राग-द्वेषकी परिणति दुःख है । उससे मुक्त होनेकी इच्छावाले मोक्षार्थी पुरुषको सर्वप्रथम क्या करना ? - कि आत्माको जानना । यह तो चैतन्य रत्नाकार है । आत्मा चैतन्य-रत्नों से भरपूर है, विकारकी वृत्ति उससे भिन्न है । पुण्य-पाप रूप विकारोंसे भीन्न होकर सर्वप्रथम ज्ञायक सच्चिदानन्द प्रभुको जानो । ३४६



मोक्षार्थी पुरुष याने ? - कि अनन्त-सुख प्राप्ति और अनन्त दुःखके व्ययका अर्थी । परम आनन्द-लाभका अर्थी पुरुष - कि जो जगतका यश, कीर्ति, धन अथवा स्वर्गका अर्थी नहीं है - वही मोक्षार्थी है । जो एक मात्र पूर्णानन्दकी प्राप्ति और रागद्वेषके दुखके व्ययका अर्थी है, वही मोक्षार्थी है । ३४७



सर्व प्रथम क्रिया कौन-सी ? - कि सर्व प्रकारके भेदज्ञानमें प्रवीण होना ही सर्व प्रथम क्रिया है । "द्रव्य तो त्रिकाली और निरावरण है," पर वर्तमान पर्यायमें रागादिको मिश्रित कर रखा है । तो भी भेदज्ञानकी प्रवीणतासे, "राग-दशाकी दिशा पर-ओर है व ज्ञान-दशा स्व-ओर है" - ऐसे दो दशाओंके मध्य प्रज्ञाछैनी लगानेसे - भिन्नताका अनुभव हो सकता

है । ३४८



इस प्रकार सर्व प्रकारसे भेद-ज्ञानकी प्रवीणतासे क्या होता है ? - कि "यह अनुभूति है, सोही मैं हूँ" ; लेकिन व्यवहार रत्नत्रयका राग है सो मैं नहीं : ऐसे आत्मज्ञान होता है । ज्ञान लक्षणसे लक्षित चैतन्यस्वभावका अनुभव होने पर "यह अनुभूति ही मैं हूँ" ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है । ३४९



यह मनुष्य-भव मिला है सो भवका अभाव करनेके लिए मिला है, पैसा कमानेके लिए यह भव नहीं मिला, इसीलिए मृत्युके पूर्व ही आत्मकल्याणका यह कार्य कर ले । ३५०



सम्यग्दर्शनका लक्षण क्या कहा ? - कि भेद-ज्ञानकी प्रवीणतासे आत्मज्ञान द्वारा आत्माको जैसा जाना है, वैसा ही प्रतीतिमें आना - वही सम्यग्दर्शनका लक्षण है । ज्ञानमें पूर्णानन्द अभेद-अखण्ड आत्माका ज्ञान होने पर जैसा आत्मा जाना वैसी ही प्रतीति होने पर सम्यक्श्रद्धान प्रकाशित हो उठता है । ३५१



परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु ! तेरे ज्ञानकी पर्यायमें सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभवमें आता है । ज्ञानकी प्रकट दशामें सर्वको भगवान आत्मा अनुभवमें आता है ।

"अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा" अनुभवमें आने पर भी तू उसे नहीं देखता । क्यों ? - इसलिए कि पर्यायबुद्धिके वश हो जानेसे पर-द्रव्योंके साथ एकत्वबुद्धिके कारण स्व द्रव्यको नहीं देख सकता । ३५२



गुरु और शास्त्र तो दिशा बतलाते हैं कि रागादिरूप तू नहीं अतः वहाँसे दृष्टि हटा, और ध्रुवमें दृष्टि लगा । क्योंकि स्थिर वस्तुमें दृष्टि स्थिर हो सकती है, अस्थिर वस्तुमें दृष्टि स्थिर नहीं हो सकती । ध्रुव स्थिर वस्तु है, वह स्वयंके परिणाममें भी नहीं आती । अतः उस पर दृष्टि देनेसे दृष्टि स्थिर होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है । इस प्रकार शास्त्र और गुरु दिशा दिखलाते हैं, पर करना तो स्वयं अपनेको है । इसके बिना जन्म-मरणका अन्त नहीं आने वाला । ३५३



ज्ञानकी पर्यायमें वस्तु जैसी है वैसी, प्रथम ही, प्रत्यक्ष प्रतिभासमें आती है, पश्चात् आत्माको जैसा जाना वैसा 'मैं हूँ', इस प्रकार प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है, और बादमें उसमें अर्थात् अपनेमें स्थिरता होती है, तब साध्य आत्माकी सिद्धि होती है । ३५४



जैसे खीरके स्वादके आगे लाल ज्वारकी रोटी अच्छी नहीं लगती, वैसे ही जिन्होंने "प्रभु आनन्द स्वरूप है" - ऐसा स्वाद लिया है, उन्हें जगतकी किसी वस्तुमें रुचि नहीं होती, रस नहीं आता, एकाग्रता नहीं होती । निजस्वभावके सिवाय जितने विकल्प और बाह्य ज्ञेय हैं उन सभीका रस टुट जाता है । ध्यानमें बैठते हैं तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय एक होनेसे आनन्दका रस आता है - इतना अवकाश रखकर रागमें-बाहरमें आते हैं । ३५५



जब यह आत्मा स्वयं रागसे भिन्न होकर अपनेमें एकाग्र होता है, तब केवलज्ञानको उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान-ज्योति उदित होती है । और दर्शन-ज्ञानमय स्वभावमें अस्तित्वरूप जो आत्मतत्त्व है, उसमें एकत्वगत रूपसे बर्तित हो, तभी वह आत्मा स्व-समयमें प्रतिष्ठित हुआ - अतः उसे आत्मा कहा । ३५६



प्रभुको रागसे सम्बन्धवाला कहना - वह दुःखरूप है । रागसे एकता तोड़कर रागको जीतकर स्वभावसे एकता करे तो सच्चा "जैन" कहलाए । शाश्वत लक्षण युक्त स्वभावके साथ कृत्रिम भावको जोड़ना - वह तो दुःखरूप है - खेद है । प्रभु 'जिन' स्वरूपी आत्माको रागके छोटेसे छोटे रजकणके साथ सम्बन्धित बतलाना तो विसंवाद है, दुःखरूप है । ३५७



पवित्र-वस्तु अपवित्र रूपसे परिणमित हो तो वह उसकी शोभा नहीं । वस्तु अकषाय स्वरूप है, उसका अकषाय-भावरूप परिणमित होना वही उसकी शोभा है । एकरूपता जिसमें है - ऐसी वस्तु रागादि रूप परिणमित हो तो वह विविध रूपता है, जिससे वह अशोभनीय है । चैतन्यका जो त्रिकाली स्वरूप है उसका विचार करें तो एकरूपता ही शोभनीय है । सुन्दर वस्तु है, सो सुन्दर रूपसे परिणमित हो तो ही शोभा है । सत्शाश्वत-ज्ञान और आनन्द-स्वरूप भगवान् एकरूपकतामें रहे - वही उसकी शोभा है । (वस्तु) राग

रहित निर्विकल्प स्वरूप है, अतः निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमय एकरूपता ही उसकी शोभा है । ३५८



“मैं पूर्णानन्दका नाथ ज्ञायक प्रभु हूँ” ऐसे ज्ञायकके लक्ष्यसे जीव सुनता है; उसे सुनते हुए भी ज्ञायकका ही लक्ष्य रहता है । उसे चिन्तवनमें भी ऐसा जोर रहता है कि “मैं परिपूर्ण ज्ञायक वस्तु हूँ” - उस जीवको सम्यक्-सन्मुखता रहती है । मन्थनमें भी ज्ञायक ही का लक्ष्य रहता है। यह चैतन्य-भाव परिपूर्ण वस्तु है , उसे ऐसा जोर रहा करता है; भले ही उसे अभी सम्यक्दर्शन न हुआ हो । जितना कारणरूप पुरुषार्थ करना चाहिए उतना पुरुषार्थ न कर सके, तो भी उस जीवको सम्यक्-सन्मुखता होती है । ऐसे जिवको अन्तरमें ऐसी लगन लगती है कि “मैं जगतका साक्षी हूँ, ज्ञायक हूँ” । अन्तरमें ऐसे दृढ़ संस्कार ड़ाले कि जो फिर न बदले । जैसे सम्यक्दर्शन होने पर अप्रतिहत भाव बतलाया है, वैसे ही सम्यग्-सन्मुखतामें ऐसे दृढ़ संस्कार पड़ते हैं कि उस जीवको सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति निश्चित है । ३५९



प्रश्न :- सम्यक्दृष्टिके उपयोगमें शुद्ध आत्माका विचार चलता है, वही शुद्ध उपयोग है न ?

उत्तर :- नहीं । शुद्ध आत्माका विचार चले वह शुद्ध उपयोग नहीं है ; यह तो राग मिश्रित विचार है । शुद्ध आत्मामे एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हो - वह शुद्ध उपयोग है । जिसमें ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाताका भेद छूटकर केवल अभेदरूप 'चैतन्यगोला' अनुभवमें आता है - वह शुद्ध उपयोग है । ३६०



क्रिया-काण्डकी दृष्टिवालोंको ऐसा लगता है कि समयसार सुनते हैं, पर कोई आगे नहीं बढ़ता । उनहें तो बाह्य त्याग-तप-व्रत आदि क्रिया करे तो ही आगे बढ़ते दिखते हैं । पर भाई! समयसारको सुनकर परद्रव्यसे भिन्नता, परद्रव्यका अकर्तापन, रागादिभावोंमें हेयबुद्धि और अन्तरमें रही हुई परमात्मशक्तिकी उपादेयता - ऐसे जीवोंके श्रद्धा-ज्ञानमें निरन्तर घुटती रहती है । ऐसे इनके श्रद्धा-ज्ञानमें सुधार होता है; वे क्या आगे नहीं बढ़ें ? जिनके अन्तर श्रद्धा-ज्ञानमें सत्यके संस्कार पड़ते हैं, वे आगे बढ़ते हैं । जो श्रद्धा-

ज्ञानको यथार्थ किए बिना, त्याग-तप-व्रत आदि करते हैं, उन्हें आत्मानुशासनकार तो कहते हैं कि आत्मभाव बिना जो बाह्य त्याग आदि हैं- वह आज्ञानीकी अंतर दाह है । अन्तरंग मिथ्यात्वके त्यागबिना, बाह्य त्यागको सच्चा त्याग नहीं कहते हैं । अन्तरमें श्रद्धा-ज्ञान-स्वरूपाचरणचारित्रमें जो सुधार होता है, वही सच्चा सुधार है; बाह्य दृष्टिके आग्रहवालोंको वे नहीं दिखते । ३६१



प्रश्न :- जब (ध्रुव) द्रव्यमें पर्याय नहीं है तो फिर पर्यायको गौण कैसे करनेमें आता है ?

उत्तर :- (ध्रुव) द्रव्यमें पर्याय नहीं है, पर जो वर्तमान प्रकट पर्याय है, वह पर्याय पर्यायमें है। पर्याय सर्वथा ही नहीं - ऐसा नहीं है । पर्याय है - उसकी उपेक्षा कर, के गौण करके, नहीं है- ऐसा कहकर पर्यायका लक्ष्य छोड़ाकर, द्रव्यका लक्ष्य और दृष्टि करवानेका ही प्रयोजन है । इसीलिए द्रव्यको मुख्य कर भूतार्थ कह कर, उसकी दृष्टि करवानी है ; और पर्यायकी उपेक्षा कर, गौण कर, पर्याय नहीं है, पर्याय-असत्यार्थ है - ऐसा कहकर उसका लक्ष्य छोड़वाना है । परन्तु पर्याय यदि सर्वथा ही न हो तो उसे गौण करनेका प्रश्न ही कहाँ रहा ? द्रव्य और पर्याय दो मिलकर जो पूर्ण द्रव्य है वह प्रमाणज्ञानका विषय है । ३६२



स्वरूपकी लीला जात्यान्तर है । मुनिकी दशा अलौकिक जात्यान्तर है । मुनिराज स्वरूप-उपवनमें लीला करते-करते, यानि कि स्वरूप-उपवनमें रमते-रमते कर्मोंका नाश करते हैं । दुःखी होते होते नहीं, पर 'स्वरूपमें रमते रमते कर्मोंका नाश करते हैं, - ऐसी उसकी जात्यान्तर दशा है -लीला है । स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है , स्वरूपमें ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है । जो अन्तरकी आनन्द-क्रिडामें रमने लगे - उनकी लीला जात्यान्तर है ।

अरे ! सम्यक्-दृष्टिकी लीला भी जात्यान्तर है । कोई सम्यक्-दृष्टि युद्धमें हो, वे वहाँ से घर लौटकर ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्प आनन्दका अनुभव करते हैं । अरे ! कभी तो लड़ाईके प्रसंगमें हो तो भी समय मिलते ही ध्यानस्थ हो जाते हैं । अरे ! संसारके अशुभ-भावोंमें पड़े हों तो वहाँसे भी खिसक कर दूसरे क्षण ही ध्यानमें बैठते ही



निर्विकल्पता हो जाती है । वह वस्तु अन्तरमें मौजूद है । उसके माहात्म्यके जोरसे निर्विकल्पता हो जाती है । आहा हा ! जिसे रागसे भिन्नता हुयी, स्वरूपसे एकता हुयी, आनन्दके खजानेके ताले खुल गए हैं, वह अशुभ-भावके प्रसंगमेंसे खिसककर ध्यानमें निर्विकल्प आनन्दमें मग्न हो जाता है । यह सब चमत्कार पूर्णानन्दके नाथको जाननेका है, सम्यक्-दर्शनमें पूर्णानन्दके नाथके प्रकट होनेका है । सम्यक्दर्शनमें पूर्णानन्दका संपूर्णतः कब्जा हो जाता है, यह उसकी जात्यान्तर लीला है ।

अरे ! कोई जीव तो निगोदमेंसे निकलकर आठ वर्षकी आयुमें सम्यक्दर्शन पा, तुरन्त मुनि हो, स्वरूपमें एकाग्र होते ही अन्तर-मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और अन्तर-मुहूर्तमें देह छुटते ही सिद्ध हो जाते हैं । अहाहा ! स्वरूपकी जात्यान्तर लीला तो कोई अद्भूत है । पर सम्यक्-दर्शन बिना व्रत करे, तप करे, घर-बार छोड़कर मुनि हो जाए, तो भी इसकी लीला जात्यान्तर नहीं होती, संसारकी लीला थी और वही कि वही रहती है । ३६३



आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है । उसमें अनन्त गुण स्वभाव है, उसकी रुचि हुए बिना, उपयोग परमेंमे पलटकर स्वमें नहीं आ सकता । जो पाप भावोंकी रुचिमें पड़े हैं - उनकी तो बात ही क्या ! पर पुण्यकी रुचि वाले बाह्य त्याग करें - तप करें - द्रव्यलिंग धारण करें तो भी जब तक शुभकी रुचि है, तब-तक उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्वमें नहीं आ सकता । अतः प्रथम परकी रुचि पलटानेसे ही उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्वमें आ सकता है । मार्गकी यथार्थ विधिका यही क्रम है । ३६४



जिज्ञासु जीवको भूमिका अनुसार शुभाशुभ-परिणाम तो आयेंगे ही । रागको छोड़ू...छोड़ू-ऐसे राग पर दृष्टि रखनेसे राग नहीं छूटेगा । अतः एकदम (व्यर्थकी) उतावली नहीं करना । उतावली करनेसे राग नहीं छूटेगा बल्कि उलझन बढ़ जाएगी । राग छोड़ूँ-छोड़ूँ ऐसे नास्ति पक्षमें खड़े रहनेसे राग नहीं छूटेगा और उलझन होगी । स्वभावके अस्तिपक्षका यथार्थ पुरुषार्थ होने पर राग सहज ही छूट जायेगा । ३६५



यह करूँ...वह करूँ...यह करूँ, पंडिताई करूँ, जगतको बहुत-बहुत समझाऊँ,

दुनियाको लाभ हो तो मुझे भी कुछ लाभ हो न ? - ऐसी तृष्णारूप दाह ने इसे लपेट लिया है । भाई ! अन्तरमें जाना हो तो बाह्यकी रुचि छोड़ दे । अन्यको उपदेश दूँ व उससे मुझे लाभ हो-यह तृष्णारूपी दाह है, इस दाहसे तुझे अन्तरंगमें पीड़ा प्रकट हुयी है ।

३६६



अतीन्द्रिय आनन्दके वेदनमें आनन्दस्वरूप प्रभुको परसे भिन्न, दयादान आदिके भावसे स्पष्ट भिन्न देखनेमें आता है । शास्त्र सुनकर अथवा धारणासे उसे भीन्न जाना है - ऐसा नहीं, क्योंकि यह तो राग मिश्रित जानना है । परन्तु रागसे भिन्न निर्मल भेद-ज्ञानके प्रकाश द्वारा आत्माको भिन्न देखना - वही भीन्न जानना कहलाता है । ३६७



आहा हा ! वीतरागी सन्त वीतराग-भाव प्रकट करनेकी बात करते हैं । सन्त जो बात कहते हैं - वह वीतराग-स्वरूपकी दृष्टि करानेकी ही बात है, क्योंकि वीतराग-स्वरूपकी दृष्टि करे, तब ही वीतरागता प्रकट होती है । इसलिये कहते हैं कि मैं जो कहता हूँ उसकी "हाँ" करना । ऐसे ही ऐसे खड़े न रहना, बल्कि पुरुषार्थ करना ।

३६८



प्रश्न :- जिसके प्रतापसे जन्म-मरण टले और मुक्ति मिले, ऐसा अपूर्व सम्यक्दर्शन क्या पंचम कालमें जल्दी हो जाता है ?

उत्तर :- हाँ ! पंचम कालमें भी सम्यक्दर्शन क्षण भरमें होता है । पंचम काल आत्माको स्पर्श नहीं करता, आत्मा तो पंचम कालसे पार है । सम्यक्दर्शन प्रकट करना तो वीरोंका काम है, कायरका काम नहीं । पंचम कालमें न हो सके, अभी न हो सके - ऐसा माननेवाले कायरोंका यह काम नहीं । बादमें करेंगे ...कल करेंगे - ऐसे वायदे करने वालोंका यह काम नहीं । 'अभी करेंगे, आज ही करेंगे' - ऐसे वीरोंका यह काम है । आत्मा आनन्द स्वरूप है, उसकी ओर दृष्टि देनेवालोंको समय-काल क्या बाधा करेंगे ? ३६९



प्रश्न :- जब आत्मा-वस्तु अव्यक्त है तब वह कैसे जाननेमें आए ?

उत्तर :- वर्तमान वर्तती पर्याय व्यक्त है, प्रकट है - वह पर्याय कहाँसे आती है ? कोई वस्तु है जिसमेंसे आती है या शून्यमेंसे आती है ? जो तरंग है वह जलमेंसे आती है या शून्यमेंसे आती है ? वेसै ही पर्याय है वह शून्यमेंसे नहीं आती ; परन्तु अन्तर वस्तु जो अव्यक्त-शक्तिरूप है, उसमेंसे आती है । व्यक्त पर्याय अव्यक्त आत्मशक्तिको प्रसिद्ध करती है-बतलाती है । ३७०



प्रश्न :- वर्तमानमें कर्म बन्धन है, हीन दशा है, रागादि भाव वर्तते हैं, तो शुद्ध आत्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर :- रागादि-भाव वर्तमानमें वर्तते होने पर भी वे समस्त भाव क्षणिक हैं, नश्वर हैं, अभूतार्थ हैं, झूठे हैं - अतः उनका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्माका लक्ष्य करनेसे आत्मानुभूति हो सकती है । रागादि-भाव एक समयकी स्थितिवाले हैं और भगवान आत्मा नित्य स्थित रहनेवाला अबद्धस्पृष्ट है । इसीलिए एक समयकी क्षणिक पर्यायका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली शुद्धात्माका लक्ष्य करनेसे - दृष्टि करनेसे आत्मानुभूति हो सकती है । ३७१



प्रश्न :- हम गुरुवाणीसे आत्मवस्तुका स्वीकार करते हैं, फिर भी अनुभव होनेमें क्या कमी रह जाती है ?

उत्तर :- गुरुवाणी द्वारा स्वीकार करना अथवा विकल्पसे स्वीकार करना - वह वास्तविक स्वीकृति नहीं है । स्वयंके भावसे-निज आत्मासे स्वीकार होना चाहिए ।

कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि 'हम जो कहते हैं वह तूँ तेरे स्वानुभवसे प्रमाण करना ' । स्वयंके अन्तरसे यथार्थ निर्णय करे - उसे ही अनुभव होता है । ३७२



प्रश्न :- आत्माकी कैसी लगनी लगे तो छः मासमें सम्यक्दर्शन हो ?

उत्तर :- ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायककी लगनी लगनी चाहिए । ज्ञायककी धुन लगे तो छः मासमें कार्य हो जाए और उत्कृष्ट लगनी लगे तो अन्तर्मुहूर्तमें हो जाए । ३७३



अरे भाई ! तूँ रागादिसे निर्लेप स्वरूप प्रभु है । कषाय आती है, उसे जानना वही

तेरी प्रभुता है । कषायको अपना मानना - यह तेरी प्रभुता नहीं । तूँ तो निर्लेप वस्तु है, तुझे कषायका लेप लगा ही नहीं । आत्मा तो सदा ही कषायोंसे निर्लेप तैरता हुआ है । जैसे स्फटिकमणिमें परका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही कषायभाव-विभाव, ज्ञानमें ज्ञात होते हैं; पर उनका तुझमें प्रवेश ही नहीं हुआ । तूँ तो निर्लेप है । व्रतादिके विकल्प आते हैं, वे संयोगी-भाव ज्ञायकसे भिन्न हैं, ज्ञायककी जातिके नहीं है । अतः कुजात हैं, परजात हैं, परज्ञेय हैं ; स्वजात - स्वज्ञेय नहीं है । तूँ ज्ञायक स्वरूप निर्लेप प्रभु है - इस प्रभूताका अन्तरमें विश्वास होने पर, पर्यायमें प्रभुता प्रकट होती है । ३७४



प्रश्न :- (हमें) बहुत समयसे तत्त्वका अभ्यास करनपर भी आत्मा क्यों प्राप्त नहीं होता ?

उत्तर :- आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दका नाथ प्रभु है, इसके अतीन्द्रिय आनन्दकी तीव्र प्यास लगे, आत्माके सिवाय अन्य कहीं भी मिठास न लगे, रस न आए, जगतके पदार्थोंका रस फिका लगे, संसारके रागका रस उड़ जाए । अहो ! ! जिसके इतने-इतने बखान होते हैं - वह आत्मा, अनन्तानन्त गुणोंका पुँज प्रभु है कौन ? ऐसा आश्चर्य लगे, उसकी लगनी लगे, उसकी धूनमें चढ़े, उसे आत्मा मिले ही; न मिले ऐसा हो ही नहीं सकता । जितना (पुरुषार्थरूप) कारण हो उतना ही कार्य होगा । कारण बिना कार्य नहीं होता, कारणकी न्यूनतासे भी कार्य नहीं होता । जिसे आत्माके आनन्द स्वरूपकी अन्तरमें सच्ची लगनी लगे, छटपटाहट लगे, स्वप्नमें भी वह ही वह रहे - उसे आत्मा प्राप्त होता ही है । ३७५



जिन्हें आत्माके स्वरूपकी रुचि हुयी है, उन्हें शुभराग आते हैं, परन्तु उन्हें रागसे विरक्तिरूप वैराग्य होता है और आत्माकी अस्ति-ओरका शान्त उपशम रस होता है । राग होने पर भी रागसे आंशिक रूपसे पृथक् रहता है - इतना उपशम रस है । जिन्हें आत्माकी सच्ची रुचि नहीं उनके शुभभाव शुष्क और चंचल होते हैं । उन्हें निज-स्वभावका आश्चर्य और महिमा न आए व अन्य पदार्थोंका आश्चर्य और महिमा आए - उनके शुभभाव रुक्ष और चंचलता वाले होते हैं । ३७६



अरे भाई ! तूँ कहाँ रुक गया ? बाहरमें ही बाहरमें रुक गया, तब आत्मप्राप्ति कहाँसे हो? जैसे घरमें आनन्दका प्रसंग हो, और कोई परिवार-जन सन्ध्या तक घर न लौटे तो बुजूर्ग कहते हैं कि अरे भाई ? तूँ सारे दिन कहाँ रुक गया ? वेसे ही श्रीगुरु कहते हैं कि अरे भाई ! इस परमानन्दके धामरूप आत्मामें तूँ नहीं आया, और बाहर ही बाहर कहाँ रुक गया ? कितने तो संसारमे पापके कार्योंमें रूके रहते हैं और वहाँसे निकले तो शुभरागके काममें बाहर ही बाहर रुक कर, स्वयंके भगवानको भूल जाते हैं । जो स्वयंके अन्तरमें परमात्मा विराजते हैं - वहाँ नहीं आता उसे श्रीगुरु उलाहना देकर-करुणासे अन्तरमें बुलाते हैं । ३७७



भाई ! सबकुछ आत्मामें भरा हुआ है, बाहरमें कुछ नहीं है । आत्मामें ज्ञान और सुख भरा हुआ है - वहाँ देख, वहाँ नजर कर तो तुझे ज्ञान और सुख मिलेंगे । बाहरमें कहीं भी सुख नहीं है । अरे ! एक बेटा मर जाए और पीछे घरके लोग रोते हैं कि अरे बेटा ! तेरे बिना यह महल और मकान स्मशान जैसे लगते हैं । वैसे ही भाई ! आत्माको जाने बिना बाहरमें सब कुछ स्मशान जैसा है । ३७८



अपनेमें केवलज्ञान प्रकट करना - यह तो जीवका स्वभाव है । यह प्रकट नहीं हो सकता- ऐसा न मान । केवलज्ञान प्रकट करना यह दुष्कर है, ऐसा न मान । जीवको परमाणु बनाना हो तो यह नहीं हो सकता । अरे ! रागको नित्य रखना हो तो वह भी नित्य नहीं रख सकता, परन्तु शुद्धता प्रकट करना - यह तो जीवका स्वभाव है । यह कैसे न हो सके ? यह कैसे कठिन है? जीवमें स्थिर होना , शुद्धता प्रकट करनी - यह तो जीवका स्वभाव होनेसे हो सकता है । अतः "न हो सके" ऐसी मान्यतारूप शल्य छोड़ दे । ३७९

आत्मार्थी हठ नहीं करते कि मुझे झटपट मेरा काम करना है । स्वभावमें हठ काम नहीं आता । मार्ग सहज है - हठसे, उतावलीसे , अधीरतासे मार्ग हाथ नहीं आता । सहज मार्गको पानेके लिये धैर्य और विवेक चाहिए । ३८०



प्रश्न :- इस आत्माका स्वरूप ख्यालमें आने पर भी वह प्रकट कैसे नहीं होता ?

उत्तर :- इसके योग्य पुरुषार्थ चाहिए । अन्तरमें अपार शक्ति भरी है - उसका माहात्म्य आना चाहिए । वस्तु तो प्रकट ही है । वह तो पर्याय अपेक्षासे अप्रकट कहलाती है । ऐसे तो वस्तु प्रकट ही है, कोई आड़ या आवरण नहीं है । प्रथम तो वस्तुका माहात्म्य भासित होना चाहिए । भान हो तो माहात्म्य आए - ऐसा नहीं है, यद्यपि कितने ही ऐसा मानते हैं । परन्तु प्रथम माहात्म्य भासित हो तो माहात्म्य आनेपर; भान होता है - ऐसा है । ३८१



आत्माकी पहचान करानेका लिए "ज्ञान सो आत्मा, ज्ञान सो आत्मा " - ऐसा कहा है । कारण ज्ञान तो प्रकट अंश है, और आनन्दका अंश तो प्रकट नहीं है, प्रकट तो आकुलता है; इसीलिए ज्ञानके प्रकट अंश द्वारा आत्माकी पहचान करायी है । ज्ञानके प्रकट अंशको अन्तर्मुख करे, अर्थात् अखण्ड व स्वाकार हो जाए (द्रव्य-गुण शुद्ध हैं वैसे ही पर्याय भी शुद्ध हो जाती है)। आत्माको ज्ञानके अंशसे पहचान करानेका मूल कारण तो यह है । ३८२



(पर-सन्मुख ज्ञानमें होनेवाले पर-लक्ष्यको छुड़ाना और निजस्वरूप अस्तित्वको वैद्य-वेदकरूप जानना योग्य है - इस न्यायसे ...) जीवको ज्ञेय - ज्ञायक सम्बन्धी भ्रान्ति रह जाती है कि छः द्रव्य तो ज्ञेय हैं व आत्मा उनका ज्ञायक है । परन्तु जीवसे भिन्न पुद्गल आदि छः द्रव्य ज्ञेय और आत्मा उनका ज्ञायक है - ऐसा निश्चयसे नहीं है । अरे ! 'राग' ज्ञेय और 'आत्मा' ज्ञायक - ऐसा भी (परसम्मुखतासे) नहीं है । पर द्रव्योंसे लाभ तो नहीं, बल्कि पर द्रव्य ज्ञेय और तूँ उनको जानने वाला - सचमुच तो ऐसा भी नहीं है । मैं जाननेवाला हूँ, मैं ही स्वज्ञेय हूँ, मैं ही स्वयं को जानता हूँ । निज अस्तित्वमें जो है - वही स्वज्ञेय है, ऐसा परमार्थ बतलाकर पर-ओरका लक्ष्य छुड़ाया है । ३८३



अपनी अपेक्षासे अन्य द्रव्य असत् हैं, स्वयं ही सत् है । स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञानरूप सत् है । अतः स्वयंके सत्का ज्ञान करना । स्वयंके सत्का ज्ञान करने पर अतीन्द्रिय आनन्दकी झलक आए बिना रहती ही नहीं, और जो आनन्द न आए तो उसने निज सत् का यथार्थ ज्ञान किया ही नहीं । मूल बात तो अन्तरमें ढलना है - यही

सम्पूर्ण सिद्धांतका सार है। ३८४



भले ही जीव तथा राग भिन्न रहकर एक क्षेत्रमें रहें तो भी दोनों कभी भी न तो एक रूप हुए और न ही हो सकते हैं । अतः तूँ सर्व प्रकारसे प्रसन्न हो । प्रभु ! तेरी चीज ! कभी राग रूप हुई नहीं, इसीलिए तूँ तेरा चित उज्ज्वल कर, सावधान होकर रागसे भिन्नरूप आनंदस्वरूपका अनुभव कर । प्रसन्न होकर भेद-ज्ञान पूर्वक ऐसा अनुभव कर कि यह 'स्वद्रव्य ही मैं हूँ' । ३८५



यह आत्मा है सो ज्ञायक अखण्ड स्वरूप है । राग, कर्म व शरीर तो उसके नहीं, लेकीन पर्यायमें जो खण्ड-खण्ड ज्ञान है वह भी उसका नहीं । जड़इन्द्रियाँ तो उसकी नहीं, लेकिन भावेन्द्रिय व भावमन भी उसके नहीं । एक-एक विषयको जाननेवाली ज्ञानकी पर्याय; खण्ड-खण्ड ज्ञान है - यह पराधीनता है, परवशता है, यह दुःख है ।

३८६



ज्ञायकस्वभावका जहाँ अन्तरमें भान हुआ, जाननेवाला जाग उठा कि 'मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप हूँ' - ऐसा जब अनुभवमें आया, तब ज्ञानःघाराको कोई नहीं रोक सकता । चाहे जैसा रोग हो, पर वह तो शरीरमें है, वह आत्मामें कहाँ है ? रोग है उसे आत्माने जाना है, परन्तु आत्माने उसमें मिलकर नहीं जाना है । ३८७



दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे आत्मा प्राप्त नहीं होता, परन्तु जो वस्तु दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमति होती है, वही आत्मा है - ऐसे व्यवहार द्वारा परमार्थ समझा जाता है । दर्शन-ज्ञान-चारित्रका आलम्बन नहीं करवाते हैं, पर परमार्थका आलम्बन कराया है । दर्शन-ज्ञान-चारित्रको जो प्राप्त हो सो ही आत्मा है - ऐसा कहकर भेद द्वारा अभेदको बतलाया है । जब भेद द्वारा बतलाया तब भेदका आलम्बन नहीं करवाया, बल्कि भेदका आलम्बन छुड़वा कर अभेद आत्माका आलम्बन करवाया है - ऐसा समझना । ३८८



यहाँ तो जो ज्ञान आत्माके लक्ष्यपूर्वक होता है उसे ही ज्ञान कहते हैं । जो ज्ञान

इन्द्रियके लक्ष्यसे होता है, शास्त्रके लक्ष्यसे होता है, उसे ज्ञान ही नहीं कहते । त्रिकाली ज्ञायक भगवानके आश्रय बिना ग्यारह-अंगके ज्ञानको भी ज्ञान नहीं कहते । यह खंड-खंड ज्ञान है, अतः दुःखका कारण है । चैतन्य-ज्ञानपिण्डको ध्येय बनाकर जो ज्ञान होता है वह ज्ञान भले ही अल्प हो फिर भी सम्यक्ज्ञान है । ऐसे आत्मज्ञान रहित खंड-खंडज्ञान द्वारा हजारों लोगोंको समझाना आता हो तो भी वह ज्ञान, अज्ञान है; और वह खंड-खंड ज्ञान परवश होनेसे दुःख है । पर-सत्तावलम्बी ज्ञानको ज्ञान कहते ही नहीं ।

३८९



अहो ! जिसका क्षेत्र मर्यादित होने पर भी जिसके कालका अन्त नहीं, जिसके गुणोंका अन्त नहीं, - एसी अनन्त स्वभावी चैतन्य ज्योति सदा एकरूप चैतन्य स्वरूप ही रही है । आत्मवस्तु ही गम्भीर स्वभावी है, जब तक इसकी गम्भीरता भासित न हो तब-तक वास्तविक महिमा नहीं आती । इसकी गम्भीरता भासित होने पर आत्माकी ऐसी महिमा आती है कि यह महिमा आते-आते विकल्पोंको उलांघ जाती है, विकल्पोंको तोड़ना नहीं पड़ता, पर वे टूट जाते हैं और अतीन्द्रिय आनन्दका स्वानुभव होता है । ३९०



'ज्ञान और वैराग्यकी अचिन्तय शक्तिसे पुरुषार्थकी धारा प्रकट कर' । रागसे भिन्न हुए ज्ञानसे और रागकी विरक्तिरूप वैराग्यसे, धारावाही पुरुषार्थ कर । यर्थाथ दृष्टि करके उपर आ जा, अर्थात् रागसे भिन्न हो जा । प्रभु ! तू तो ऐसा है कि तेरी भूमिमे अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द पके । पुण्य-पापका कुआँ तो विषैली गैस वाला है, उसको देखने जाते ही आत्मा मर जाता है; और बगलमें चैतन्यकुआँ है जिसको देखने जाए तो क्रमशः कर्मोंका नाश होता है, संसार मर जाता है और जीव जी उठता है ।

३९१



प्रश्न :- तत्वका निर्णय करनेमें कितने वर्ष लगना ?

उत्तर :- कार्य हो जाए तो अन्तर मुहूर्तमें हो जाए, अन्यथा इसके निर्णयमें पूरा जीवन भी बीत जाए । इसमें कालका तो प्रश्न ही कहाँ है ? जो वीर्य विपरीततामें लगा है, उसे पूरा पलटकर अपनी ओर ढाले तो कार्य हुए बिना न रहे । जितना कारणरूप



पुरुषार्थ करना चाहिए उतना पुरुषार्थ न करे तब-तक कार्य नहीं होता । ३९२



प्रश्न :- आत्माकी रुचि हो पर इस भवमें सम्यक्दर्शन हो तो अगले भवमें हो जाए ?

उत्तर :- आत्मकी सच्ची रुचि हो उसे सम्यक्दर्शन होता है - होता है और होता ही है । जिसे यथार्थ रुचि और लक्ष्य हो उसे सम्यक्दर्शन न हो - ऐसा तीन कालमें भी नहीं हो सकता । वीर्यमें हीनता नहीं आनी चाहिए । वीर्यमें उत्साह और निःशंकता आनी चाहिए । कार्य होगा ही - ऐसा उसके निर्णयमें आना चाहिए । ३९३



जिसे आत्माकी सच्ची रुचि जगे उसे चौबीसों घंटे उसीका चिन्तन-घोलन और खटक रहा करती है, नींदमें भी उसी-उसीका रटन चला करता है । अरे ! नरकमें गिरे हुए नारकी भीषण वेदनामें हों, और यदि पूर्वमें सत् सुना हो तो उसका स्मरण कर एकदम अन्तरमें उतर जाते हैं, उन्हें प्रतिकूलता छूती ही नहीं न । और स्वर्गकी अनुकूलतामें हो तो भी अनुकूलताका लक्ष्य छोड़कर अन्तरमें उतर जाते हैं । यहाँ तनिक प्रतिकूलता हो तो अरे ! मेरे ऐसा है और वैसा है, ऐसा कर-करके अनन्त काल गँवाया है । अब तो इनका लक्ष्य छोड़कर अन्तरमें उतर जा न । भाई !! इसके बिना सुखका अन्य कोई मार्ग नहीं । ३९४



अहो ! यह आत्मतत्त्व तो गहन है । आखें बंद करके बाहरके पांचो इन्द्रियोंके व्यापारको बन्द कर, मन द्वारा इसका विचार करे कि अहो ! यह आत्मवस्तु अचिन्त्य है । ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक ही है - ऐसा विकल्पसे निर्णय करते हैं, तथापि वह अभी परोक्ष निर्णय है । परोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष स्वानुभव नहीं हुआ, अतः उसे परोक्ष कहा । मनसे बाहरका बोझा बहुत घटा डाले, तब मन अन्तरके विचारमें स्थिर हो और वहाँसे भी फिर खिसक कर अन्तर-स्वभावकी महिमामें मग्न हो, तब आनन्दका अनुभव होता है - इसे सम्यक्दर्शन कहते हैं । ऐसा वस्तुका स्वरूप है और उसे पानेका यह उपाय है । इसमें कोई व्याकुल होने जैसी बात नहीं है । स्वभावका आश्रय तो बेचैनीका नाश कर डालता है । अभी लोग बाह्य क्रियाकाण्डमें बह गये हैं । उन्हें तो मन द्वारा भी सत्यनिर्णय करनेका अवसर नहीं है । ३९५



आहाहा ! क्षणमें अनेक प्रकारके विचित्र रोग हो जाए - एसा शरीर है । कहाँ शरीर और कहाँ आत्मा ! इनमें तनिक भी मेल नहीं है । अहा ! ऐसी दुर्लभ मनुष्य देर मिली और ऐसा वीतराग मार्ग महाभाग्यसे मिला है, अतः मनका अधिकतम बोझा घटाकर आत्माको पहचाननेका प्रयत्न करना चाहिए । पांच इन्द्रियोंके रसरूप बोझेको हटाकर आत्माको पहचाननेके विचारमें लगना चाहिए । अन्दरमें अनन्त आनंद आदि स्वभाव भरे हैं - ऐसे स्वभावकी महिमा आए (पहचान-होने पर) तब अन्तर पुरुषार्थ स्फुरित हुए बिना रहे ही नहीं । ३९६



प्रश्न :- प्रथम अशुभ-रागको टाले और शुभ-राग करे तो पीछे शुद्ध भाव होता है - ऐसा क्रम तो है न ?

उत्तर :- ऐसा क्रम नहीं । सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट किया जाता है, बादमें शुभ-राग एकदमसे नहीं टाल सकता ; इसलिए पहले अशुभ-रागको टालने पर शुभ-राग आते हैं । यह साधकके क्रमकी बात है । ३९७



प्रश्न :- तो अज्ञानीको क्या करना ?

उत्तर :- अज्ञानीको पहले वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान कर, आत्माका भान करना चाहिए - यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका सच्चा उपाय है । शुभ-रागरूप क्रिया-काण्ड करना - वह सच्चा उपाय नहीं है । ३९८



आत्माको सदा ही ऊर्ध्व अर्थात् मुख्य रखना चाहिए । चाहे जैसा प्रसंग आए तो भी द्रव्य-स्वभावको मुख्य रखना । शुभाशुभ-परिणाम भले ही आए पर नित्य द्रव्यस्वभावका ध्येय रखना । आत्माको मुख्य रखने पर जो दशा होती है वह निर्मल-दशा साधन कहलाती है और उसका साध्य केवलज्ञान करना है और उसका ध्येय पूर्ण आत्मा है । कषायकी मन्दता अथवा क्षयोपशम ज्ञानके विकासकी मुख्यता होगी तो दृष्टि संयोग पर जाएगी । आत्माकी ऊर्ध्वताकी रुचि और जिज्ञासा हो तो उसका प्रयास हुए बिना रहे ही नहीं । जिसको आत्मानुभवके पहले भी यथार्थ जिज्ञासा हो, उसीको अव्यक्तरूपसे आत्माकी ऊर्ध्वता है । यहाँ अभी आत्मा जाननेमें तो आया नहीं, पर उसकी ऊर्ध्वता

अव्यक्त रूपसे रहती है, और वह अनुभवमें आए तब व्यक्त प्रकट ऊर्ध्वता होती है ।

३९९



क्षणभंगुर संयोगके लक्ष्यसे होनेवाले परिणाम क्षणमें पलट जायेंगे, पर जब शाश्वत रहनेवाले आत्माका लक्ष्य करे तब परिणाम शुद्ध होंगे, और ये शुद्ध परिणाम शुद्ध रूपसे शाश्वत बने रहेंगे। आनन्दस्वरूप-ज्ञायकस्वरूप-भगवान् आत्माका अद्भूत, आश्चर्यकारी और गहन स्वभाव है । इस स्वभावका लक्ष्य करना - यही इस दुर्लभ भवकी सार्थकता है । ४००



एक आत्मा ही सार है । व्यवहार-रत्नयत्रका विकल्प सार नहीं, एक समयकी पर्याय भी सार नहीं है । सारका सार तो एक आत्मा ही है । चौदह ब्रह्माण्डमें सारका सार एक आत्मा ही है, इसके सिवाय अन्य सब कुछ निस्सार है । पैसा, लक्ष्मी, चक्रवर्तीपद, इन्द्रपद ये सभी निस्सार हैं । एक चैतन्य बादशाह ही जगतमें सार है । अनाकुल आनन्दका कन्द, ध्रुव, सामान्य वस्तु - वह एक ही सार है । चक्रवर्तीपद या इन्द्रका इन्द्रासन - वह भी सार नहीं है । ४०१



पर्यायके बगलमें ही भगवान् पूर्णानन्दका नाथ बिराजमान है - वह सर्वोत्कृष्ट चीज है, आश्चर्यकारी चीज है । स्वयंका सर्वोत्कृष्ट भगवान् आत्मा सिद्धिकी पर्यायसे भी सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि सिद्धदशा तो एक समयकी पर्याय है और आत्मा तो अनन्त सिद्ध-पर्याय जिसमेंसे प्रकट होती हैं - ऐसा द्रव्य है, वह सर्वोत्कृष्ट है । अपरिमित, अमर्यादित, ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त शक्तियोंका पिण्ड सर्वोत्कृष्ट आत्मा है । सर्वोत्कृष्ट चीजके जो दृष्टि स्वीकार करे - वह सम्यग्दृष्टि है । पर्याय और गुणभेदको स्वीकार करनेवाली दृष्टि सम्यक् नहीं । ४०२



जो छूट जाती है वह तो तुच्छ वस्तु है, उसे छोड़ते हुए तुझे डर कैसे लगता है ? शरीर छूटने पर या वाणी बन्द होने पर तुझे डर कैसा लगता है ? ये तो तुच्छ वस्तुयें हैं, उन्हें छोड़ते हुए तुझे डर कैसे लगता है ? जो आश्चर्यकारी सर्वोत्कृष्ट प्रभु है उसका

आश्रय ले तो तुझे आनन्द झरेगा ।चिन्तामणि रत्न कहो, कल्पवृक्ष कहो, कामधेनु कहो - वह आत्मा स्वयं ही है । जब-जब उसका आश्रय करेगा, तबतब आनन्दका अस्वादन होगा । ४०३



संयोगका लक्ष्य छोड़ दे और निर्विकल्प एकरूप वस्तु है उसका आश्रय ले । वर्तमान (पर्याय)में त्रिकाली-ज्ञायक सो मैं हूँ - ऐसा आश्रय कर । गुण-गुणीके भेदका भी लक्ष्य छोड़कर एकरूप गुणीकी दृष्टि कर - तुझे समता होगी - आनन्द मिलेगा - दुःखका नाश होगा । एक चैतन्य वस्तु ध्रुव है, उसमें दृष्टि देनेसे तुझे मुक्तिका मार्ग प्रकट होगा । अभेद वस्तु कि जिसमें गुण-गुणीके भेदका भी अभाव है वहाँ जा । तुझे धर्म होगा, रागसे छूटनेका पन्थ हाथ आएगा, विकार और दुःखसे छूटनेका पन्थ तेरे हाथ लगेगा । ४०४



स्त्री-पुत्र-पैसा आदिमें रचे-पचे रहना - यह तो सर्पका बड़ा धर है, जहरीला स्वाद है । पर शुभ-भावमें आना - यह भी संसार है । जो परम पुरुषार्थी महाज्ञानी अन्दर खोये वे फिर बाहर नहीं आए । ४०५



सम्यग्दृष्टिको तो बाहरके विकल्पोंमें आना रूचता ही नहीं । यहाँ तो विशेष दशावालोंकी बात ली है कि महाज्ञानी अन्तरमें जम गये हैं । अहो ! वह धन्य दिवस कब आए कि मुझे बाहर आना ही न पड़े - ज्ञानीकी ऐसी भावना होती है । समकितीको ऐसी दशाकी भावना होती है ; पर मैं दुनियाको समझाऊँ आदि भावना नहीं होती । ४०६



स्त्री-पुत्र-पैसा-आबरू आदिमें या रागकी मन्दतामें सुख है - जो ऐसा मानते हैं उन्होंने जीवको मार डाला है; क्योंकि उनका अभिप्राय ऐसा है कि मैं आनन्दस्वरूप नहीं, पर मुझे मेरा आनन्द बाहरसे मिलता है । चैतन्यपरिणतिसे जीना - वही जीवका जीवन है, अन्य सब तो चलते मुर्दे हैं । पामर पर वस्तुमें दृष्टि लम्बाकर सुख मानते हैं, पर 'प्रभु तूँ दुःखी है' । जहाँ आनन्दका धाम-आनन्दका ढेर है - उसे जिसने प्रतीति और ज्ञानमें लिया, उसे ज्ञान और आनन्दरूप परिणति होती है - यही वास्तविक जीवन है । ४०७



बाहरमें उत्साहित न हो, भाई ! यब सब तो क्षणभंगुर है और अनन्त बार मिला है, बाहरमें जो सर्वस्व माना है उसे पलट कर ऐसा मान कि अनन्त गुणका पिण्ड आत्मा - यही मेरा सर्वस्व है । भगवान पूर्णानन्दका नाथ-चैतन्यकी जगमग ज्योति है, उस रूप परिणमन हो - वही जीवका जीवन है । जो पुण्यपाप व उसके फलमें सर्वस्व मानता है, वह असाध्य-बेसुध हो गया है । अतः अब बाहरमें माने गए सर्वस्वको पलटकर, स्वमें सर्वस्व मान । ४०८



प्रभु ! तेरी चीज़ तो निर्मल है, जिससे तुझे प्रभु ! निर्मल परिणति मिलेगी । (राग रूप मलिन परिणति नहीं मिलती) । राग मेरा है व उससे मुझे लाभ होगा - ऐसी पकड़ है; पर चैतन्यस्वरूप आत्माकी पकड़ करे तो संसार रूपी मगरमच्छके मुखमेंसे छूट सके । प्रभु ! तुझमें शक्ति है, तूँ परसे भिन्न हो सकता है । मगरमच्छ तो कदचित् न भी छोड़े, पर तूँ परसे भेदज्ञानकर संसार रूपी मगरमच्छके मुखमेंसे छूट सके - ऐसा है । अतः परसे भिन्न होकर अपनी आत्मको पकड़ । ४०९



रागी हूँ या रागी नहीं हूँ, वस्तु तो ऐसे नयोंसे अतिक्रान्त है । व्रत-तपादिका राग-यह तो स्थूल राग है, पर रागी हूँ या रागी नहीं हूँ, ऐसे सूक्ष्म रागसे भी शुद्ध चैतन्यतत्त्वके अन्तरमें नही जा सकते । वस्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप होनेसे शुद्ध निर्मल परिणाम द्वारा ही पकड़ी जा सकती है, याने कि अन्दर जा सकते हैं । "मैं शुद्ध हूँ" - ऐसे विकल्पसे भी वस्तु हाथ आने वाली नहीं । ४१०



पहले रागकी मन्दता करूँ - ऐसा रहने दे व एकदम पुरुषार्थ कर । विकल्पके वायदे रहने दे व एकदम पुरुषार्थ कर । जैसे कोई कुएँमें खड़ा गिरता है और तलका अंश ले आता है - वैसे ही एकदम पुरुषार्थ करके, ध्रुव जिसका तल है वहाँ गहरा उतर जा । त्रिकाल ज्ञायक-भाव आनन्दका नाथ प्रभु है ! वहाँ गहरा उतर जा । पर्याय तो ऊपर-ऊपर है, द्रव्यमें समाविष्ट नहीं हुयी है । पर्यायका लक्ष्य द्रव्यमें ले जा । पर्याय तो द्रव्यमें नहीं जाती, पर पर्यायका लक्ष्य द्रव्यमें ले जा । ४११



कहीं रुकना नहीं । जब-तक विकल्पकी कुछ भी खटक रहा करेगी तब-तक अन्दर नहीं जा सकेगा । अभी जवानी है अतः कमाई कर लेंवे - यह रहने दे, बापू ! सर पर मौतके नगाड़ बज रहे हैं । बादमें करूँगा-बादमें करूँगा - ऐसा न कर । अन्दरमें "यह करूँ-यह करूँ" के वायदेका कोई भी विकल्प रहे तो अन्दर नहीं जा पाएगा ।

४१२



द्रव्य सदा निर्लेप है । किसको ? - कि जो उसे जाने उसको । संयोग और राग परसे दृष्टि हटाकर, एक समयका जिसका अस्तित्व है उसका लक्ष्य छोड़कर, भगवान जो निर्लेप है - उसकी दृष्टि करे तो समयगदर्शन हो । ४१३



यह आत्मा प्रत्यक्ष है । जैसे सामने कोई चीज प्रत्यक्ष होती है न ! वैसे ही यह आत्मा प्रत्यक्ष है । उसे देख - ऐसा आचार्य देव कहते हैं । यह शरीर है, कुटुम्ब है, धन, मकान, वैभव है - ऐसा तूँ देखता है, पर ये सब तो तेरेसे अत्यन्त भिन्न पर द्रव्य हैं; उनसे भिन्न यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है । उसे देखे तो तेरा मोह तुरन्त नष्ट हो जायेगा । ४१४



प्रश्न :- सम्यगदर्शन होनेके पूर्व अनुमानज्ञानसे आत्मा जैसा है वैसा जाना जा सकता है न ?

उत्तर :- पहले अनुमानज्ञानकी सहायतासे जाने, पर स्वानुभवमें ही आत्मा जैसा है - वैसा ज्ञात होता है ।

प्रश्न :- अनुमानज्ञानसे आत्मा जाननेवालेकी पर्यायमें भूल है या आत्मा जाननेमें भूल है ?

उत्तर :- अनुमानज्ञान वालोंने आत्माको यथार्थ जाना ही नहीं । आत्माको जाननेमें ही भूल है । स्वानुभव प्रत्यक्षसे ही आत्मा जैसा है वैसा जाननेमें आता है । अनुमानसे तो शास्त्र व सर्वज्ञ कहते - वैसा आत्मा जानते हैं, परन्तु यथार्थरूपसे तो स्वानुभवमें ही ज्ञात होता है । स्वानुभवसे जाने बिना आत्मा यथार्थरूपसे जाननेमें नहीं आता । ४१५



आहा हा ! आनन्दका नाथ परमात्म-स्वरूप आत्मा - यह महा गम्भीर वस्तु है ।

लोगोंको अपरिचितसा लगता है । जैसे अपरिचित देशमें जायें तो अपरिचितसा अपरिचितसा लगता है । पर बापू ! ये तो भगवानके देशकी बातें हैं, जो इन्हें रुचिसे सुने तो उसके निज-धरकी ही बातें हैं । अपरिचित कुछ नहीं, अपना ही है । अनन्त-अनन्त जन्म-मरणके नाशकी बातें हैं । इसके लिए अभ्यास चाहिए, निवृत्ति चाहिए । लौकिक पढ़ाईमें भी दस-पन्द्रह वर्ष लगाते हैं, तो इसका भी थोड़ा समय निकाल कर अभ्यास करना चाहिए । यह वस्तु गम्भीर है । निश्चय किस प्रकार है, व्यवहार किस प्रकार है, आदि जानना चाहिए । ये तो सर्वज्ञकी जानी और कही हुई बातें हैं, इन्हें रुचिपूर्वक अन्तरमें उतर कर अनुभव करे - तो इसकी महीमा कैसी और कितनी है ! सो खयालमें आए ।

४१६



आत्मा हर प्रकारके संयोगमें भी निज-शान्ति प्रकट कर सकता है । अपनी शान्ति प्रकट करनेमें जगतका कोई बाह्य पदार्थ विघ्न डालनेमें समर्थ नहीं । चाहें जैसे तीव्र प्रतिकूलताके प्रसंग आ पड़े - पुत्र मर जाए, पुत्री विधवा हो जाए, जंगलमें अकेला पड़ गया हो और हैजा आदि रोग हो गये हों, क्षुधा-तृषाकी तीव्र वेदना हो या सिंह-बाध दहाड़ता हुआ खा जानेके लिये आया हो, इत्यादि जैसे तीव्र प्रतिकूल प्रसंगों में भी उन संयोगोंका लक्ष्य छोड़कर, अन्तरमें आत्मा अपनी शांति प्रकट करनेमें समर्थ है । बाहरमें वर्तती प्रतिकूलता अन्दरमें आत्मशान्तिको नहीं रोक सकती । शास्त्रमें तो कहा है कि नरकके एक क्षणकी भी पीड़ा ऐसी है कि उसे कोटि जीभोंसे कोटि वर्षों तक कहें तो भी नहीं कही जा सकती - नरककी पीड़ा ऐसी प्रचंड है, फिर भी इस संयोग और पीड़ाका लक्ष्य छोड़ दे तो आत्मा निज-शांति प्रकट कर सकता है । भाई ! तेरा तत्त्व सदा विद्यमान है, उसमें लक्ष्य करनेसे निज-शांति प्रकट की जा सकती है । ४१७



जाननेवाला .... जाननेवाला.... जाननेवाला - वह मात्र वर्तमान जितना ही सत् नहीं है । ज्ञायक तत्त्व तो अपना त्रिकाली सत्त्व बता रहा है । ज्ञायककी प्रसिद्ध वर्तमान जितनी ही नहीं, बल्कि वर्तमान है सो तो त्रिकालीको ही प्रसिद्धि कर रहा है । ज्ञायककी वर्तमान अस्ति तो त्रिकाली अस्ति-सत्को बतलाती है । ४१८



प्रश्न :- मिथ्यात्व-आस्त्रवभावको तोड़नेका वज्रदण्ड है । उसका आश्रय लेनेसे मिथ्यात्व-आस्त्रव भाव टूटते हैं । प्रथममें प्रथम कर्तव्य रागसे भिन्न होकर ज्ञायकभावकी दृष्टि करना - यह है । यह कार्य किए बिना व्रतादि सब थोथे हैं । ४१९



भाई ! तूँ संसारके प्रसंगोको याद किया करता है, पर तूँ स्वयं पूर्णानंदका नाथ अनन्त गुणरत्नोंसे भरा हुआ महाप्रभु सदा ऐसाका ऐसा ही रहता है - इसे याद कर न !! स्त्री-पुत्र आदिको इस प्रकार प्रसन्न रखा था और इस प्रकार भोगविलासमें मौज-मजे मानें थे - ऐसे याद करता है - स्मरण करता है, पर ये सब तो तेरे दुःखके कारण हैं । सुखका कारण तो तेरा स्वभाव है । वह तो सदा ही शुद्ध रूपसे, ऐसाका ऐसा ही विद्यमान है । चार गतियोंमें भ्रमण करने पर भी तेरा स्वभाव सुखसागरसे भरा हुआ ऐसाका ऐसा ही रहा है - उसे याद कर न ! उसका स्मरण कर न ! यह एक ही तेरी सुख-शांतिका कारण होगा । ४२०



भाई ! तूँ सावधान रहना । मुझे आता है - ऐसे बुद्धिबलके अहममें अभिमानके रास्ते न चले जाना । विभावका रास्ता तो अनादिसे पकड़ा हुआ ही है । ग्यारह अंगके ज्ञानमें - धारणामें तो सब कुछ आया था, परन्तु शास्त्रके धारणा-ज्ञानकी अधिकता की; और आत्माकी अधिकता नहीं की । धारणा-ज्ञान आदिके अभिमानसे बचानेके लिए गुरु चाहिए, सर पर टोकने वाले गुरु चाहिए । ४२१



प्रभु ! क्षयोपशमके अभिमानसे दूर रहना ही अच्छा है । बाह्य प्रसिद्धिके भावसे व बाह्य प्रसिद्धिके प्रसंगोंसे दूर-भागनेमें ही आत्मार्थीको लाभ है । क्षयोपशमज्ञानके कारण लोग मान-सन्मान-सत्कार करते हैं, पर आत्मार्थीको इन प्रसंगोंसे दूर-भागना ही योग्य है । ये मान-सन्मानके प्रसंग निस्सार हैं , तनिक भी हितकर नहीं । एक आत्मस्वभाव ही सारभूत और हितकारी है । अतः "क्षयोपशम" के अभिमानसे दूर-भागकर आत्म-सम्मुखता करना ही योग्य है । ४२२



जड़-द्रव्येन्द्रिय, खंड-खंड ज्ञानरूप भावेन्द्रिय और पांच इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थ,



इन तीनोंको ज्ञायकके अवलंबन द्वारा भिन्न करना - यही इन्द्रियोंको जीतना कहलाता है । तीनोंका लक्ष्य छोड़कर निज आत्मामें एकाग्रता करना - यही निश्चय स्तुति है । ४२३



अन्तरंगमे सदा ही जगमग ज्योति प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्धि तथा परमार्थ सत्, परम पदार्थ - ऐसा भगवान ज्ञान-स्वभाव है । उसके अवलम्बनसे इन्द्रियोंका जीतना हो - उसे संत जितेन्द्रिय कहते हैं । ४२४



जो निर्मल भावका पिण्ड है ऐसे चैतन्यकी जिसे महिमा है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे दया-दान आदिके रागकी व उनके फलकी महिमा नहीं होती । जिन्हें दया-दान आदिके रागकी व उसके अनुकूल फलकी महिमा है, उन्हें सुख समूह-आनन्दकन्दरूप आत्माकी महिमा नहीं आती । जिनको व्यवहार रत्नत्रयके शुभ-रागकी, देवःशास्त्र-गुरुकी अन्तरमें महिमा वर्तती है; उनको "निमित्तका जिसमें अभाव है - रागका जिसमें अभाव है -" ऐसे स्वभाव-भावकी महीमा नहीं है; जिससे उन्हें पर्यायमें अनन्द नहीं आता । जिनको शुभ-भावसे लेकर बाहरमें कुछ भी अधकता, आश्चर्य और महिमा (लगती) है - उनको सम्यग्दर्शन नहीं होता । ४२५



मैं जाननेवाला, देखनेवाला ज्ञाता हूँ - ऐसा बारंबार अंतरमुख अभ्यास करनेसे ज्ञातापना प्रकट होता है, तब विकल्पका कर्तृत्व छूटता है । ४२६



चैतन्यमूर्ति - मुक्तरूप है । चैतन्यमूर्ति - अनन्त गुणका अरूपी स्वरूप - वह अन्दरमें मुक्त-स्वरूप है । इस मुक्त-स्वरूपका अन्तर-ध्यान करनेसे पर्यायमें मुक्त-स्वरूप प्रकट होता है । मुक्त-स्वरूप बाह्यसे प्रकट नहीं होता, बल्कि अन्तरमें जो पूर्णानन्द-स्वरूप है - उसे दृष्टिमें लेकर, उसका ध्यान कर, अन्तरमें स्थिर हो जानेसे पर्यायमें मुक्ति प्रकट होती है ।

ध्यान करना हो आता ही है न ? - आर्तध्यान आदि तो करता ही है । पुत्रके लग्न पर पूरी वरसवारी (निकासी) निकल जाए तो भी विचारमें-ध्यानमें-विकल्पमें ऐसा मशगूल हो जाता है कि उसकी खबर ही न पड़े । वैसे ही अतीन्द्रिय आनन्द, स्वरूप प्रभुको

ध्यानमें लेकर जम जा। ४२७



आत्मामें अनन्त गुण भरे हैं व एक-एक गुणमें अनन्त गुणोंका रूप है व एक-एक गुणमें अनन्त पर्याय प्रकट करनेकी शक्ति है । तेरा स्वदेश भगवान ! अनन्त गुणोंकी अद्भूत ऋद्धियोंसे युक्त है । उसमें एक बार दृष्टि दे तो तुझे संतोष मिलेगा - आनन्द मिलेगा । पुण्य-पापके परिणाममें दृष्टि देनेसे तो दुःखका वेदन होता है । ४२८



शुभ-राग होना - यह कोई विशेषता नहीं । क्षणमें शुभ और क्षणमें अशुभ-भाव हुआ ही करते हैं । अरे ! निगोदमे जीवको भी, जो अनादिसे बाहर आया ही नहीं और अनन्त काल तक भी बाहर नहीं आयेगा, क्षणमें शुभ और क्षणमें अशुभ-राग आया करते हैं - यह कोई विशेष बात नहीं । धर्मीको ज्ञानधारा प्रतिक्षण चला करती है । इस ज्ञान-धाराका चलना - यही विशेष बात है । इस ज्ञानधारासे ही संसार-भ्रमणसे छूटकारा मिलता है ।

४२९



प्रश्न :- ग्यारह अंग और नौ पूर्वके ज्ञानवाले पंचमहाव्रतोंका पालन करते हैं, फिर भी आत्मज्ञान करनेमें क्या कमी रह जाती है ?

उत्तर :- ग्यारह अंगका ज्ञान और पंचमहाव्रतका पालन करने पर भी उन्हें भगवान आत्माका अखंड-ज्ञान करना बाकी रह जाता है । खंड-खंड इन्द्रिय ज्ञान तो ग्यारह अंगका कार्य है; वह खंड-खंड ज्ञान परवश होनेसे दुःखका कारण है । अखंड-आत्माके ज्ञान रहित जीवका ग्यारह अंगका ज्ञान नाशको प्राप्त होते हुए, कालक्रमसे वह निगोदमें भी चला जाता है । अखंड-आत्माका ज्ञान करना - वही मूल वस्तु है, उसके बिना भवभ्रमणका अन्त नहीं । ४३०



प्रश्न :- निश्चय (शुद्ध परिणमन) के साथ जो उचित राग (भूमिका अनुसारका राग) वर्तता है, उसे क्रोध कहा जाए क्या ?

उत्तर :- नहीं, यहाँ समयसार गाथा ६९-७०-७१ में कहा है कि जिसे आत्म-स्वभावकी रुचि नहीं - अनादर है, उसके रागभावको क्रोध कहा है, तात्पर्य यह है कि

मिथ्यात्व सहितके रागादि-भावको क्रोध बतलाया है । ज्ञानीको अपनी अस्थिरतारुप रागका ज्ञान होता है । ज्ञानके परिणामनवाले ज्ञानीको आनन्दरुप आत्मा रूचता है - आत्माका एहसास होता है, अतः उसको रागकी रुचिरुप क्रोध होता ही नहीं - जिससे क्रोध (स्व-रूप) मालूम नहीं होता । अज्ञानीको दुःखरुपभाव-रागभाव रूचता है, आनन्दरुपभाव नहीं रूचता - जिससे उसे क्रोधादि ही मालूम होते हैं, आत्माका एहसास नहीं होता । आत्मा अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप है उसकी जिसे रुचि नहीं व पूण्यके परिणामकी रुचि है - उसे आत्माका अनादर है, जिससे उसे स्वरूपप्रतिका क्रोध कहा है । ४३१



प्रश्न :- जब आत्मा परोक्ष है तो कैसे जाननेमें आए ?

उत्तर :- आत्मा प्रत्यक्ष ही है । पर्याय अन्तरमुख हो तो आत्मा प्रत्यक्ष है - ऐसा जाननेमें आता है । बहिर्मुख पर्यायवालेको आत्मा प्रत्यक्ष नहीं लगता - प्रत्यक्ष नहीं दिखता, पर आत्मा तो प्रत्यक्ष ही है । उसके सम्मुख ढलकर देखे तो जाननेमें आए । ४३२



(चलो सखी वहाँ जईए जहाँ अपना नहीं कोय,  
शरीर भखे जनावरा मुवा रोवे न कोय।)

आहा हा ! संगसे दुर हो जा ! संगमें रूकना योग्य नहीं । गिरि-गुफामें अकेला चला जा । यह मार्ग अकेलेका है । जो स्वभावके संगमें अनुरक्त हुआ उसे शास्त्र-संग भी नहीं रूचता । आहा हा ! अन्तरकी बातें बहुत सूक्ष्म हैं, भाई ! क्या कहें । ४३३



सचमें तो आत्मा रागको त्यागता है - यह कहना भी नाममात्र है । क्योंकि रागादिको परभावरुप जानकर, ज्ञानमें स्थिर होने पर, रागादि उत्पन्न होते ही नहीं । अतः स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है । ४३४



"आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु है" - ऐसा जिसके ज्ञानमें आया है, वह ज्ञानीजीव जीवनमें स्थिर हो जाता है - यह प्रत्याख्यान है । जहाँ ज्ञान-ज्ञानमें स्थिर हुआ, वहाँ विशेष आनन्दकी घारा बहती-यही प्रत्याख्यान है । स्वयंके ज्ञानमें रागकी अभावरुप अवस्था अर्थात् उग्र आनन्दकी अवस्था ही प्रत्याख्यान है । ४३५



वास्तविक त्याग किसे कहा जाए ? - अतीन्द्रिय आनन्दके नाथकी दृष्टि तो हुयी है और रागरूप नहीं होनेवाला मेरा जो द्रव्यस्वभाव है, वह रागरूप नहीं होता - ऐसे जब द्रव्यस्वभावमें स्थिर होता है, तब रागका परिणमन छूट जाता है - यह रागका त्याग है। सचमुच तो "आत्मा रागका त्याग करता है" ऐसा कहना भी नाममात्र है; क्योंकि रागरूप हुआ नहीं व आनन्दरूप परिणमित होता हुआ आत्मामें स्थिर होने पर राग उत्पन्न ही न हुआ, अतः "रागका त्याग करता है" - ऐसा वह कथन मात्र है। ४३६



है भव्य ! "राग यह मेरा कार्य है - राग सो मैं हूँ" - ऐसा निरर्थक कोलाहल छोड़ दे। शुभराग है, पर यह तेरा कार्य नहीं। राग तो तेरा अकार्य है। दया-दान-व्रत-तप-भक्तिका राग हो या गुण-गुणीके भेद-विकल्परूप राग हो; पर यह निरर्थक कोलाहल है। इस कोलाहलसे तुझे क्या लाभ है ? प्रभु ! इस कोलाहलसे तूँ विरक्त हो। पुण्य-परिणामके कार्यसे तूँ मुक्त हो। ४३७



परिणामको परिणाम द्वारा देख - ऐसा नहीं ; किन्तु परिणाम द्वारा ध्रुवको देख। पर्यायसे परको तो न देख-पर्यायको भी न देख; पर जो भगवान पूर्णानन्दका नाथ प्रभु है उसे पर्यायसे देख-उसे तूँ निहार - तेरी दृष्टि वहाँ लगा, छः मास ऐसा अभ्यास कर। अन्तर्मुख तत्त्वको अन्तर्मुख परिणाम द्वारा देख। अन्तरमें प्रभु परमेश्वर स्वयं विराजते हैं, उन्हें एक बार छः मास तो खोज- यह क्या है ? अन्य चपलता और चंचलता छोड़कर अन्तरमें जो भगवान पूर्णानन्दका नाथ "सिद्धसदृश प्रभु है" - उसे छः मास तो शोध।

४३८



यहाँ छः मासका अभ्यास बतलाया जिससे ऐसा न समजना कि इतना ही समय लगता है। वास्तवमें तो वह एक समयमें प्राप्त होता है, पर उपयोग असंख्य समयका होनेसे अन्तर्मुहूर्तमें प्राप्त होता है। लेकिन शिष्यको कठिन लगता हो तो कहते हैं कि छः माससे अधिक समय नहीं लगता। अतः ज्ञायक भगवानकी लगनी लगा। ४३९



परसे विरक्ता और विभावकी तुच्छता भासित हुए बिना, अन्तरमें नहीं उतर सकते

। (हम) स्त्री-पुत्र-पैसा आदिसे समृद्ध हुए हैं - ऐसा मानने वाले मूढ हैं । जिसे परद्रव्यसे विरक्ति नहीं होती, रागादि-विभावकी तुच्छता नहीं लगती और अन्तरमें छटपटाहट अर्थात् उत्कण्ठा न जगे, वह अन्तरमें कैसे उतर सके ? ४४०



देहकी स्थिति तो मर्यादित है ही, कर्मकी स्थिति भी मर्यादित है और विकारकी स्थिति भी मर्यादित है । स्वयंकी पर्यायमें जो कार्य होता है वह भी मर्यादित है । किन्तु अन्तरमें याने कि स्वभावमे मर्यादा नहीं होती । प्रभु ! वस्तुस्वभाव ज्ञानस्वभाव आदि त्रिकाली-स्वभावकी मर्यादा ही नहीं । धर्मीकी दृष्टि उस अमर्यादित-स्वभाव पर होती है । धर्मी बाह्य कार्यमें संलग्न दिखता है, पर (वास्तवमें) वह तो अमर्यादित-स्वभावमें झूलता है; उसकी दृष्टि वहाँ जम जाती है । ४४१



निज वस्तु अखंड-आनन्दकन्द चैतन्य है, - उसकी जिन्हें खबर नहीं, वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं । फिर चाहे, वे करोड़पति हों या बड़े राजा हों, पर अपनी चैतन्यलक्ष्मीका भान नहीं तो वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं । दुनियामें चतुराईसे पाँच-पच्चीस लाख कमाते हों, या लौकिकबुद्धिके खाँ बने घूमते हों: पर वे निज-प्रभुताके भान बिना, अपनी महानताके भान बिना नरकादिके अनन्त-अनन्त दुःख भोगेंगे - कि जिन दुःखोंका वर्णन करोड़ो जीभ द्वारा करोड़ो भव तक करें, तो भी न कर पायेंगे । निज प्रभुके भान बिना ऐसे अनन्त दुःख भोगने पड़ेंगे । ४४२



जिन्हें आत्मा पुसाता (रुचता) है, उनसे आत्मा गुप्त नहीं रहता । जिन्हें पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा रुचिसे पुसाता है व अन्य कुछ भी नहीं पुसाता - उन्हें आत्मा प्रकट हुए बिना नहीं रहता । ४४३

शुभराग भी जिन्हें नहीं पुसाता और आत्मा ही पुसाता है, उन्हें आत्मा प्रकट हुए बिना नहीं रहता । ४४४



प्रश्न :- ध्रुवमें एकाग्रता करनेके लिए ध्रुवको कहाँ खोजें ?

उत्तर :- वस्तु स्वयं ही ध्रुव-स्वरूप है । वस्तु है ही; उसे कहाँ खोजने जाना है ?

एक समयकी पर्याय है वह किसके आधारसे है ? वस्तु है, 'है' और 'है' । प्रथम एक समयकी पर्यायमें ध्रुव-वस्तुका महात्म्य भासित होना चाहिए । सर्वज्ञने जिसके गुणगान किये हैं, ऐसी अनन्त अपार-अपार महिमावाली वस्तु - 'आत्मा है कौन' ? - कि जिसके सामर्थ्यका पार नहीं - जिसकी आश्चर्यताका-अद्भूतताका पार नहीं-जिसकी शक्तियोंका पार नहीं - ऐसी महिमावन्त वस्तुका ज्ञान-(पर्यायमें निर्णय) करने पर इस ध्रुव वस्तुकी महिमा आती है । यह महिमा आते-आते, जैसा स्वरूप है वैसी महिमा आने पर, पर्याय ध्रुवमें ढल जाती है । आहा हा !! अनन्त-अनन्त गुणका पिण्ड प्रभु है ! इसका प्रत्येक गुण मुक्तस्वरूप है-वीतरागस्वरूप है । इसका ज्ञान होकर प्रतीति हुयी कि बस ! सब काम हो गया । मुक्ति प्रतीतिमें आयी, अर्थात् हाथमें आ गयी। ४४५



प्रश्न :- आत्माका साक्षात्कार करना है, पर कैसे करें ? वैसा पुरुषार्थ नहीं जगता ।

उत्तर :- चैतन्यस्वभावकी महिमा तो अचिन्त्य है - अन्तरमें ऐसी महिमा आए तो स्व-ओर पुरुषार्थ उमड़े । वास्तवमें तो पर्याय पर-लक्ष्यी है, उसे स्वलक्ष्यी करना - इसमें महान पुरुषार्थ है । कथन भले ही संक्षिप्त कर दिया कि 'द्रव्य-ओर ढले, ध्रुव-ओर ढले' - ऐसा कथन सरल और संक्षिप्त कर दिया; परंतु उसमें महान पुरुषार्थ है । भले ही शास्त्र-ज्ञान करे, धारणा-ज्ञान कर ले; पर 'पर्यायको स्वलक्ष्यमे ढालना' - यह अनन्त पुरुषार्थ है, महान और अपूर्व पुरुषार्थ है । ४४६



तूँ ज्ञायक निष्क्रिय-तलके ऊपर दृष्टि स्थापित कर न ! पर्याय पर किस लिए जोर देता है ? यह मेरी क्षयोपशमकी पर्याय विकसित हुयी - यह मेरी पर्याय हुयी - ऐसे पर्याय पर किसलिए जोर देता है ? पर्यायरूप पलटते अंशमें त्रिकाली-वस्तु कहाँ आती है ? त्रिकाली-ध्रुवदल - जो नित्यानंद प्रभु है - उस पर जोर दे न । ४४७



सम्यग्दृष्टि तो जीव-अजीव-आस्त्रव-बन्ध आदिके स्वांगोंको देखनेवाले हैं । रागादि आस्त्रव-बन्धके परिणाम होते हैं - पर सम्यग्दृष्टि उन स्वांगोंके देखनेवाले ज्ञाता-द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं । सम्यग्दृष्टि इन स्वांगोंको कर्मकृत जानकर शान्त-रसमें ही मग्न रहते हैं । शुभाशुभ-भाव आते हैं- पर सम्यग्दृष्टि उन्हें कर्मकृत स्वांग जानकर उनमें मग्न नहीं

होते। मिथ्यादृष्टि जीव-अजीवके भेदको नहीं जानते, जिससे वे कर्मकृत स्वांगोंको ही सत्य (निजरूप) जानकर उनमें मग्न हो जाते हैं; रागादि-भावोंको कर्मकृत - भाव होने पर भी, अपने भाव जानकर उनमें लीन हो जाते हैं। धर्मी जीव ऐसे अज्ञानी जीवोंको आत्माका यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर-भेदज्ञान कराकर-शान्तरसमें लीन कर, सम्यग्दृष्टि बनाते हैं। ४४८



आत्माको जाननेके लिए परिणामको सूक्ष्म कर; स्थूल परिणामसे द्रव्य जाननेमें नहीं आता। अज्ञानीको ग्यारह अंगका ज्ञान हो जाता है तो भी उसका उपयोग सूक्ष्म नहीं, स्थूल है। आत्मा स्थूल परिणामों द्वारा जाननेमें नहीं आता। ऐसे सूक्ष्म आत्माको जाननेके लिए उपयोगको सूक्ष्म करना पड़ता है। ४४९



एकान्त दुःखके जोरमें-रागसे पृथक् हो सके, ऐसा सम्भव नहीं; परन्तु द्रव्य-दृष्टिके जोरसे रागसे भिन्न हो सकता है। आत्माको पहचाने बिना - जाने बिना जाए - कहाँ ! आत्माको जाना हो, उसका अस्तित्व अनुभूत किया हो तो रागसे भिन्न होकर आत्मामें लीन हो सकते हैं। ४५०



प्रश्न :- निर्मल पर्यायको तो अन्तर्लीन बतलायी है न ?

उत्तर :- यह पर्याय तो स्वसन्मुख ढली है जिससे उसे अन्तर्लीन कहा है; पर उससे पर्याय कोई ध्रुवमें मिल नहीं जाती। ध्रुवके आश्रयसे द्रव्य-दृष्टि प्रकट हुयी, फिर चारित्रकी शुद्धि भी पर्यायके आश्रयसे नहीं होती। त्रिकालि अन्तःतत्त्व जो ध्रुव-तल-दल है, उसके आश्रयसे ही चारित्रकी शुद्धि होती है - यह वस्तुस्थिति है, भगवानके वचन हैं, यह भेदज्ञानकी पराकाष्ठाका उपदेश है। प्रभु ! निर्मल पर्याय बहिर्तत्त्व है, उस निर्मल पर्यायके आश्रयसे स्थिर नहीं होते, आगे नहीं बढ़ते; पर अन्तःतत्त्व जो ध्रुव तत्त्व है, उसके आश्रयसे ही (शुद्धि) प्रकट होती है, स्थिर होती है और प्रगाढ़ होती है। दया-दान आदिके शुभ परिणाम तो मलिन-बहिर्तत्त्व हैं व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके परिणाम निर्मल-बहिर्तत्त्व हैं। द्रव्य-दृष्टि तो एक शुद्ध अन्तःतत्त्वका अवलम्बन लेती है। ४५१



ज्ञायक-ध्रुव शुद्ध तत्त्व - उसका ज्ञान कर, उसकी प्रतीति कर, उसमें रमण कर । एक आत्माराम होकर क्या अनुभव करता है, सो कहते हैं - समयदृष्टि जीव अपने स्वरूपको जानकर, उसकी प्रतीति कर, स्वरूपाचरण कर - ऐसा अनुभव करता है कि मैं तो चैतन्य मात्र ज्योति हूँ । "शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यधन, स्वयंज्योति, सुखधाम, मैं हूँ " । चैतन्य ज्ञान-दर्शनमात्र ज्योति हूँ, मैं रागादिरूप बिल्कुल नहीं हूँ । धर्मी स्वयंको चैतन्यमात्र-ज्योतिरूप आत्मा मानते हैं; अपनेको रागरूप नहीं मानते । ४५२



केवली और श्रुतकेवलीमें अन्तर नहीं; अतः विशेष जाननेकी आकांक्षारूप आकुलतासे बस होओ । केवली और श्रुतकेवलीमें हीनाधिक जानने रूप भेद है; पर यह भेद अत्यंत गौण है । केवली एक साथ परिणमित होते हुए समस्त चैतन्य विशेषों वाले केवलज्ञान द्वारा शुद्ध-अखंड-एक आत्माको, आत्मासे, आत्मामें, अनुभव करते हैं; और श्रुतकेवली क्रमसे परिणमित होते हुए कितने ही चैतन्य विशेषों वाले श्रुतज्ञान द्वारा शुद्ध-अखंड-एक आत्माको आत्मासे, आत्मामें, अनुभव करते हैं । ऐसे आत्मानुभूतिमें श्रुतकेवली, केवली तुल्य ही हैं । स्वरूप-स्थिरताकी तारतम्यतारूप भेद है; अतः बहुत जाननेकी इच्छारूप क्षोभको छोड़कर केवलज्ञानकी प्राप्तिके उपायरूप स्वरूपमें निश्चल रहना ही योग्य है ।

४५३



ज्ञानी उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली-ज्ञायकको पकड़े व उसकी पर्यायमें वीतरागता प्रगट होने पर भी पर्यायमें रूके नहीं; उसकी दृष्टि तो त्रिकाली-ध्रुव पर ही टिकी है । धर्मदशा प्रकट हो - निर्मलपर्याय प्रकट हो - पर ज्ञानी इन पर्यायोंमें नहीं रूकता । ४५४



त्रिकाली - ध्रुव आत्म-द्रव्यको पकड़ने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, उसे पकड़नेपर ही चारित्र होता है, उसे पकड़ने पर ही केवलज्ञान होता है । धर्मीकी दृष्टि आत्म-द्रव्यपरसे नहीं खिसकती; और जो यह दृष्टि वहाँसे खिसक कर वर्तमान पर्यायमें रूके, एक समयकी पर्यायमें चोंटे, पर्यायकी रूचि हो जाए - तो वस्तुकी दृष्टि छूट जाए और वह मिथ्यादृष्टि हो जाए । जो एक समयकी पर्यायकी महिमा-महत्ता लगे तो द्रव्य परसे दृष्टि खिसक जाती है । एक समयकी निर्मल-पर्यायकी भी रूचि होजाए तो



मिथ्यादृष्टि हो जाता है । ४५५



परिपूर्ण कृतकृत्य भगवत्-स्वरूप भगवान् आत्मोको साध । दृष्टि और दृष्टिका विषय, यह तो समझाने हेतु भेद कथन है । दृष्टिको द्रव्य-सम्मुख ढाल । पर्यायमें खड़े रहकर "यह द्रव्य है" - ऐसा नहीं साध सकता । ध्रुव स्तम्भ है, उसीमें निर्विकल्प रूपसे अहम् कर । ४५६



भगवानकी वाणीसे नहीं, उनके निमित्तसे हुए परलक्ष्यीज्ञानसे भी नहीं ; परन्तु जो स्वलक्ष्यी भावश्रुतज्ञान है उससे आत्माकी अनुभूति होती है । जिस ज्ञान द्वारा आत्मा अनुभूत हो वह भावश्रुतज्ञान परकी अपेक्षा रहित है । श्रुत भी निरर्थक है, वैसे ही श्रुतसे हुआ ज्ञान भी निरर्थक है, याने कि भावश्रुतको उसकी अपेक्षा नहीं । ऐसे भावश्रुतज्ञानसे आत्माको जान, या केवलज्ञानसे आत्माको जाने - ऐसे जाननेमें, अनुभवमें अन्तर नहीं है । अतः ज्ञानमें श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है । श्रुत-ज्ञान कहा, इसलिए उसमें श्रुत-उपाधिकृत भेद है - ऐसा नहीं है । ४५७



सम्यग्दर्शन याने ? - कि जैसा ओर जितना तत्त्व है उसकी वैसी ही प्रतीति होना सो सम्यग्दर्शन है । महा अस्तित्वमयी प्रकट वस्तु है वह अनन्तकाल और अनन्त-भव बीत जाने पर भी ऐसी ही है - वाह तत्त्व !! चाहे जैसे परिणाम हुए फिर भी वस्तुमें विभ्रमता अथवा न्यूनता नहीं आयी । महा ग्रहीतमिथ्यात्वके परिणाम हुए तो भी जो वस्तु है उसमें कोई विकार या मलिनता नहीं आयी - यह सर्वज्ञ परमात्माकी पुकार है । ४५८



पांच-छः गाँव चलें तो थकान मिटानेके लिए विश्राम लेते हैं न ! यहाँ तो अनन्त-अनन्तभव किए तो भी थकान नहीं लगी । सर्वज्ञदेव कहते हैं कि तूँ स्वभावमें विश्राम ले-तेरी थकान उतर जाएगी । शुद्ध चैतन्य भगवानके आश्रय से शुद्ध परिणति करना - यह अपूर्व । ऐसी सम्यक् परिणति करे तो शाश्वत सुखको प्राप्त हो, अनन्त-अनन्त गुणोंकी पूर्ण पर्यायें प्रकटताको प्राप्त हों । अतः बाहरके हर्ष-उत्साहके सबड़के (रसासक्ति) छोड़ दे, यह भान्ति छड़ दे और जिनवरदेव द्वारा उपदिष्ट शुद्ध सम्यक् परिणति कर तो तूँ

अवश्य शाश्वत-सुखको प्राप्त होगा। ४५९



भगवानकी वाणी श्रुत है-शास्त्र है । शास्त्र पौद्गलिक है जिससे वह ज्ञान नहीं, उपाधि है और इस श्रुतसे होने वाला ज्ञान - यह भी उपाधि है; क्योंकि श्रुतके लक्ष्यवाला वह ज्ञान पर-लक्ष्यीज्ञान है । पर-लक्ष्यीज्ञान स्वको नहीं जान सकता; अतः उसे भी श्रुतकी भांति उपाधि बतलाया है । जैसे सत्-शास्त्र सो ज्ञान नहीं, व्यर्थकी चीज है, उपाधि है, वैसे ही यह श्रुतसे हुआ ज्ञान भी निरर्थक है, उपाधि है । आहा हा ! वीतरागकी क्या शैली है । परलक्ष्यी ज्ञानको भी श्रुत (शास्त्र) की भांति उपाधि कहते हैं । स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया द्वारा आत्मा अनुभूत होता है । भगवानकी वाणी द्वारा आत्मा अनुभूत नहीं होता । ४६०



प्रश्न :- विकल्प हमारा पीछा नहीं छोड़ते ।

उत्तर :- विकल्पोंने तुझे पकड़ा ही नहीं, तुने विकल्पोंको पकड़ा है । तूँ परमानन्द स्वरूपसे परिपूर्ण भगवान है । - उसे दृष्टिमें नहीं लेता; जिससे विकल्प तुझे पकड़े हुए लगते हैं । तूने, तेरे भगवानको भ्रमसे भूलकर, विकल्पोंको पकड़ा है । तूँ खिसक जा न ! तूँ विकल्पोंका लक्ष्य छोड़कर अपने भगवानका लक्ष्य कर - तो विकल्प तुझे पकड़े हुए नहीं लगेंगे। विकल्पोंमें कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है, जहाँ सुख-शान्ति भरी है वहाँ जा ! सुख-शान्तिका भंडार - ऐसे भगवानको पकड़ (आलिंगन कर) । तेरे अन्तरमें पूर्ण सुख-शान्ति भरी है । विकल्प तो बाहर हैं, उनमें कहीं भी सुख-शान्ति नहीं । तेरे अन्तरमें विकल्प रहित वस्तु है, उसमें सुख-शांति भरी है, प्रथम उसीका लक्ष्य और प्रतीति कर, विकल्पसे भेदज्ञान कर । स्थिरता अनुसार क्रमशः सभी विकल्प छूट जायेंगे । ४६१



प्रश्न :- आत्मज्ञान करनेके लिए बहुत-बहुत शास्त्रोंका अभ्यास करना पड़ता है, इसकी जगह अन्य कोई सरल मार्ग बतलाइए न ?

उत्तर :- आत्मज्ञानके लिए बहुत शास्त्र पढ़नेकी बात कहाँ है ? तेरी पर्याय दुःखके कारणोंकी और ढलती है, उसे सुखके कारणभूत स्वभाव सन्मुख ढाल - इतनी ही बात है । स्वयं भगवान आत्मा ! अनन्त-अनन्त गुण संपन्न ज्ञानानन्द-स्वरूप है, इसकी महिमा

लाकर स्व-सन्मुख हो - इतनीसी बात है । तेरी ज्ञानपर्यायको द्रव्य सन्मुख ढालना - यही संक्षिप्त और यथार्थ बात है । ४६२



प्रश्न :- आप बहुत सूक्ष्मतामें और बहुत गहरायीमें ले जाते हैं ?

उत्तर :- वस्तु ऐसे ही स्वभाववाली है । पर्याय उपर-उपर है, और द्रव्य गहराई, बहुत गहराईमें है। अनन्त ...अनन्त...अनन्त गहराई है। क्षेत्र अपेक्षासे नहीं, किन्तु भावसे अनन्त...अनन्त...अनन्त सामर्थ्यरूप गहराई है - वहाँ ज्ञान-पर्यायको धीरजसे ले जाने पर भगवानसे भेंट होती है। ४६३



प्रश्न :- शुभरागको ज्ञानी हेय मानते हैं, पर षोडशकारण-भावना तो भाते हैं न ?

उत्तर :- ज्ञानी षोडशकारण-भावना नहीं भाते ; पर उस प्रकारका राग आ जाता है । ज्ञानीकी भावना तो स्वरूपमें स्थिर होनेकी होती है, पर स्वरूपमें स्थिर न रह सके तब हेयबुद्धि पूर्वक शुभ-राग आ जाते हैं; ज्ञानी उनके ज्ञाता हैं - कर्ता नहीं । ४६४



जगतमें पापको पाप तो सभी कहते हैं, पर अनुभवी-ज्ञानीजन तो पुण्यको भी पाप कहते हैं। हिंसा-झूठ-चोरी आदिको तो (सारा) जगत पाप मानता है, परन्तु दया-दान-पूजा-भक्ति आदिके शुभरागको ज्ञानीजन ही पाप कहते हैं; क्योंकि स्वरूपमेंसे पतित होने पर शुभराग उठते हैं, अतः वे भी पाप हैं । शुभ-रागमें स्वकी हिंसा होती है, इसीलिए 'प्रवचनसार' गाथा ७७ में कहा है कि 'जो पुण्य-पापमें भेद मानते हैं- अन्तर मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि घोर संसारमें धक्के खाते फिरेंगे। आहा हा !! ये बातें तो जिसे अन्तरमें भवका भय लगा हो व भयसे छूटना हो उसे ही जचे ऐसी हैं । ४६५



भाई ! पदार्थकी स्वतंत्रताकी बात जाननेके लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए । भिन्न तत्त्वको भिन्न तत्त्व रूपसे जानना; भिन्न तत्त्वका अन्य भिन्न रहा हुआ तत्त्व कुछ भी नहीं कर सकता - ये बातें बहुत सूक्ष्म हैं, इन्हें यथार्थ रूपसे जाननेमें बहुत पुरुषार्थकी आवश्यकता है । ४६६



जैसे केवलज्ञानमें तीन कालकी पर्यायें दिखाई देती हैं, वैसे ही पदार्थोंमें क्रमबद्ध पर्यायें होती हैं । केवलज्ञानमें जाना इसलिए नहीं, परन्तु पदार्थोंकी पर्यायें स्वयं ही स्वकालमें, उसी प्रकार होती है और वैसे ही सर्वज्ञ जानते हैं । आहा हा ! पर द्रव्यको करनेकी बात तो दूर, परन्तु स्वयंकी शुद्ध या अशुद्ध पर्यायें जो स्वकालमें जैसी क्रमबद्ध होनी हैं, वैसी ही होती हैं । अतः उन्हें आगे-पीछे करनेका अवकाश नहीं है । मात्र जैसा होता है वैसा जानना ही रहा । जैसे सर्वज्ञ ज्ञाता हैं वैसे ही धर्मी भी ज्ञाता हो गया । क्रमबद्धके निर्णयका तात्पर्य अकर्तापनेरूप वीतरागता है । वह वीतरागता अनन्त पुरुषार्थपूर्वक द्रव्य पर दृष्टि जानेसे होती है । आहा हा ! आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है !

४६७



सत्स्वरूप - ऐसे आत्मासे परिचय रखना; जैसा जिसको परिचय होगा वैसी ही उसकी परिणति होगी । रागके रसीले संसारी-जीवोंसे परिचय करेगा तो तेरी परिणति गिर जाएगी । जिनको शरीर आदिका प्रेम है, पुण्यका प्रेम है - ऐसे लौकिक-जनोंसे परिचय करेगा तो तेरी परिणति पतित हो जाएगी । जो लोग मान-सन्मान दें उनके परिचयसे तो तू मर जायेगा । ४६८



मुमुक्षु जीव शुभरागमें जुड़ते हैं, पर मुमुक्षुतामें शुद्धात्मा-प्रतिका शोधक वृत्ति चली नहीं जाती । मुमुक्षु जीवको दया-दान-पूजा-भक्ति आदिके शुभभाव आते अवश्य हैं, परन्तु उनकी वृत्ति और झुकाव शुद्धात्माकी तरफ ही रहा करता है; शुभभावमें तल्लीनता नहीं होती । जिनस्वरूपी भगवान आत्माप्रतिकी शोधक वृत्ति नहीं जाती ।

(मुमुक्षुजीव) शुद्धात्माका ध्येय छोड़कर शुभरागका आग्रह नहीं करता । शुभरागसे होगा ...ऐसा नहीं मानता, पर्यायकी अशुद्धताको भी नहीं भूलता, स्वच्छन्द नहीं करता ।

४६९

प्रश्न :- स्वच्छन्द, याने क्या ?

उत्तर :- विकारी पर्याय सो मेरी नहीं, ऐसा मानकर विकारका सेवन करना । अशुद्धता चाहे जितनी हो उसका सेवन करना और ज्ञानीके भोगको निर्जरा कहा है तो हमारे भोगके भाव व विषय-वासनाके भावसे भी निर्जरा होती है - वैसा माने तो स्वच्छन्द

है । चाहे जितना विकार हो तो भी मुझे क्या ? - ऐसा मानना स्वच्छन्द है । सच्चा मुमुक्षु ऐसा स्वच्छन्द सेवन नहीं करता । पर्यायमें विकार हो उसे अपना अपराध समझता है । ज्ञानमें सही जानता है, पापमें खो नहीं जाता । मुमुक्षुका हृदय द्रवित होता है, वैराग्यमय होता है । ४७०



यह ज्ञानकी दिव्यता है । यह ज्ञानस्वभावकी अचिन्त्यता है । जो पर्यायें विद्यमान नहीं हैं, उन्हें ज्ञान विद्यमानवत् जानता है; तो चैतन्य महाप्रभु तो विद्यमान ही है, भूतार्थ ही है, उसे ज्ञान विद्यमानरूपसे कैसे न जाने ? वस्तु तो सत् है न ! विद्यमान है न ! तो इस महाप्रभुको तूँ विद्यमान रूपसे जान न ! आहा हा ! जिसका अस्तित्व ही नहीं उसे विद्यमानवत् जाने ; तो पूर्णानन्दका नाथ प्रभु वर्तमानमें विद्यमान ही है, मौजूद ही है, उसे जान ! भाई ! तेरी नजरके आलस्यके कारण विद्यमान प्रभुको देखना रह गया । जिसमें ज्ञान, आनन्द आदि गुणोंकी अनन्तताका अन्त नहीं ऐसा सच्चिदानन्द प्रभु विद्यमान ही है; उसे जान । ४७१



शुभभाव - जिन्हें कि दुनिया अभी धर्म मानती है, धर्मका कारण मानती है...ये आख्रव क्या हैं ? - कि आकुलताको उत्पन्न करनेवाले हैं । शुभ और अशुभभाव (दोनों ही) आकुलताके उत्पादक हैं; आत्माकी शांतिके उत्पादक नहीं । अतः व्यवहारसे निश्चय हो सके - ऐसा संभव नहीं । शुभभाव आकुलताके उत्पादक होनेसे आत्माकी शान्ति अथवा धर्मके उत्पादक नहीं हैं । ४७२



भगवान आत्मा अनन्तगुण-स्वरूप प्रभु है । उसके एक-एक गुणमें अनन्त-अनन्त गुणोंका रूप है; पर उसमें रागका रूप नहीं है । एक समयके अनन्त-अनन्त गुणोंका सागर प्रभु है, उसके एक-एक गुणमें उसके अनन्त-अनन्त गुणोंका रूप है । एक गुण अन्य गुणमें नहीं, पर एक गुणका रूप दूसरे गुणमें है; परन्तु व्यवहाररत्नत्रयका राग आत्माका कोई गुण नहीं है, इसीलिए रागका रूप किसी गुणमें नहीं है । अतः भगवान आत्मा रागका कारण नहीं और राग अपनी आनन्दकी पर्यायका कारण नहीं है । ४७३



अज्ञानी अज्ञानके कारण पर्यायबुद्धिसे रागको करता है, पर रागका कारण होने योग्य एक भी गुण उसमें नहीं है । जैसे भगवान आत्मा रागका कारण नहीं, वैसे ही वह रागका कार्य भी नहीं है । पर्यायबुद्धिमें निमित्तके अधीन होकर जो निराधार ही रागादि उत्पन्न करता है, उसका कारण द्रव्य-स्वभाव नहीं है । ४७४



भाई ! तुझे दुःखका पन्थ छोड़ना हो और सुखके पन्थमें आना हो तो, पुण्य-पापके भाव दुःखरूप हैं और मेरा स्वरूप आनन्दमय है - ऐसे अभिप्राय पूर्वक पुण्य-पापके भावोंसे पीछे पलट । श्रद्धामें पुण्य-पापके भावसे पीछे मुड़ ; शुभाशुभ-भाव तो मैल हैं, और प्रभु निर्मलानन्द है - जिसे ऐसा यथार्थ भेदज्ञान हो उसे आस्रवसे निवृत्ति होगी ही । जो आस्रवोंसे निवृत्ति न हुयी हो तो उसे पारमार्थिक भेदज्ञान हुआ ही नहीं । ४७५



अरेरे ! जहाँ पाँच-पचास हजार रुपये मिल जायें तो (अज्ञानी) हर्षित हो जाता है, पर सचमें तो वह रो रहा है । आत्मामें अनन्त गुणोंकी अजायबी है, उसे तो देखता नहीं; और पैसे मेरे, राग मेरा, ऐसे जीवनकी ज्योतिको कहाँ उलझा दी है, और आत्माका खून कर रहा है । ४७६



प्रश्न :- तत्त्वका स्वरूप सही जानने पर भी जीव किस प्रकारसे अटक जाता है ?  
उत्तर :- तत्त्वको सही जानने पर भी पर-ओरके भावमें, गहराईमें अच्छापन लगता है, परलक्ष्यी ज्ञानमें सन्तोष होता है, अथवा दक्षताके अभिमानमें अटक जाता है, बाह्य प्रसिद्धिके भावमें रूप जाता है, अन्तरमें रहनेके भाव न होनेसे अटक जाता है, अथवा शुभ-परिणाममें मिठास रह जाती है । ऐसे विशेष प्रकारकी पात्रता बिना जीव अनेक प्रकारसे अटक जाता है । ४७७



साधक-जीवको भूमिका अनुसार देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा-भक्ति, श्रुत-चिन्तवन, अणुव्रत-महाव्रत आदिके शुभ-विकल्प आते हैं - होते हैं; पर वे ज्ञायक-परिणतिको बोझ-रूप हैं । आहा हा ! अरे ! ऐसे शुभ-विकल्प भी बोझ-रूप लगते हैं । जैसे रूईके ढेर पर लोहेका भार डालें और वह दब जाए वैसे ही जब ज्ञायकपरिणतिको शुभ-विकल्प भी

बोझ रूप लगते हैं, तब व्यापार-धंधा-धनादिकी रक्षाके अशुभ-रागके बोझकी तो बात ही क्या करना ? पवित्र परिणतिमें शुभकी अपवित्र परिणति बोझ-रूप है - भाररूप है - आकुलता और कलेशरूप है । आहा हा ! दिगम्बर सन्तोंका ऐसा स्पष्ट कथन है । भाई ! यदि तुझे तेरा परिभ्रमण टालना हो तो सम्यक्ज्ञानकी तीक्ष्ण बुद्धिसे आनन्द-सागर स्वभावको पकड़ ले । जो आनन्द-स्वरूप द्रव्य तेरे हाथमें आ गया तो मुक्तिकी पर्याय सहज ही मिल जाएगी । ४७८



भाई ! तूँ एक बार कौतूहल तो कर ! भगवान तेरे इतने-इतने बखान करते हैं तो तूँ है कौन? तूँ आनन्दका सागर है - परामानन्द स्वरूप है - अनन्त-अनन्त गुणोंका (गोदाम) भँडार है-अतीन्द्रिय आनन्दका दरिया है - सिद्ध-समान शुद्ध है - तेरे इतने-इतने बखान करते हैं; ऐसा तूँ परमात्म-स्वरूप है कौन ? - इसका एक बार कौतूहल कर देख तो सही । भाई ! महाकष्ट उठा कर-मर कर, तूँ कौतूहल करके देख । इन शरीरादिका पड़ोसी होकर आत्माका अनुभव करे तो तेरा आत्मा आनन्द-विलास रूप दिखेगा, और पर-द्रव्यका मोह तुरन्त छूट जाएगा । ४७९



विपरीत मिथ्यात्वके अनन्त प्रकार हैं और स्थूलरूपसे असंख्य प्रकार हैं । उसमेंसे जितने प्रकारकी विपरीतता छूटती है, उतना मिथ्यात्वका त्याग नहीं होता । समस्त प्रकारकी विपरीतता छूटने पर ही सम्यक्दर्शन होगा ; परन्तु बाह्य-त्यागकी दृष्टि वालेको यह मिथ्यात्वका त्याग है सो दिखता नहीं । 'राग और मैं आत्मा एक हूँ' - ऐसी मान्यता, चौरासीके अवतारमें रूलनेके कारणरूप-महा पाखण्डरूप-मिथ्यात्व है ; परन्तु बाह्य-त्यागकी दृष्टि वालोंको मिथ्यात्वका यह महान पाप नहीं दिखता । आहा हा ! इस मिथ्यात्वके दुःख बहुत आकरे हैं, भाई ! ४८०



प्रश्न :- सम्यक्दृष्टिको खंडज्ञान अखंड-ज्ञान होंगे एक साथ होते हैं ?

उत्तर :- सम्यक्दृष्टिको जैसे अखंडकी दृष्टि है वैसे ही खंड-खंड ज्ञान, ज्ञेयरूप हैं । एक ज्ञान-पर्यायमें दो भाग हैं - जितना स्वलक्ष्यी-ज्ञान है वह सुखरूप है, जितना परलक्ष्यी - पर-सत्तावलम्बीज्ञान है वह दुःखरूप है । पर-ओरका श्रुतका ज्ञान इन्द्रियज्ञान

है, पर-ज्ञेय है, परद्रव्य है । आहा हा ! देव-गुरु तो परद्रव्य हैं, पर इन्द्रिय भी परद्रव्य है ।  
आत्माका ज्ञान - वही वास्तविक ज्ञान है । ४८१



प्रश्न :- आत्माके अनन्त गुणोंकी और उसकी अनन्त पर्यायोंकी सामर्थ्यकी इतनी अधिक महिमा करते तो, तिर्यचको ऐसा खयाल कहाँ है ?

उत्तर :- तिर्यचको वस्तुकी महीमा प्रतीतिमें आ जाती है । वस्तुकी अनन्त-अनन्त महिमा प्रतीतिमें आ जाती है । ४८२



क्रमबद्ध पर्यायका यथार्थ निर्णय तो ज्ञायक पर दृष्टि जाए तब होता है । 'राग ज्ञेय है' ऐसा कब भासित होता है ? - कि जो रागसे भिन्न ज्ञाता हुआ, उसे राग ज्ञेयरूप भासता है । योग्यतानुसार राग होता है उसका सच्चा ज्ञान कब होता है ? - कि ज्ञाता इसकी दृष्टिमें आए तभी योग्यताका सच्चा ज्ञान होता है । राग पर दृष्टि पड़ी हो और बोले कि क्रमबद्धमें राग था, योग्यतामें राग था - तो यह यथार्थ नहीं है । पर्याय अन्तरमें ढल कर दृष्टिमें द्रव्यको पकड़े तभी क्रमबद्ध, योग्यता आदिका सच्चा ज्ञान होता है । ४८३



प्रश्न :- ज्ञेयको जाननेसे रागद्वेष होता है, या इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करनेसे होता है ?

उत्तर :- परज्ञेयको जानने गया (पर-सन्मुख होना) वही राग है । सचमें तो परज्ञेयको जाननेके लिए जाना ही नहीं पड़ता । ४८४



आत्माका निर्विकल्प अनुभव करनेको तत्पर जीव प्रथम शुद्धनयसे "मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य-प्रतिकी ममतासे रहित हूँ, ज्ञान-दर्शनसे परिपूर्ण वस्तु हूँ" - ऐसा निश्चय करता है । ऐसे निश्चयमें पांच इन्द्रियोंके विकल्पोंसे खिसका है और मनके विकल्पमें आया है, परंतु वह मनके विकल्पोंको भी छोड़नेके लिये तत्पर है । वह आगे बढ़ता हुआ मन सम्बन्धी विकल्पोंको भी शीघ्र वमन कर निर्विकल्प होता है । ४८५



अनन्त-अनन्त गुणोंके सागर - ऐसे भगवान आत्माके अनन्त-अनन्त गुणोंसे विरुद्ध भाव, जो मिथ्यात्व है - उसके गर्भमें अनन्तान्त भव पड़े हैं , इसीलिए सर्व प्रथम उसका



त्याग करना चाहिए। अनन्त गुणोंके भण्डार रूप भगवानसे विरुद्ध श्रद्धारूप-मिथ्यात्वभावमें अनन्त-अनन्त गुणोंका अनादार है। अनन्त गुणोंका लाभ स्व-आश्रयसे होता है। ऐसा न मानकर पराश्रित ऐसे राग-भावमें जिसने अपनापन माना है, उसने अनन्त गुणोंका अनादार किया है। अनन्तानन्त गुण हैं उनका अनादार कर, रागके एक कणको भी अपना मानने वाले - मिथ्यात्वभावमें अनन्तानन्त दुःख भरे हैं। इसीलिए इस मिथ्यात्वभावके त्यागका उद्यम क्यों नहीं करता ? गफलतमें कैसे रहता है ? ४८६



ऐसा उत्तम योग फिर कब मिलेगा ! निगोदमेंसे निकलकर त्रसपर्याय पाना - यह चिन्तामणि तुल्य दुर्लभ है; तो नर-भव पाना, जैनधर्म मिलना तो महा दुर्लभ है। धन और कीर्ति मिलना यह कोई दुर्लभ नहीं है। ऐसा उत्तमयोग मिला है - यह अधिक समय तक नहीं रहेगा; अतः बिजलीकी क्षणीक कौदमें मोती-पिरो लेना ही योग्य है। ऐसा योग फिर कहाँ मिलेगा ? अतः तूँ मिथ्यात्वको छोड़नेके लिए एक बार आत्मोत्सर्ग-सम प्रयत्न कर। दुनियाके मान-सन्मान और पैसेकी महिमा छोड़कर दुनिया क्या कहेगी उसका लक्ष्य छोड़कर, मिथ्यात्वको त्यागनेका एक बार मरण-तुल्य प्रयत्न कर। ४८७



अतीन्द्रिय आनन्दमें झूलते मुनि छट्टे-सातवें गुणस्थानमें रहते जितने कालमें आत्मशुद्धिकी दशामें आगे बढ़े बिना, वहींके वहीं नहीं रहते। छट्टे-सातवें गुणस्थानमें रहते हुए भी आत्मशुद्धिकी दशा विकसित होती ही रहती है। केवलज्ञान न हो तब-तक मुनिराज शुद्धिकी वृद्धि करते ही जाते हैं। यह तो मुनिराजकी अंतरसाधना है, जगतके जीव मुनिराजकी इस अंतरसाधनाको नहीं देख पाते। साधना कोई बाह्यसे देखनेकी वस्तु नहीं है, क्योंकि यह तो अन्तरकी दशा है। वनमें अकेले विचरण करते हों, बाध-सिंहकी दहाड़ गुँजती हो, सिर पर पानी बरसता हो व शरीरमें रोग हो तो भी मुनिराजको इनका बिलकुल भान नहीं रहता; वे तो अन्तरमें एकाग्र हुए रहते हैं - ऐसे मुनिराजकी अंतर-शुद्धि तो वृद्धिगत होती ही है। अन्तरमें शुद्धता हेतुक चलनेवाला पुरुषार्थ उग्र होता जाता है। ४८८



निराकुल-ज्ञायकस्वभाव अनुभव करनेका प्रबल पुरुषार्थ कर। तुझे अन्य कुछ आए

या न आए, लिखना भी न आए, तो उससे क्या प्रयोजन है ? ज्ञायक-स्वभावको जानकर-उसका अनुभव करनेका प्रबल प्रयत्न कर - यही करने योग्य है । जिसके एक समयके अनुभवके आगे चक्रवर्तीका राज्य भी तुच्छ है, उस अनुभवके लिए प्रचंड पुरुषार्थ कर । दुनियामें कैसे आगे बढ़े व लोगोंकी गिनतीमें कैसे आएँ ? अरे रे !! यह सब क्या है ? - भाई ! तेरे अनन्त गुणोंकी गिनतीका तो पार ही नहीं- ऐसा जो अपना ज्ञायक-स्वभाव; प्रभु ! उसके अनुभवका प्रयत्न कर ! इस भवमें यही एकमात्र करने योग्य है । ४८९



ज्ञायक-स्वभावका अभ्यास कर । शुभाशुभसे भिन्न ज्ञायकका ज्ञायकरूपसे अभ्यासपूर्वक ज्ञायककी प्रतीति दृढ़ करना - प्रथममे प्रथम यह करना । ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक, उस ओर ही झुकना । ४९०



करोड़ों श्लोक धारणामें लिये परन्तु अन्तरमें सूक्ष्म रूपसे पर-ओरके झुकावमें कहीं न कहीं अच्छा लगता है । पर-ओरका ज्ञान है सो तो परसत्तावलम्बी-ज्ञान है, उसमें प्रमोदित होता है कि बहुत लोगोंको समझाऊँ तथा वे रंजित हो - ऐसी सुख-कल्पना रह जाती है । धारणामें यथार्थ ज्ञान होने पर भी अन्तरमें अयथार्थ प्रयोजन रहनेसे सम्यग्दर्शन नहीं होता । ४९१



विशेष प्रकारकी पात्रताका अर्थ क्या ? - कि "जिसको मात्र आत्मा ही चाहिए"; इसके अतिरिक्त मान प्राप्तिके अथवा बाह्य प्रसिद्धिके भाव कुछ भी नहीं है - यही विशेष प्रकारकी पात्रता है । ४९२



सच्चे जिज्ञासु जीवको अंतरमें ज्ञानकी सूक्ष्म भी भूल रह गयी हो तो भी विशेषतम जिज्ञासा होनेसे वह उसे दूर कर लेता है । यथार्थ जिज्ञासुकी ज्ञानकी रही कोई भी भूल, स्वभावकी लगनी के बलसे निकल जाती है । जिसे ज्ञायकभावको पकड़नेकी तीव्र भावना हो- उसकी यदि किसी भी प्रकारकी अटकनेकी थोड़ी भी संभवना रह गयी हो तो वह लगनीके बलसे दूर हो जाती है । ४९३



प्रश्न :- सभी शास्त्रोंका सार तो स्वसन्मुख होना बतलाया है तो सभी शास्त्रोंके अध्ययनकी क्या आवश्यकता है ? स्वसन्मुख होनेका ही प्रयत्न करना चाहिए ।

उत्तर :- स्वसन्मुख होने ही का प्रयत्न करना है । परन्तु स्वसन्मुख न हो पाता हो व अनेक प्रकारसे अटकनेकी शल्य रही हो, तब शास्त्र-अध्ययनका विकल्प आता है, आए बिना नहीं रहता; और शास्त्रमें भी स्वसन्मुख होनेका ही निर्देश है । ४९४



"सतीआ सत् नव छोड़िये, सत् छोड़े सत् जाये" ।

ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत् है । प्रत्येक पर्यायका उत्पाद स्वयंमें ही सत् है । इस सत्-पर्यायको उल्टी-पल्टी नहीं करना । अन्य द्वारा सत्पर्यायका उत्पाद होता है - ऐसा न मानना । निमित्तसे उत्पाद नहीं होता । भाई, यदि सुखी होना हो तो सत् जैसा है वैसी ही तेरी श्रद्धा रखना । आहा हा ! ऐसी स्वतंत्रताकी बात जैन-दर्शनके सिवाय अन्य कहीं भी नहीं है । ४९५



जिसे "आत्मा"का विश्वास हुआ उसे कोई विघ्न ही नहीं - यह ऐसी वस्तु है ।

४९६



सम्यग्दृष्टिको पांच इन्द्रियोंके विषयके अशुभ-राग होते हैं, परन्तु वे उनमेंसे हटकर ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्परूपसे जम जाते हैं । इसका कारण उनका जोर पूर्ण वस्तु पर है । बीचमें विकल्प आते हैं, पर वे तो उनसे भिन्न...भिन्न...भिन्न ही हैं । ४९७



चाहे जैसी व्यस्तता व परेशानीमें भी किसी न किसी प्रकार अपने ज्ञान-ध्यानका समय निकाल लेना चाहिए । अमूल्य जीवन बीता जाता है । अनेक प्रकारकी प्रतिकूलता आ पड़े, पुत्रादिका मरण हो गया हो, शरीरमें भयंकर रोग हो गए हों, तथा अन्य अनेक प्रकारकी प्रतिकूलता आ पड़े तो भी निज ज्ञान-ध्यानके लिए समय निकाल लेना; जीवन व्यर्थ न जाने देना । ४९८



प्रश्न :- पर्याय उस समयका सत् है, निश्चित है, ध्रुव है - ऐसा कहनेका क्या

प्रयोजन है ?

उत्तर :- पर्याय उस समयका सत् हे, निश्चित है, ध्रुव है - ऐसा बतलाकर, उसपरसे लक्ष्य छुड़वाकर ध्रुव द्रव्य पर ही लक्ष्य करवानेका प्रयोजन है । ४९९



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन न होनेमें भावज्ञानकी भूल है अथवा आगमज्ञानकी भूल है ?

उत्तर :- अपनी भूल है । स्व-ओर न झुककर, पर-ओर रुकना ही जीवकी भूल है । विद्यमान शक्तिको तिरोभूत की; वही उसकी भूल है । इस प्रकट शक्तिकी विद्यमानताको जानने-देखने पर यह भूल टलती है । (इस प्रकार भावज्ञानकी भूल है) । ५००



अरे भाई ! सुन...सुन ! हम तो आत्माके दर्शन करके यह बात करते हैं । भगवान् आत्मा सदा ही आनन्दमय, सदा ही वीर्यमय, सदा ही शिवमय - ऐसा परमात्मतत्त्व है । उसके संदर्भमे दया-दान आदि करनेकी कहनेमें, तो लज्जा आती है । अरे ! तू 'इतना महान् परमात्मस्वरूप सदा ही कल्याणमय है कि तुझमें ध्यान करनकी कहनेमें, भी लज्जा आती है । ५०१



आहा हा ! दिगम्बर संतोकी वाणी तो देखो ! चीर-फाड़ करती हुयी त्रिकाली चैतन्यतत्त्वको बतलाती है । आहा हा ! शुद्धनय तो ध्यान करनेकी भी नहीं कहता; शुद्धनय पर्यायको भी स्वीकार नहीं करता, यह तो सदा ही आनन्दस्वरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व ही को स्वीकार करता है । आहा हा ! भाई, तेरे पूर्ण प्रभुकी महीमा तो देख ! ५०२



जिसे दुनियाकी बातोंमें रस हो, उसे यह बात जचना कठिन है; व जिसे इस विषयका रस लग जाता है उसे अन्य कहीं भी रस नहीं आता । इस प्रकार जिसे इन्द्रिय-ज्ञानका रस चढ़ा हे उसे अतीन्द्रिय-ज्ञान प्रकट नहीं होता । जैसे राग व्याभिचार है, वैसे ही इन्द्रियज्ञानका रस भी व्यभिचार है । ५०३



अध्यवसानके त्याग हेतु - परद्रव्यके त्यागका निर्देश किया है । परके त्यागसे अध्यवसानका त्याग नहीं होता; परंतु अध्यवसानके त्याग कराने, परका लक्ष्य छुड़ाने हेतु,

जहाँ परके त्यागका निर्देश किया है वहाँ परके आश्रयका त्याग करवाना है, क्योंकि अध्यवसानको परद्रव्यका आश्रय है । उस आश्रयका त्याग करने हेतु ही बाह्य-त्यागकी बात की है । परन्तु जिसकी दृष्टि ही बाह्यत्याग पर पड़ी हो वह तो मिथ्यादृष्टि है । (मिथ्यात्वका पोषक है) ५०४



प्रश्न :- राग और आत्माकी सूक्ष्म-संधि दिखती नहीं, अन्य विचार आया करते हैं, तो प्रज्ञाछैनी कैसे मारें ?

उत्तर :- स्वयं उल्टा पुरुषार्थ करता है, इसीलिए अन्य विचार आया करते हैं । पुरुषार्थ करके उपयोगको स्वभाव-सन्मुख सूक्ष्म करे तो आत्मा व बंधकी संधि दिखे तथा भिन्नता की जा सके । ५०५



कोई छूरी लेकर मारने आए तो भय लगे, सर्प दिखे तो भय लगे, बिच्छु दिखनेसे डर लगे और शत्रुको देखनेसे डर लगे । भयंकर रोगको देखनेसे भी भयभीत हो; परन्तु जो अनन्त-भवोंका कर्ता है ऐसे मिथ्यात्वभावसे जीवको भय नहीं लगता । जो इसका भय लगे तो स्वभाव-शरण खोजने निकले । ५०६



सम्यग्ज्ञानका आभूषण - यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्प समूहसे सर्वतः मुक्त है । सम्यग्ज्ञानका आभूषण - ऐसे परमात्मतत्त्व - त्रिकाली तत्त्वमें अनेक प्रकारके विकल्पोंके समूहका अभाव है । सर्व नय संबन्धी अनेक प्रकारके विचार भी प्रपंच हैं, ये भी त्रिकाली परमात्मतत्त्वमें नहीं हैं । इन विकल्पोंकी बात तो दूर; परन्तु शुद्ध पर्यायकी श्रेणी निर्मल-पर्यायकी धारारूप ध्यानावलीका भी परमात्मतत्त्वमें अभाव है । जो ध्यानावलीका ध्येय है ऐसे परमात्मतत्त्वमें ध्यानकी परिणति रूप पर्यायें - ध्यानावली नहीं है । भाई, तू तो सदा ऐसा परमात्मस्वरूप ही है । ५०७



ध्यान तो पर्याय है और द्रव्य ध्येय है - ऐसे अनेक प्रकारके विकल्पयुक्त भाव शुभ-तप है, यह भी कल्पनामात्र ही रम्य है; (अज्ञानी) ध्यानमे अनेक प्रकारकी कल्पना करता है कि यह द्रव्य है, यह पर्याय है, आत्मा ऐसा है - ऐसा है, इत्यादि-ऐसी अनेक प्रकारकी

कल्पनाएँ भी, कल्पनामात्र ही रम्य है । आहा हा ! आचार्यदेव नियमसारमें कहते हैं कि मैंने इस शास्त्रकी रचना अपने लिए की है, तुम्हें समझना हो तो समझो । वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि आत्मध्यानके अतिरिक्त अन्य कुछ जो कोई भी शुभा-शुभ-भाव हैं वे सब घोर संसारका मूल हैं । ऐसा जानकर जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे सहज परमानन्दरूपी पीयूषके पूरमें निमग्न होकर सहज एक परमात्म-स्वरूपका ही आश्रय लेते हैं । ५०८



(परम) शुद्ध निश्चयनयसे मुक्ति व संसारमे कोई अन्तर नहीं है । आहा हा ! कहाँ पूर्णानन्दकी प्रकटतारूप मुक्त-दशा और कहाँ अनन्त दुःखमय संसारदशा । फिर भी मुक्ति और संसारमें अन्तर नहीं - ऐसा शुद्ध-तत्त्वके रसिकजन कहते हैं । क्योंकि संसार तो पर्याय है और मुक्ति भी पर्याय है तथा कोई भी पर्याय आश्रय करने योग्य नहीं है । इस अपेक्षासे मुक्ति और संसारमें कोई अन्तर नहीं है - ऐसा शुद्धतत्त्वके रसिकजन अर्थात् शुद्धतत्त्वके अनुभवी पुरुषोंका कहना है । ५०९



स्वयंको आत्मा ज्ञानप्रत्यक्ष हुआ हो, रागसे भिन्न पड़कर ज्ञानस्वरूपी भगवानका जब वेदन हुआ हो, जब आनन्दका वेदन हुआ हो तथा ज्ञानमे यह आत्मा - परकी अपेक्षा बिना-प्रत्यक्ष जाना गया हो; जानने वालेको स्वयंको आत्म प्रत्यक्ष हुआ हो, वेदनमें आया हो तभी इस प्रत्यक्षता सहित अनुमानसे अन्यको जान सकता है । परन्तु जिन्हें (आत्मा) प्रत्यक्ष ही नहीं हुआ - ऐसे अन्यों द्वारा केवल अनुमानसे ही आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है । ५१०



किसी भी जीवको दुःख हो, ऐसा न हो । सभी जीव परमानन्दस्वरूप हैं, ज्ञाननन्द-स्वरूप परमात्मा हैं, उनके स्वभावमें दुःख कहाँ है ? भाई ! उल्टी श्रद्धा करनसे तुझे पर्यायमें दुःख होगा । सत्यकी की जा रही प्ररूपणा तुझे न जचे, और (फलस्वरूप) तुझे दुःख हो - यह हम नहीं चाहते । क्षमा करना भाई !

आहा हा ! मार्ग ऐसा है । प्रत्येक जीव; एकेन्द्रियसे लेकर उसी भवमें सिद्ध होने वाले समस्त जीव, परमानन्दस्वरूप आत्मा हैं । फिर अनादर किसका ? मुझे दुःख हो तो अच्छा न लगे वैसे ही दूसरोंको दुःख हो यही भी हम कैसे चाहें ? कोई विपरीत श्रद्धा-प्ररूपणा कर दुःखी हो, उसका अनुमोदन कैसे हो सके ?

साधुके अट्टाईस मूल-गुण, भगवान द्वारा हुयी सत्य प्ररूपणानुसार यथोक्त न हो व उनका छेदन होता हो तो उसे साधु नहीं कहते, द्रव्यलिंगी भी नहीं कहते - ऐसी सत्य प्ररूपणासे किसीको भी दुःख हो, हम ऐसा नहीं चाहते। भाई ! बापू ! जब घासका तिनका भी हल्केसे चुभनेपर दुःख होता है, तो तुझे मिथ्या-श्रद्धासे तो दुःख कितने होंगे - उनका अनुमोदन कैसे हो सके? सब आत्माओंको शान्ति...शान्ति...शान्ति हो । यहाँ हमें तो किसीसे विरोध नहीं है, कोई हमारा विरोध नहीं करता । सभी आत्माएँ द्रव्यस्वभावसे तो साधुर्मी हैं । विरोधका भाव तो स्वयंको ही हानिकारक है, दूसरोंको नहीं ; और अविरोधताका भाव भी अपनेको ही लाभप्रद है, अन्यको नहीं। आहा हा ! आत्मा तो सबसे उदास...उदास...उदास है । ५११



ज्ञायकभाव है को शुभाशुभभावरूप नहीं होता । जो ज्ञायकभाव है सो जड़भावरूप नहीं होता । जानने वाला चैतन्यतत्त्व, न जानने वाले पुण्य-पाप तत्त्वरूप नहीं होता - ऐसा कहकर, यही बतलाना है कि तूँ आत्माका अनुभव कर सकता है, क्योंकि ज्ञायकभाव है सो तो जड़रूप नहीं हुआ है । भले ही रागादि अनादिके हों; परन्तु आत्मा तद्रूप न तो कभी हुआ और न होगा अतः तुझे उसका अनुभव हो सकेगा । ५१२



पर्याय गौण हो जाती है, इसका यह अर्थ नहीं कि वीतरागताका अनुभव गौण हो जाता है। गौण हुयी यानी वीतरागता पर्यायमें न आयी अथवा वीतरागता पर्यायमें न हुयी, इसलिए गौण हो गयी - ऐसा अर्थ नहीं है । मात्र लक्ष्यकी अपेक्षासे गौणता बतलायी है । वीतरागी-पर्यायका लक्ष्य वीतरागीपर्याय पर नहीं है, अतः गौण बतलाया है । लक्ष्य (प्रकट) वीतरागी-पर्याय पर नहीं, परन्तु ध्रुव पर है । अपरिणामी (द्रव्य) इस परिणाममें नहीं आता फिर भी उस परिणाममें अपरिणामीका ज्ञान व वीतरागता आ जाती है । ५१३



त्रिकालीनाथकी सत्ताका स्वीकार वीतरागभावसे हुआ, वह भाव कहीं चला नहीं जाता । अनुभव तो अनुभवके वेदनमें ही रहता है । परिणामको गौण बतलाया है सो तो लक्ष्यकी अपेक्षासे कहा है; अनुभवकी अपेक्षासे नहीं । अनुभवकी अपेक्षासे तो वही मुख्य है क्योंकि द्रव्यका तो अनुभव नहीं होता । मेरा तो वीतरागीतत्त्व है, उसका मैं जब लक्ष्य

करता हूँ तब तो वीतरागी दशा प्रकट होती है - यही मेरे लिए मुख्य है । वेदनमें आए मुझे तो वही मुख्य है । लक्ष्यकी अपेक्षासे भले ही गौण किया परन्तु यह जो वेदन है उसे गौण करे ; तो न चले । पूर्णानन्दके नाथको तूने जाना और उसका वैदन किया, उस वेदनको तूँ गौण न करना-हो । यह तो मात्र लक्ष्य करनेकी अपेक्षासे ही उसे गौण बतलाया है, यद्यपि मुख्य तो वही है जो आनन्द स्वयंको प्रत्यक्ष वेदित हुआ- वही मुख्य है । ५१४



उपयोग नामक लक्षण बतलाया सो किसका लक्षण है ? - कि, जीवका - आत्माका । अब यदि आत्माका लक्षण निमित्तके अवलम्बनसे हो तो लक्षण ही नहीं है । भाई ! यह तो धीरजसे समझनेकी बात है । आत्माका लक्षण तो उपयोग है, लक्ष्य आत्मद्रव्य है । अब इस उपयोग नामक लक्षण द्वारा लक्ष्यको जाने और वही लक्षण यदि अवलम्बनपूर्वक परज्ञेयको जाने तो वह जीवका उपयोग ही नहीं । ५१५



अभी कितने ही लोग शुभरागको मोक्षमार्ग मानते हैं , उनको कहते हैं कि प्रभु ! तुम कहाँ चले गये ? क्या करते हो ? जब परलक्ष्यीज्ञान सो भी जीवका नहीं ; तो परलक्ष्यीराग जीवका भला करे, यह बात कहाँ रही । अरे ! प्रभु, यह क्या करते हो ! कभी सुना ही नहीं । अरे ! इसकी प्रभुता, इसकी चमत्कृत-शक्तियाँ तथा चमत्कृत ही इसकी पर्याय-इनकी तो उन्हें खबर ही नहीं । ऐसा जो भगवान आत्मा - उसकी अतिशय गंभीरताकी तो बात ही क्या करें ! जैसे पाताल कुएँमें पानी तलसे फटकर बाहर आता है वैसे ही लक्ष्यके आश्रय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञानरूपी पाताल कुएँमेंसे फौआरे फूटकर बाहर आते हैं । ५१६



क्रमबद्धपर्यायका सिद्धांत - यह तो सर्व आगमके मंथनका सार है । यह बात यहींसे (पू. गुरुदेव द्वारा) प्रसिद्ध हुयी है । इसके पूर्व यह बात सम्पूर्ण भारतवर्षमें कहीं भी चर्चित नहीं थी । क्रमबद्धता तो परमसत्य है । जिस काल जो होना है वही होगा; उसे इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं हैं । क्रमबद्धमें (ज्ञायकता) अकर्तृत्व सिद्ध होता है । इसकी श्रद्धाके संस्कार डाले होंगे तो स्वर्गमें जाओगे और वहाँसे



सम्यक्तव पाओगे । ५१७



प्रश्न :- एक और पर्यायको क्रमबद्ध बतलाते हैं व दूसरी और पर्याय-परसे दृष्टि हटानेका निर्देश देते हैं ?

उत्तर :- पर्याय क्रमबद्ध होती है, ऐसा जाने तभी पर्यायका कर्तृत्व छूट कर अकर्ता-स्वभावी-द्रव्य पर दृष्टि जाती है । क्रमबद्धता (पर्याय) पर दृष्टि रखने पर उसकी क्रमबद्धताका निर्णय नहीं होता । द्रव्य-पर दृष्टि करे तभी क्रमबद्धका सच्चा निर्णय होता है । क्रमबद्धता तो सर्वज्ञताका प्राण है । ५१८



प्रश्न :- योगसारमें पुण्यको भी पाप कैसे बतलाया है ?

उत्तर :- यद्यपि पुण्य शुभराग है तथापि वह स्वरूपसे पतित करता है, अतः वहाँ बतलाया है कि पापको तो सारा जग ही पाप कहता है, परन्तु अनुभवी जीव पुण्यको भी पाप कहते हैं। पूज्य जयसेनाचार्यने भी कहा है कि 'पुण्य अशुभसे तो बचाता है परन्तु शुद्धस्वरूपसे गिराता है, पतित करता है' इसीलिए पुण्यको भी पाप बतलाया है । पुण्यका अधिकार होने पर भी उसमें पुण्यको पाप कहा है । यहाँ तो जिसे आत्माका हित करना है उसकी बात है - ऐसे तो अनंत बार शुभभाव कर, नौवें ग्रैवेयक तक गया, परन्तु एक भी भव कम न हुआ । ५१९



प्रश्न :- आत्माकी प्रतीति न हुयी हो तथा शुभ-रागको विष कहे तो क्या स्वच्छंदी न हो जाए?

उत्तर :- अज्ञानी स्वच्छंदी ही है । मिथ्यात्व है सो ही महान पाप और स्वच्छंद है । शुभरागको विष बतलाकर, शुभरागकी रुचि छुड़वानी है । प्रथम शुभराग नहीं छूटता, प्रथम तो शुभकी रुचि छूटती है । शुभरागको जहर कहकर उसकी रुचि ही छुड़वानी है ।

५२०

यह तो सनातन स्याद्वाद जैन-दर्शन है, इसे यथोक्त प्रकारसे समझना चाहिए । त्रिकाली-ध्रुव वस्तुकी अपेक्षासे एक समयकी शुद्ध पर्यायको भले ही हेय कहो, परन्तु दूसरी और शुभराग आते हैं - होते रहते हैं; उनके निमित्तभूत देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धारूप

शुभराग होते हैं, भगवानकी प्रतिमा होती है - उन सबका स्वीकार न हो तो भी मिथ्यादृष्टि है । भले ही उनसे धर्म न हो, परन्तु उनका उत्थापन करे तो भी मिथ्यादृष्टि है । शुभराग हेय हैं; दुःखरूप होने पर भी ये भाव होते हैं, उनके निमित्तभूत भगवानकी प्रतिमा आदि होती हैं - जो उनका निषेध करे उसने तो जैन-दर्शनको समझा ही नहीं, अतः मिथ्यादृष्टि है । ५२१



प्रश्न :- (क्या) धारणाज्ञानमें यथार्थरूपसे समझे तो सम्यक्-सन्मुखता कहलाती है ?

उत्तर :- धारणाज्ञानमें दृढ़ संस्कार-अपूर्व प्रकारसे रोपें; पूर्वमें कभी न डाले हों- ऐसे अपूर्व ढंगसे संस्कार रोपें तो सम्यक्-सन्मुखता कहलाती है । ५२२



प्रश्न :- संसारसे थकान लगनेका उपाय क्या ?

उत्तर :- संसारमें शुभा-शुभ-भाव हैं सो दुःखरूप हैं; उनके फलमें चार गतियाँ मिलती हैं, उनमें अनेक प्रकारके दुःख व आकुलता है - ऐसा अंतरंगसे वेदन होना चाहिए; शुभाशुभ-भाव दुःखरूप ही हैं, ऐसा लगने पर ही संसारसे थकान लगती है ।

५२३



भगवान सर्वज्ञके मुखारविन्दसे निकली हुयी वीतरागी-वाणी परम्परासे गणधरों व मुनियों द्वारा प्रवाहित होती आयी है । जिन्हें इस वीतराग-वाणीमें कथित तत्त्वोंका स्वरूप विपरीत अभिनिवेश रहित हृदयंगम हुआ है, उन भव्य जीवोंके भवका अन्त आ जाता है, उनके भव रहते ही नहीं । भगवानकी वाणी भवका घात करने वाली है, जिसे इस बातका विश्वास और प्रतीति है उस जीवकी काललब्धि पक गयी है । ५२४



जिसे भगवानकी वाणीमें प्ररूपित तत्त्व हृदयंगम हुआ, उसे यह शंका ही नहीं रहती कि मैं भव्य हूँ या अभव्य ! वह जीव तो भव्य ही है, और उसे यह निःशंक निर्णय हो जाता है कि "मैं भगवान हूँ, भगवान-स्वरूप हूँ व अल्पकालमें भगवान होने वाला हूँ" - ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाता है । कितने ही तत्त्वकी बातें तो करते हैं परन्तु हम भव्य हैं या

अभव्य ? - इसकी हमें खबर नहीं पड़ती; "केवली भगवान जानते हैं" - ऐसी शंकामें गोता खाते हैं । ऐसे जीवको भगवानकी वाणीमें प्ररूपित तत्त्वोंका स्वरूप अन्तरमें जमा ही नहीं। ५२५



सम्यक्ज्ञानके आभूषणरूप परमात्मत्वमें दया-दान आदिके विकल्प-समुह नहीं हैं - ऐसे आत्माको अन्तरमें पहचानना, पहचान कर श्रद्धा करना - इसीका नाम धर्म है । समस्त विकल्पो अर्थात् दया-दान आदिके राग या गुण-गुणीके भेदका राग - ज्ञानसे शोभित आत्मतत्त्वमें नहीं है। ५२६



आत्मध्यानके अतिरिक्त अन्य सब कुछ घोर संसारका मूल है । एक ज्ञानस्वरूप प्रभुको ही ध्येय बनाकर ध्यान करना, इसके सिवाय शेष सब कुछ याने कि शुभ व अशुभ-भाव घोर संसारके मूल हैं । दया-दान आदिके रागसे भी भिन्न आत्माके ध्यानके अतिरिक्त जो कोई भी विकल्प हैं सो सब घोर संसारके मूल हैं । ५२७



(सहज तत्त्व) अन्तराल पड़े बिना, कर्म-विघ्न बिना, रागके विघ्न बिना निरंतर सुलभ है । सहज तत्त्वके सतत् अभ्याससे वह सुलभ है । भगवान आत्मा चैतन्य-प्रकाशका पूर है । अज्ञानी ऐसी महिमावन्त वस्तुकी महिमापूर्वक अन्तरमें नहीं उतरता व बाहरकी चीजोंमें ही अटका रह जाता है । ५२८



धर्मी जीवने सहज तत्त्व-पर दृष्टि रखी है, उसके लिए तो वह वीतरागताका घर है । वीतराग-मूर्तिमेंसे ही वीतरागता छलकती है । जिस घरमें राग नहीं, पर जो समतासे भरा हुआ घर है - उस पर दृष्टि देनेसे समता प्रकट होती है । आत्मामें तो केवल वीतरागता ही भरी है, उसमें जिसने दृष्टि दी है उसके लिए तो वह वीतरागताका ही घर है । उसीमेंसे उन्हें- सम्यग्दृष्टिको समता प्रकट होती है । ५२९



(आत्माको) चेतनागुणमय बतलाया है क्योंकि ज्ञानकी पर्यायका अंश प्रकट है, अतः चेतनागुणमय त्रिकाल है - ऐसा बतलाया है । आनन्दका अंश तो जब स्वभावका आश्रय

ले तब-प्रकट हो; परन्तु चेतनाकी वर्तमान पर्याय तो अज्ञानीका भी विकसित अंश है; इसीलिए यह कहा है कि पूर्ण भगवान आत्मा चेतनागुणमय है । अन्तर नजर डालते ही चेतना...चेतना...चेतना स्वभाव, अनन्त-अपरिमित-स्वभाव (दिखता) है । उस चेतनागुण पर दृष्टि डालने पर रागसे भिन्न पड़ना - वही उसके प्रकट होनेका साधन है । ५३०



लिंगका अर्थात् उपयोग नामक लक्षणका पर-द्वारा ग्रहण अथवा हरण नहीं हो सकता । आत्मा ! आनन्दका नाथ प्रभु-ज्ञानका सागर-ध्रुव-भगवान चैतन्यमय प्रभु है - उसके अवलम्बनसे जो उपयोग प्रकट हुआ; उस उपयोगको हरनेकी, लूटनेकी, नाश करनेकी, चुरानेकी दुनियामें किसीकी ताकत नहीं है । ५३१



चारित्र्यकी पर्याय भले ही हीन हो गयी हो । परन्तु ज्ञानके लक्ष्यसे रागसे भिन्नताका जो उपयोग (परिणमन) प्रकट हुआ, उसमें हिनता नहीं होती । यह उपयोग तो स्वर्गमें, सर्वार्थसिद्धिमें जाएँ, तो वहां भी साथ ही जाता है । स्वके आश्रयसे जो उपयोग प्रकट हुआ, उसमें तो चारित्र्यवंतका चारित्र्य नाश होने पर भी कोई क्षति नहीं होती । कर्म, मुझे ढक दे यह दूर; परन्तु अन्य (सहवर्ती) गुणकी पर्याय हीन हुयी, अतः उपयोगका घात हो जाए - ऐसा भी नहीं हो सकता । ५३२



भगवान आत्मा स्वयं तो विकारका अकारक ही है । क्योंकि द्रव्य व गुण तो भगवत्-स्वरूप ही हैं; अतः वह विकारका कर्ता कैसे हो ? इस कारणसे जीव स्वयं तो अपने रागादिकका अकारक ही है । जो ऐसा न हो तो प्रत्याख्यान व प्रतिक्रमणका जो (दो प्रकारका) उपदेश है सो निरर्थक सिद्ध हो । निमित्त-नैमित्तिक संबंधसे रागादि निराधार ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे वस्तुमें नहीं हैं; इसलिए उनके त्यागका उपदेश दिया गया है ।

५३३



परसे पीछे हटना व भविष्यमें पर में नहीं जुड़ना - ऐसा जो उपदेश है वह बतलाता है कि आत्मा स्वभावसे रागादिकका अकारक है । जैसे भगवान ज्ञाय-स्वरूपी प्रभु रागको नहीं करता, वैसे ही परसे, निमित्तसे राग नहीं होता; परन्तु निज-लक्ष्य छोड़कर परका

लक्ष्य करनेसे पर्यायमें राग होता है । जिसकी दृष्टि निजमें नहीं है, वह परका - निमित्तका - लक्ष्य कर पर्यायमें राग करता है । जैसे भगवान आत्मा रागको नहीं करता वेसे ही निमित्त भी रागको नहीं करता, हाँ, निमित्तके लक्ष्यसे राग होता है । ५३४



निर्मल-अतीन्द्रिय-आनन्दकंद जिसका स्वभाव है - ऐसा भगवान स्वयं तो विकारका अकारक है; क्योंकि अनन्त गुणोंमें कोई भी गुण ऐसा नहीं है कि जो विकार करे । इस प्रकार आत्मा स्वतः दया-दानके परिणामका अकर्ता सिद्ध होता है । रागादि होते तो हैं न ! - कि परद्रव्य-पर लक्ष्य जाता है, इसलिए (रागादि) विकार होता है । जैसे स्वद्रव्यका लक्ष्य करनेसे निर्विकारी परिणमन होता है, परन्तु उसे निजद्रव्य नहीं करता, बल्कि स्वयंके षट्कारकसे निर्विकारी परिणमन होता है ; वैसे ही परद्रव्य विकारी परिणमन नहीं करवाता परन्तु स्वतंत्ररूपसे, अपने षट्कारकसे, परद्रव्यका लक्ष्य करने पर विकारी परिणमन होता है ।

जो परके निमित्तसे विकारका होना न हो तो अकेले आत्माको ही विकारका कर्तृत्व बने, तथा आत्मा नित्य होनेसे विकारका नित्य कर्तृत्व रहने पर आत्माका मोक्ष नहीं हो सकता । अतः ऐसा सिद्ध हुआ कि आत्माके लक्ष्यसे विकार नहीं होता; परन्तु स्वद्रव्यका लक्ष्य छोड़कर परद्रव्यका लक्ष्य करनेसे विकार होता है व उसीसे भटकता रहता है ।

५३५



जब जीव निमित्तभूत द्रव्यको छोड़ता है अर्थात् निमित्तभूत द्रव्यका लक्ष्य छोड़ता है तब उसके लक्ष्यसे होनेवाले विकारी-भावोंको भी लक्ष्यमेंसे छोड़ता है । जब निमित्तभूत द्रव्यका प्रतिक्रम व त्याग करता है तब नैमित्तिक-भाव - विकारका भी प्रतिक्रम व त्याग करता है, इसीका नाम धर्म है । ५३६



प्रश्न :- हम तो सारे दिन सुबहसे शाम तक परका कार्य करते हैं पर आप उन्हें न करनेके लिए कहते हो ?

उत्तर :- परका न करना - ऐसा नहीं, परन्तु परका कार्य कर ही नहीं सकता । 'न करना'-यब बात नहीं, परन्तु यहाँ तो यह कहना है कि आत्मा शरीरादि परद्रव्यका

कार्य किंचित्मात्र भी कर ही नहीं सकता । परका करनेकी तो इसमें शक्ति ही नहीं; फिर भी "मैं सारे दिन परके कार्य करता हूँ" - ऐसा मानना ही मिथ्यात्वरूपी भयंकर पाप है ।

५३७



आत्मलक्ष्मी ही सच्ची लक्ष्मी है और वही साहूकार है । जड़-लक्ष्मी वाला तो परको अपना मानता होनेसे, चोर है । आत्मलक्ष्मीकी महिमा आए तो अन्य सबकी महिमा उड़ जाती है । ५३८



एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ करता तो नहीं, परन्तु स्पर्श भी नहीं करता । प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है । प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय क्रमबद्ध होती है । आत्मा मात्र ज्ञायक परमानन्द-स्वरूप है - वह भगवान् सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिका नाद है । अध्यात्मकी ऐसी सूक्ष्म वस्तु इस कालमें जिसे अन्तरमें रुच कर परिणमित हो जाए, उस जीवके एक-दो-चार भव ही होंगे, अधिक नहीं - यह शास्त्र कथित है । क्योंकि इस कालमें केवली नहीं, अवधिज्ञानी या मनःपर्यय ज्ञानी नहीं, आश्चर्यके कारणभूत इन्द्रादि देवोंका आगमन नहीं होता, चक्रवर्ती आदि कोई चमत्कारी व्यक्ति (वस्तु) नहीं है, फिर भी अध्यात्मका सूक्ष्म तत्त्व अन्तरमें रुच जाय तो उसके भाव विशिष्ट हैं; इसकारण ऐसे जीवको अधिक भव नहीं होते । ५३९



प्रश्न :- अन्तरमें उतरनेके लिए रुचिकी आवश्यकता है अथवा अन्य कुछ भूल है ?

उत्तर :- अन्तरमें उतरनेके लिए सच्ची रुचि ही चाहिए, परन्तु उस रुचिके विषयमें अन्य नहीं कह सकते, स्वयंको ही निश्चय करना चाहिए । सच्ची रुचि हो तो आगे बढ़ता जाए व अपना काम करले । ५४०



प्रश्न :- सूक्ष्म उपयोगका आशय क्या ?

उत्तर :- अन्तरमें आत्मा ध्रुववस्तु विराजमान है, उसे लक्ष्यमें लेनेवाला उपयोग सूक्ष्म है । पुण्य-पापके परिणाममें रूकने वाला उपयोग स्थूल है । ५४१



प्रश्न :- उपयोग सूक्ष्म कैसे हो ?

उत्तर :- अन्तरमें विराजित अचिंत्य सामर्थ्यवाली आत्मवस्तुकी रुचि करे तो उपयोग सूक्ष्म होकर अन्तरमें झुके । ५४२



प्रश्न :- पर्याय द्रव्यसे भीन्न है तो 'अनुभूति सो ही आत्मा है' - ऐसा भी तो कहा है न ?

उत्तर :- अनुभूति पर्यायमें आत्मद्रव्यका ज्ञान आ जाता है, द्रव्यकी सामर्थ्य पर्यायमें आ जाती है । द्रव्यकी जितनी सामर्थ्य है उसका ज्ञान पर्यायमें आ जाता है - इसी अपेक्षासे अनुभूतिकी पर्यायको आत्मा बतलाया है । यदि ध्रुव-द्रव्य क्षणिक पर्यायमें आ जाए तब तो द्रव्यका नाश हो जाए, इसी कारणसे द्रव्य पर्यायमें नहीं उतर आता, केवल द्रव्यका ज्ञान पर्यायमें होता है, जिससे अनुभूतिको आत्मा कहा है । ५४३



समयसार गाथा ११ में पर्यायको गौण कर अभूतार्थ बतलायी है, वहाँ तो पर्यायका आश्रय छुड़ानेके लिए उसे गौण कर अभूतार्थ कहा है । परन्तु पर्याय सर्वथा ही नहीं - ऐसा नहीं है । यहाँ १५ वीं गाथा अनुसार तो जिसमें अबद्धस्वरूप आत्मा अनुभवमें आया वह पर्याय ही मुख्य है, वह पर्याय ही जैनशासन है । आहा हा ! मेरा द्रव्य - विकार रहित, वीतरागी तत्त्व है, उसका लक्ष्य करने पर पर्यायमें वीतरागता प्रकट होती है, वह वेदनकी पर्याय ही मुख्य है, द्रव्य तो वेदनमें नहीं आता, वेदनमें तो पर्याय ही आती है और यह वेदनकी पर्याय ही मुझे तो मुख्य है । तूँ उसे ही गौण कर डाले सो कैसे चले ? नाथ ! । पूर्णानन्दका नाथ जब ज्ञान और अनुभवमें आया वह गौण नहीं हो । यह तो तुझे द्रव्यका लक्ष्य-आश्रय करानेके लिए पर्यायकी गौणता बतलायी थी ! परन्तु वेदन तो पर्यायमें मुख्य है । भले ही द्रव्यका आश्रय करवाने हेतु परिणामको गौण किया परन्तु ये परिणाम कहाँ जाएँ ? वे अस्तिरूप वेदित होनेवाले परिणाम कहाँ जा सकते हैं ? आहा हा ! यह तो आत्मा पुकारता है कि वीतरागस्वरूप जो मेरा द्रव्य है उसका लक्ष्य करनेसे मुझे वीतरागता वेदनमें आती है और मुझे तो वह वेदन ही मुख्य है । ५४४



मुनिराज कहते हैं कि "हम इन संसारजनित भावोंमें नहीं हैं" । स्त्री-पुत्र-पैसा-धंधा छोड़ा, अतः संसार छोड़ा है - यह बात नहीं है । जो पर्यायमें होनेवाले संसारजनित सुख-

दुःखादिसे दूर वर्तता है उसीने संसार छोड़ा है । जो वस्तु प्रत्यक्ष है - प्रकट है - विद्यमान है - जिसका अस्तित्व पर्यायमें नहीं; ध्रुवमें है - उस वस्तुमें जो निष्ठ (श्रद्धावान) नहीं है वह आत्मासे भ्रष्ट होनेसे बहिरात्मा है । ५४५



आहा हा ! एक भाव ही यथार्थरूपसे समझमें आए कि भगवान ज्ञानमय-चैतन्यबिम्ब है-अतीन्द्रिय आनन्दमय है; उसके प्रेममें, उससे विरुद्ध स्वरूप दुःख व दुःख-फल अर्थात् कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका करना व वेदन नहीं होता, ऐसा समझमें आए तो ही उसका मात्र ज्ञाता रह सके - ऐसी बात है । ५४६



भगवान आत्मामें ज्ञान अवस्थित है, अतः जो जो प्रसंग बने उनमें ज्ञान करनेका अवसर होने पर भी उनका ज्ञान करनेके बदले; ज्ञेय-ज्ञानके भेदज्ञानसे शुन्य होनेके कारण, स्वयंको ज्ञेयरूप जानता हुआ, ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके बजाय अज्ञानरूपसे परिणमित होता हुआ, रागादि-ज्ञेय मेरे हैं - ऐसा जानता हुआ, अज्ञानी उनका कर्ता बनता है । ज्ञेय-ज्ञायककी भिन्नताको अनादिकालसे न जाननेसे स्वयंको ज्ञेयरूप मानता हुआ, ज्ञान परिणामको अज्ञानरूपसे करता हुआ, विकारका कर्ता होता है । ५४७



जिसे आत्माका रस लगा है उसे बाहर सारी दुनियामें कहीं अधिकता नहीं लगती । जिसे बाहरमें मिटास लगती है उसे आत्माकी रुचि-महिमा नहीं होती । ५४८



सर्व प्रथम शर्त तो यह है कि मुझे दूसरी कोई चीज नहीं चाहिए । मुझे "एक आत्मा ही चाहिए" - ऐसा दृढ़ निश्चय हो । दुनियाकी कोई चीज-पैसा-इज्जत आदि कुछ भी नहीं चाहिए । मुझे तो बस ! एक आत्मा ही चाहिए, ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए ।

५४९



भाई ! मनुष्य भव मिला है तो यह (काम) कर ले, बाकी सब कुछ छोड़ दे ! चिन्ता छोड़ और यह कर ले । प्रशंसा करने वाली दुनिया कोई काम नहीं आएगी, अतः बाहरका सब छोड़कर यह (काम) कर ले । ५५०





जो अपनी पर्याय परद्रव्यका स्पर्श नहीं करती उसकी बात तो एक ओर; परन्तु जो शान्ति-आनन्द आदिकी पर्यायें अपने अस्तित्वमें हैं, उनमेंसे भी आनन्दादिकी नयी पर्यायें प्रकट न होनेसे उन्हें परद्रव्य कहा; तथा त्रिकाली गुण-पिण्डको स्वद्रव्य कहा है । केवलज्ञानकी पर्यायको भी परद्रव्य कहा है, तो स्वद्रव्य कौन ? - कि त्रिकाली-गुणस्वभाव सो स्वद्रव्य है । अनन्त-गुण-स्वभावको स्वद्रव्य कहा तो उसका आधार क्या ? - कि त्रिकाली एकरूप कारणसमयसार सो स्वद्रव्यका आधार है । त्रिकाली सहजज्ञान त्रिकाली सहजदर्शनात्मक-शुद्ध अंतःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य है - उसका आधार कारणसमयसार है; यह कारणसमयसार ही उपादेय है । ५५१



संयोगी वस्तुके बढ़ने या घटनेसे तेरे गुणोंमें फेरफार हो, ऐसा नहीं है । तेरे अवगुण भी तुझमें ही है । तेरी अवस्थामें अज्ञान है, जिससे उस अवस्थाको छोड़े बिना शरीरकी क्रियासे रागादि दूर हो जायेंगे - ऐसा नहीं है । ५५२



प्रश्न :- आत्माके अलग-अलग गुण तो खयालमें आते हैं परन्तु अभेद (आत्मा) खयालमें क्यों नहीं आता ?

उत्तर:- स्वयं खयालमें नहीं लेना, अतः खयालमें नहीं आता । अभेदको खयालमें लेना तो सबसे अंतिम स्थिति है । निर्विकल्प हो तभी अभेद आत्मा खयालमें आता है ।

प्रश्न :- उसे खयालमें लेना कठिन पड़ता है ?

उत्तर :- धी...रे...धी...रे प्रयत्न करना, व्याकुल होना योग्य नहीं । वह अनुभवमें आने जैसा है, अतः धी...रे...धी...रे प्रयास करना; बेचैन न होना । वह तो संभवित है । इस कालमें ऐसी अमूल्य बात सुननेको मिली - यह क्या कम है ? ५५३



प्रश्न :- अंतर्दृष्टि करनेका क्या उपाय है ?

उत्तर :- अन्तर्दृष्टि करनेका उपाय तो स्वसन्मुख होकर अन्तरमें दृष्टि करना ही है । एकदम अन्तर्मुख होकर वस्तुको लक्ष्यमें लेना - यही उपाय है । ऐसे तो मंद पुरुषार्थीको व्यवहारसे अनेक बातें समझाते हैं । सविकल्प-भेदज्ञानसे निर्विकल्प-भेदज्ञान होता है - ऐसा भी कथन आता है । ५५४



अन्तर्दृष्टि करनेमें कला - कार्यकारी है अथवा बल ?

उत्तर :- अन्तर्दृष्टि होना तो पुरुषार्थका कार्य है, वह तो स्व-सम्मुखके पुरुषार्थसे होती है। ५५५



शक्तियोंका वर्णन करनेका हेतु तो यह है कि बाह्यमें तेरे ज्ञान, आनन्द, सुख-शान्ति नहीं है; अन्तरमें ही तेरी शक्तियोंका निधान भरा पड़ा है - उस पर दृष्टि कर व बाहरसे दृष्टि हटा ले । अन्तरंग ज्ञान-दर्शन-आनन्द-सुख-वीर्य-प्रभुता आदि शक्तियों द्वारा जीना ही धर्मी जीवका जीवन है । बाह्य देहादिसे जीना सो धर्मी जीवका जीवन नहीं है । अंतरमें अनन्त शक्तियोंका भण्डाररूप भगवान-सहजानन्द मूर्ति विराजमान-अवस्थित है - उसकी दृष्टि व विश्वास पूर्वक जीना ही यथार्थ जीवन है । ५५६



प्रश्न :- श्रवणमें प्रेम हो तो मिथ्यात्व मंद पड़े ?

उत्तर :- मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी तो अनन्त बार मन्द पड़े; परन्तु ये सम्यग्दर्शनके कारण नहीं है । जोर तो मूल दर्शनशुद्धि पर होना चाहिए । ५५७



भाई ! तू सत्की गहरी जिज्ञासा कर, ताकि तेरा प्रयत्न यथार्थतः चलता रहे । तेरी परिणति सुल्टी होकर आत्मामें परिणमित हो जाएगी । यदि सत्के गहरे संस्कार रोपे होंगे और इस भवमें कार्य न भी हुआ हो तो आगामी गतिमें सत् प्रकट हो जाएगा । सातवीं नरकके नारकीकी वेदनाका पार नहीं, परन्तु अन्तरमें पूर्व-संस्कार जागृत होने पर वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, अतः अन्तरमें सत् के गहरे संस्कार डाल । भाई, गहराईसे सत्के संस्कार डाल ! ऊपर-ऊपरसे तो संस्कार अनेक बार डाले हैं, परन्तु एक बार भी गहराईसे यथार्थ संस्कार डाले तो अगली गतिमें ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो जायेगा ।

५५८



भाई ! तूने पंचमकालमें, भरतक्षेत्रमें, गरीब-घरमें जन्म लिया है, अतः आजीविका आदिका क्या करना, यह न सोच । तू अभी ही, और जब देखे तभी - "सिद्ध समान ही है" । जब, जिस क्षेत्र व जिस कालमें (अपनेको) देखे "तू सिद्ध समान ही है" । क्या

मुनिराजको मालूम नहीं है कि ये सब जीव तो संसारी हैं ? भाई ! संसारी और सिद्ध तो पर्यायकी अपेक्षासे हैं । स्वभावसे तो ये संसारीजीव भी सिद्ध समान शुद्ध ही हैं । ५५९



प्रश्न :- क्या सम्यग्दृष्टि जीवको अशुभरागके कालमें आयु बन्ध होता है ?

उत्तर:- उसे अशुभराग होता है, परन्तु अशुभरागके कालमें आयुबन्ध नहीं होता । क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य, वैमानिक-देवलोकमें जाते हैं, अतः उन्हें शुभरागके कालमें ही आयु-बन्ध होता है । ५६०



प्रश्न :- आत्मअनुभव होनेके पूर्व अंतिम विकल्प कैसा होता है ?

उत्तर :- अंतिम विकल्पका कोई नियम नहीं है । रागसे भिन्नतापूर्वक - शुद्धात्माकी सन्मुखताका प्रयत्न करते-करते, चैतन्यती प्राप्ति होती है । जहाँ त्रिकाली-ज्ञायक प्रभुकी और परिणति ढल रही हो, ज्ञायक-धारा उग्र व तीक्ष्ण हो, तब अंतिम विकल्प कैसा हो - इसका कोई नियम नहीं है । पर्यायको अन्तरमें गहरे ध्रुव-पातालमें ले जा, वहाँ भगवान् आत्माकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन होता है । ५६१



प्रश्न :- मोक्षका कारण समभाव है । यह समभाव करे तो मोक्ष हो न ?

उत्तर :- समभाव यानी वीतरागता । यह वीतरागता तो द्रव्यको लक्ष्यमें लेने पर हो । द्रव्यके आश्रय बिना वीतरागता नहीं होती । समभावका कारण तो वितरागस्वभावी भगवान् आत्मा है । उसका आश्रय करना व परका आश्रय छोड़ना - यह संक्षिप्तसे संक्षिप्त है ।

५६२



प्रश्न :- जिसे उपशम सम्यग्दर्शन होकर छूट जाए तथा मिथ्यात्वमें लौट आए, क्या उसे खयाल आता होगा कि मुझे सम्यक्त्व हुआ था ?

उत्तर :- हाँ, सम्यक्त्व छूटनेके बाद अल्प समय तक तो खयालमें रहता है, पश्चात् अधिक समय बीतने पर तो भूल जाता है । ५६३



प्रश्न :- स्वद्रव्य आदरणीय है वैसे ही उसकी भावनारूप-निर्मलपर्याय भी आदरणीय

कहलाती है न ?

उत्तर :- हाँ, राग हेय है उस अपेक्षासे निर्मलपर्याय आदरणीय कहलाती है । और द्रव्य-अपेक्षासे पर्याय व्यवहाररूप है; अतः आश्रय योग्य न होनेसे, हेय कहलाती है । क्षणिकपर्याय द्रव्य-अपेक्षासे हेय कहलाती है । परन्तु राग-अपेक्षासे क्षायिकभावको आदरणीय कहते हैं । ५६४



प्रश्न :- ध्रुवकी कीमत अधिक या आनन्दके अनुभवकी ?

उत्तर :- ध्रुवकी कीमत अधिक है । आनन्दकी पर्याय तो एक समयकी है तथा ध्रुवमें तो आनन्दका अटूट भण्डार है । ५६५



प्रश्न :- एक आत्माके ही सन्मुख होना है तो इसके लिए आचार्यदेवने इतने सारे शास्त्रोंकी रचना क्यों की ?

उत्तर :- जीवकी भूलें इतनी अधिक हैं कि उन्हें बतलानेके लिए इतने सारे शास्त्रोंकी रचना हुयी है; की नहीं है, पुद्गलसे हुयी है । ५६६



जिसे यथार्थ द्रव्यदृष्टि प्रकट हुयी है, उसे दृष्टिके जोरमें केवल ज्ञायक ही भासित होता है, शरीरादि कुछ भी भासित नहीं होता । भेदज्ञानकी परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्नमें भी आत्मा शरीरसे भिन्न भासित होता है । दिनमें तो भिन्न भासित होता ही है, पर रात्रि-निद्रामें भी आत्मा निराला ही भासित होता है । सम्यग्दृष्टिके, भूमिका अनुसार बाह्य-वर्तन होता है, परन्तु बाह्य-वर्तनमें भी कन्हीं भी संयोगोंमें उसकी ज्ञान-वैराग्य शक्ति कोई अनोखी प्रकारकी रहती है । बाह्यसे वह चाहे जैसे प्रसंगो - संयोगोमे जुड़ा हुआ दिखे तो भी ज्ञायक तो ज्ञायकरूप से ही भासित होता है । सम्पूर्ण ब्रह्मांड बदल जाए तो भी स्वरूप-अनुभवके विषयमें निःशंकता रहती है । 'ज्ञायक' ऊपर चढ़कर ऊर्ध्वरूप विराजित रहता है , अन्य सर्व राग-विकल्प निचे रह जाते हैं । चाहे जैसे शुभभाव आए, तीर्थकर-नामकर्म का शुभभाव हो तो भी वे नीचे ही रहते हैं । द्रव्य-दृष्टिवंतको ऐसा अद्भूत जोर रहा करता है । ५६७



भगवान आत्मा पूर्णानन्दसे परिपूर्ण स्वभाव है, इस स्वभावके साधनसे ही जीवको मुक्ति होती है । स्वभाव-साधन द्वारा ही वह स्वभाव जाननेमें आता है । रागसे भेद करने पर, स्वभावका आश्रय लेनेसे सम्यक्त्व (प्रकट) होता है । ५६८



अन्तरमें जिनस्वरूपी भगवान आत्मा वीतराग-मूर्ति है । सभी जीव अन्तरमें तो जिनस्वरूप ही हैं; पर्यायमें अन्तर है, परन्तु वस्तुमें अन्तर नहीं है । जो रागसे एकता तोड़कर जिनस्वरूपको दृष्टिमें ले व अनुभव करे वह अंतरंगमें जैन है, भेसमें जैनत्व नहीं है । बाह्यमें वस्त्र-त्याग कर नग्न हो बैठे हों अतः जैनत्व है, पंचमहाव्रत-पालन करते हैं इसलिए जैनत्व है - ऐसा नहीं है । परमात्मा, जैन तो उसे कहते हैं कि जो वस्तु स्वयं ही जिन स्वरूप है, वीतरागमूर्ति, अखंडानंद नाथ प्रभु है उसकी दृष्टि पूर्वक जिनकी राग-विकल्पकी दृष्टि छूट गयी हो । ५६९



प्रश्न :- त्रिकाली-द्रव्यके आश्रयसे निर्विकल्प-आनन्दकी अनुभूति हो उसी समय मुझे आनन्दका अनुभव होता है ऐसा खयालमें आता है क्या ?

उत्तर :- निर्विकल्प अनुभूतिके कालमें आनन्दका वेदन है, परन्तु विकल्प नहीं । विकल्प होने पर खयाल आता है कि आनन्दका अनुभव हुआ, परन्तु आनन्द-अनुभवके कालमें आनन्द-अनुभव होता है - ऐसा भेद (विकल्प) नहीं होता, केवल वेदन होता है ।

५७०



प्रश्न :- चौथे गुणस्थानमें अनुभव होता है अथवा केवल श्रद्धा ही होती है ?

उत्तर :- चौथे गुणस्थानमें आनन्द-अनुभव सहित श्रद्धा होती है ।

प्रश्न :- तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यक् कहा है, चारित्रको नहीं कहा ?

उत्तर :- चारित्रकी पर्याय तो मुख्यरूपसे पाँचवें-छठे गुणस्थानसे ही गिनी जाती है, चौथे (गुणस्थान) वालेको तो स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट हुआ है । ५७१

एक बार परके लिए मृत समान हो जाना चाहिए । परमें मेरा कोई अधिकार ही नहीं। अरे भाई ! तू तो राग और रजकणको कर ही नहीं सकता, तू ऐसा ज्ञाता-दृष्टा द्रव्य है । ऐसे ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावकी दृष्टि कर । उपयोगको चारों ओरसे समेट कर एक

आत्मामें ही मग्न हो। ५७२



प्रश्न :- ११ अंगधारी द्रव्यलिंगीकी क्या भूल रह जाती है ?

उत्तर :- स्वसन्मुख-दृष्टि नहीं करता-अतीन्द्रिय प्रभुके सन्मुख दृष्टि नहीं करता।  
(यही भूल रह जाती है)

प्रश्न :- (क्या) द्रव्यलिंगी स्वसन्मुख होनेका प्रयत्न नहीं करता होगा ?

उत्तर :- नहीं, उसकी धारणामें तो सभी बातें रहती हैं, परन्तु वह अंतर्मुखताका प्रयत्न नहीं करता।

प्रश्न :- द्रव्यलिंगीकी भूमिकाकी तुलनामें सम्यक्त्व-सन्मुख (जीव) की भूमिका कुछ ठी है?

उत्तर :- हाँ, द्रव्यलिंगी तो संतुष्ट हो गया है, परन्तु सम्यक्त्व-सन्मुख जीव प्रयत्नरत है। ५७३



प्रश्न :- हमारी काललब्धि नहीं पकी इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता न ?

उत्तर :- नहीं...नहीं...ऐसा नहीं है। तूँ पुरुषार्थ नहीं करता इसीलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता। काललब्धिकी भाषा सुन कर धारणा कर, बोलने लगे सो नहीं चले। भगवानने (ज्ञानमें) जो समय देखा होगा तभी (सम्यग्दर्शन) होगा - ऐसी धारणा कर लेनेसे काम नहीं बनता। तुझे भगवानने देखा, इसकी प्रतीति है क्या? भगवानने देखा - जो इसका यथार्थ ज्ञान करे, यथार्थ निर्णय करे, उसकी दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव पर ही होती है व उसकी काललब्धि पकी हुयी होती है। परका कार्य करनेमें तो (उल्टा) पुरुषार्थ करता है व अपने आत्मकार्यमें काललब्धिके बहाने निकाल कर पुरुषार्थ नहीं करता तो सम्यग्दर्शन कहाँसे हो ? ५७४



प्रश्न :- धर्मी साधक-जीव रागका वेदक है अथवा ज्ञाता है ?

उत्तर :- साधक जीवका ज्ञान रागमें जाए तब दुःखका वेदन होता है; ज्ञान, ज्ञानमें ही रहे तो सुखका वेदन करता है। ५७५



प्रश्न :- ज्ञानीको तो दुःखका वेदन है ही नहीं न ?

उत्तर :- ज्ञानीको भी राग है उतना दुःख है । ज्ञानको जितनी कषाय है उतना दुःखका वेदन भी है। दुःखका वेदन नहीं है - ऐसा तो श्रद्धाके जोरकी अपेक्षासे कहा है कि ज्ञानी रागका वेदक नहीं, परन्तु ज्ञायक है । एक ओर तो ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थानमें बंध ही नहीं है और पुनः कहते हैं कि चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त संसारी है । जहाँ जिस अपेक्षासे कथन हो वहाँ उसी अनुसार समझना चाहिए । ५७६



अरे प्रभु ! तूँ स्वभावमें परमेश्वर है ! तेरे (स्वभाव)से विरुद्ध बातें करनेमें लज्जा आती है। उसमे अनादार नहीं होता क्या ? कहाँ तेरी शुद्धता और कहाँ यह विकारीभाव-मिथ्यात्व - और संसार ! अरे ! कहाँ तो नीमवृक्षमें अवतार ! निगोदमें अवतार ! अरे ! तूँ भगवान् स्वरूप ! भगवान् तूँ कहाँ गया ? तेरा विरोध नहीं है प्रभु ! तेरेसे विरुद्ध भावका विरोध है । ५७७



वस्तुतः तो ऐसा अवसार मिला है कि इसमें स्वयंको अपना कार्य कर ही लेना चाहिए ।दुनियाकी आलोचना करने जाएगा तो अपनी ही हानि होगी । अपनेको अपनी भूल दूर करनी है । वस्तुस्वरूपको समझकर भूल दूर करे तो भगवान् हो जाए । ५७८



ज्ञानीको भी तीव्र रोग होते हैं, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं बाह्यमें इन्द्रियाँ कार्य न कर सके, बाह्यमे असाध्यता जैसा लगे; परन्तु अंतरमें कुछ भी असाध्य नहीं है । ५७९



जीवको एक समय भी संसारका विस्मरण नहीं हुआ । जो एक समय भी विस्मरण हो तो इसके हितका शुभारम्भ हो । जिसकी सत्ताका कभी विरह न हुआ, जिसकी सत्तामें कभी अपूणता न हुयी, जिसकी सत्ता किसीके अधीनस्थ न हुयी - ऐसी जो त्रिकाल-निरावरण वस्तु है उसकी नजरबंदी हो जानी चाहिए । उस द्रव्य पर ही दृष्टि बंधी रहनी चाहिए । मुझे मेरे सिवा अन्य किसीका आश्रय नहीं - इस प्रकार ध्रुव पर नजरबंधी हो जानी चाहिए । ५८०



इस (परम) सत्यको प्रकशमें लानेसे असत्यके आग्रहीको दुःख होता है । पर भाई ! क्या करे ? हमारा उदय ही ऐसा है जिससे सत्य बात बतलानेमें आती है । इससे विरुद्ध श्रद्धावलोंको दुःख हो तो मुझे क्षमा करना । भाई ! किसी जीवको दुःख हो तो उसका अनुमोदन कैसे हो ? मिथ्याश्रद्धाके फलमें चार-गतिके दुःख बहुत भंयकर हैं; ऐसे दुःखोंका अनुमोदन कैसे हो सके? अरे ! प्रत्येक जीव भगवान-स्वरूप है । पूर्णानन्दरूपसे परिणमित होकर भगवान हो जाओ । कोई भी जीव दुःखी न हो । ५८१



अरे प्रभु ! तूँ आनन्दस्वरूप भगवान है । तुझे दुःख शोभा नहीं देता, प्रभु । अरे ! तुम सभी भगवान हो, तुम्हें दुःख शोभा नहीं देता । पर्यायमें होनेवाले कृत्रिम विकारकी दृष्टि छोड़ तो, तूँ पर्यायमें भगवान हो जाएगा । अरे प्रभु ! ऐसा अवसर कब मिलता है ? एक समयकी पर्याय पर दृष्टि होनेके कारण अनंत काल दुःखमें बीत गया और अनादि सत्तास्वरूप-भगवान पड़ा ही रहा- यह कोई साधारण बात नहीं है, मूल (सिद्धांतभूत) बात है; अंतरसे सहज ही निकली है । ५८२



पर-वस्तु तो दूर रही । शरीर-वाणी-मन-स्त्री-पुत्र-पैसा, अरे ! यहाँ तक कि देव-शास्त्र-गुरु भी दूर रहे, परन्तु जो एक समयकी पर्यायमें मूढ़ है; त्रिकाली-आनन्दमूर्ति प्रभु पर दृष्टि न देकर एक समयकी पर्याय पर दृष्टि रखता है वही उसे भवभ्रमणका कारण है । ऐसे भावमें भवको बीतने देना योग्य नहीं है । ५८३



तूँ तो जिनस्वरूप ही है प्रभु ! इस जिनस्वरूपकी दृष्टि करनेके लिए गुण-गुणीके भेदकी भी आवश्यकता नहीं है । प्रभु ! जो एक समयमें ही अनन्त गुणोंको निगल गया है - पी गया है, उसमें ज्ञान-दर्शन-श्रद्धा आदिके भेद नहीं हैं । अभेद पर दृष्टि करनेसे उसमें भेद दिखायी नहीं देते और जब भेद दिखायी देते हैं तब अभेद दृष्टि नहीं होती । सामान्य वस्तुमें शुभराग तो नहीं, निमित्त नहीं, बल्कि विशेष भेद भी नहीं हैं । अतः गुणी व गुणके भेद देखने जाएगा तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा । आहा हा ! यह तो धीरोंका काम है । उतावलीसे तो आम भी नहीं पकते । ५८४





यह गुणपिण्ड आत्माका आनन्दगुण है । आत्मा ज्ञाता है और ज्ञान उसका गुण है - इस प्रकारके भेदसे तो विकल्प उत्पन्न होंगे व इनसे मुझे लाभ होगा - ऐसा माननेवालेको तो मिथ्यात्व ही होगा । ५८५



प्रश्न :- ज्ञानी तो द्रव्यदृष्टिके जोरसे रागको पुद्गलका कार्य मानते हैं, परन्तु क्या जिज्ञासुका रागको पुद्गल-कार्य मानना ठीक है ?

उत्तर :- जिज्ञासु भी वस्तुस्वरूपके चिन्तवन आदिके दौरान यही मानता है कि राग सो आत्मा नहीं है ; राग तो उपाधिभाव है, मेरा नहीं, परन्तु पर-आश्रयसे उत्पन्न होनेसे पुद्गलका परिणाम है । ५८६



प्रश्न :- राग सो पुद्गल-परिणाम - पुद्गल-परिणाम, इस प्रकार रागका डर न रहे तो ?

उत्तर :- ऐसा नहीं होता । रागकी रूचि नहीं होती, रागकी रूचि छोड़नेके लिये रागको पुद्गलका परिणाम जानते हैं । शास्त्रकी कोई भी बात स्वच्छंदता का कारण नहीं; किन्तु वीतरागता प्रकट करने हेतु ही कही है । ५८७



त्रिकाली-द्रव्यके आश्रयसे ही धर्म होता है - प्रथम यह निर्णय हो जाना चाहिए । भले ही अभी अनुभव तक पहुँच न पाए, परन्तु उसके संस्कार तो रोपने ही चाहिए; ताकि स्वयंके पर-ओर झुकनेवाले भावोंका अनुमोदन न हो । ५८८



प्रश्न :- धारणाज्ञानसे आगे नहीं बढ़ते तो किसके बलसे आगे बढ़ा जा सके ?

उत्तर :- द्रव्यके बलसे ही आगे बढ़ते हैं । ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, द्रव्यभाव - प्रथम इस-ओर ही जोर होना चाहिए । ५८९



प्रश्न :- (पूर्वके) पूण्यसे मिलनेवाले धनको पाप कैसे बतलाया है ?

उत्तर :- धनको दस परिग्रहोंमें गिना है, इस अपेक्षासे पाप बतलाया है । परन्तु वास्तवमें तो धन भी ज्ञेय ही है, उसको अपना मानकर ममत्व करना सो पाप है । उसे

पापमें धन निमित्त है, अतः उसे भी पाप कहा है । ५९०



प्रश्न :-निश्चयनय और व्यवहारमें विरोध है या मैत्री ?

उत्तर :- निश्चयनय और व्यवहारनयमें है तो विरोध; परन्तु साथमें रहनेकी अपेक्षासे मैत्री भी कहलाती है । जैस सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके साथ रहनेमें विरोध है ; निश्चय और व्यवहारमे वैसा विरोध नहीं है । साथ रहते है, अतः मैत्री कहलाती है ।

५९१



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि मोक्ष प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं अथवा मुक्तिकी पर्यायको आना हो तो आवे ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, तथा मुक्तिकी पर्यायको आना हो तो आवे; अर्थात् उसकी दृष्टि मात्र द्रव्य पर ही होनेसे मुक्तिकी पर्याय तो (अवश्य) आने वाली ही है । ५९२



सिद्ध भगवानमें जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय-आनन्द और जैसा आत्मवीर्य है; वैसी ही सर्वज्ञता-प्रभुता-आनन्द और वीर्यशक्ति तेरे आत्मामें भी भरी है ।

भाई, एक बार हर्षित तो हो कि अहो ! मेरा आत्मा ऐसा परमात्म-स्वरूप है । ज्ञानानन्द-शक्तिसे भरपूर है । मेरे आत्माकी शक्ति खो नहीं गयी है । अरेरे ! मैं हीन हो गया हूँ, विकारी हो गया हूँ, अब मेरा क्या होगा ? - ऐसे न डर, बेचैन न हो, हताश न हो । एक बार स्वभावके प्रति उत्साह ला । स्वभावकी महिमा लाकर अपनी शक्तिको उछाल । ५९३



है जीव ! जिसमें तेरी रूचि होगी उसी अनुसार गति होगी । क्योंकि जब भविष्यमें भी तुझे अनन्तकाल रहना ही है तो यह देह छूटने पर कहाँ रहैगा ? - कि जैसी तेरी रूचि होगी-जैसी तेरी मति होगी; वैसी ही गति पाएगा । जो तेरी मति चैतन्यस्वरूपमें न होकर राग और परमें होगी तो तुझे मरकर संसारमें ही भटकना पड़ेगा । अतः है जीव ! 'अपनी मति,' राग व परमें न लगा । ५९४



साधुका भावलिंग तो आनन्दका उग्रवेदन होता है । नग्नता व पंच महाव्रत तो द्रव्यलिंग है। ५९५



भाई ! तुझे पता ही नहीं, तेरी वस्तु तो अंतरमें अभेद ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव सामान्य एकरूप चली आ रही है । चाहे जितनी पर्यायें आए, परन्तु वस्तु तो सामान्य एकरूप ही चली आती है । ऐसे एकरूपकी दृष्टि करने पर, उसमें रहे हुए गुणोंके भेदका भी लक्ष्य छूट जाता है तथा भेद व गुण-विशेषताका लक्ष्य छूटने और अभेद पर दृष्टि पड़ने पर तुझे आनन्दका आस्वादन होगा; तभी तुझे धर्म होगा । ५९६



दिगम्बर मुनिराज अर्थात् पंचपरमेष्ठीमें समाहित भगवन्तस्वरूप ! अहा हा ! कुन्दकुन्दाचार्य भगवानने कहा है कि 'अर्हन्त भगवानसे लेकर हमारे गुरु पर्यन्त विज्ञानधनमें ही निमग्न थे... रागमें न थे, निमित्तमें न थे, भेदमें भी न थे- वे सभी विज्ञानधनमें ही निमग्न थे' । ५९७



शुद्ध द्रव्य तो उसे कहते हैं कि जो स्वयंकी निर्मलपर्यायका भी स्पर्श नहीं करता - चूमता नहीं - छूता नहीं । यहाँ कहते हैं कि द्रव्य, पर्यायको स्पर्श ही नहीं करता । यदि पर्यायका लक्ष्य करे तो तुझे राग होगा, और रागसे लाभ मानेगा तो मिथ्यात्व होगा ।

५९८



भाई ! यह कोई वाद-विवादका विषय नहीं है; यह तो अन्तरका विषय है । अभी तो व्रत-तप कर उससे धर्म मानने-वाले तो स्थूल मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी हैं । पर्यायका लक्ष्य करोगे तो राग व दुःख होगा । निर्मल-पर्यायका भी लक्ष्य व आश्रय करोगे तो विकल्प उठेंगे । भगवान त्रिकाली-वस्तु तो पर्यायको छूती ही नहीं । जब पर्याय स्पर्श ही नहीं करती तो फिर तुझे पर्यायका लक्ष्य करनेसे क्या प्रयोजन ? अन्तरमें परिपूर्ण भगवान आत्मा है, उसका स्पर्श कर न ! स्पर्श करने वाली पर्याय भी द्रव्यमें नहीं है । जैनदर्शन-वीतरागमार्ग बहुत ही सुक्ष्म है । दिगम्बर-दर्शनमें ही यह बात है । ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है । ५९९



जैसे रोटीके आटेको गूँदते हैं वैसे ही आत्माको ज्ञानसे मथना चाहिए, उसे भाव-भासन होना चाहिए । भगवान कहते हैं इसलिए नहीं, बल्कि उसे स्वयंको ऐसा भाव-भासन होना चाहिए कि "मैं ऐसा महिमावन्त चैतन्य पदार्थ हूँ" - इसके सन्मुख होने पर ही संसारके दुःखोंसे छुटकारा होगा; ऐसा महसूस होना चाहिए । ६००



प्रश्न :- शुद्धनयका पक्ष माने क्या ?

उत्तर :- शुद्धनयका पक्ष अर्थात् शुद्धात्माकी रूचि होना । यद्यपि अभी अनुभव नहीं हुआ है पर ऐसी रूचि हुयी है कि वह जीव अनुभव करेगा ही । परन्तु इससे कोई अपना बचाव करे; गुण न हो व मान ले - ऐसा नहीं है । पर केवली ऐसा जानते हैं कि इस जीवकी रूचि ऐसी है कि वह अनुभव करेगा ही । उस जीवके वीर्यमें ज्ञायकका जोर वर्तता है । ६०१



प्रश्न :- तिर्यकको अधिक ज्ञान न होने पर भी उसे आत्मा दृष्टिगत हो जाता है और हमें इतनी महेनत करने पर भी आत्मा क्यों ग्राह्य नहीं होता ?

उत्तर :- जिस जातका (ज्ञानमें) प्रमाण आना चाहिए सो नहीं आता । ज्ञानमें आत्माका जितना वजन होना चाहिए वह नहीं आता, ज्ञानमें उस-प्रति जितना जोर होना चाहिए उतना जोर नहीं होता । जिस हद तक स्पृहा व आशा छूटनी चाहिए सो नहीं छूटती; अतः कार्य नहीं होता, आत्मा-ग्रहण नहीं होता । ६०२



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन नहीं होता यह पुरुषार्थकी कमजोरी ही समझी जाए ?

उत्तर :- विपरीतताके कारण सम्यग्दर्शन रुकता है, व पुरुषार्थकी कमजोरीके कारण चारित्र रुकता है । इसके बजाय पुरुषार्थकी कमजोरीको सम्यक्त्व न होनेका कारण मानना तो पर्वत जैसे महादोषको राई जितना अल्प बनाना है । ऐसा जीव विपरीत मान्यताके पर्वत-सम महादोषको नहीं छेद सकता । ६०३



प्रश्न :- आत्माको क्षमा कैसे करें ?

उत्तर :- अनन्तगुणमय - ज्ञानान्दमय आत्माके स्वरूपको पहचानना कि उसमें कोई

विभाव नहीं है । आत्मा तो क्षमाका सागर-शक्तिका सागर है । अनन्तकालसे अनन्त भव हुए, चाहे जितने निगोदके भव हुए फिर भी आत्मा तो क्षमाका भंडार है - इसको पहिचानना ही सच्ची क्षमा है । ६०४



प्रश्न :- जीव, भले ही अजीवके कार्य न कर सके पर अपने परिणाम तो चाहे अनुसार कर सकता है न ?

उत्तर :- जीव अपने परिणाम भी चाहे अनुसार नहीं कर सकता, परन्तु जो परिणाम क्रमानुसार होने हैं-वही होते हैं; उन्हें चाहे जैसे आगे-पीछे, उल्टे-सुल्टे नहीं कर सकते । जगतमें सब कुछ व्यवस्थित क्रमानुसार होता है, कहीं कुछ भी फेर-फार नहीं हो सकता । अधीर मनुष्य (परिणाममें) फेरफार करना भले ही माने; परन्तु कुछ भी फेरफार नहीं हो सकता - इसका सार यह है कि, भाई ! तूँ ध्रुव-स्वभाव पर दृष्टि दे । ६०५



भगवान अकेला ही ज्ञानस्वभाव है, (उसमें) केवलज्ञानका विकल्प भी नहीं है । अकेले ज्ञानस्वरूपको प्रकट करनेके लिए किसी की भी आवश्यकता नहीं है - (वह) ऐसा असंग (तत्त्व) है । ६०६



प्रश्न :- रोज सुनते हैं । पर अब तो अन्तरमें उतरनेका कोई छोटा सुगम मार्ग बतलाइए ।

उत्तर :- आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप-चिद्धन है-अभेद है - उसीकी दृष्टि करना । भेद-पर लक्ष्य करनेसे तो रागीको राग होता है; अतः भेदका लक्ष्य छोड़कर अभेदकी दृष्टि करना - संक्षेपमें यही सार है । ६०७



भूतार्थ आश्रयसे सम्यग्दर्शन होता है । ६०८



चारों अनुयोगोंका तात्पर्य वीतरागता है । ६०९



प्रत्येक शक्ति अनन्तमें व्यापक है ।

प्रत्येक शक्ति अनन्तको निमित्तभूत है ।  
 प्रत्येक शक्ति द्रव्य-गुण-पर्यायमें व्याप्त है ।  
 एक शक्तिमें ही ध्रुव-उपादान व क्षणिक-उपादान दोनों हैं ।  
 प्रत्येक शक्तिमें व्यवहारका अभाव है ।  
 वही अनेकान्त है, स्याद्वाद है ।  
 शक्ति पारिमात्मिकभावरूपसे है ।  
 प्रत्येक शक्तिमें अनन्त शक्तियोंका रूप है ।  
 प्रत्येक शक्तिमें अकार्य-कारणका रूप है ।  
 प्रत्येक शक्तिमें त्याग-उपादान शून्यत्व है । ६१०



ध्रुवधामरूपी ध्येयके ध्यानकी प्रचंड धूनी-उत्साह व धैर्यसे धूनना - ऐसे धर्मका धारक धर्मी धन्य है । ६११



जाननक्रिया तो निजस्वरूप है, कारण कि उसीसे आत्मा जाना जाता है; अतः आत्मा उसीके आधारसे अवस्थित है । ६१२



ज्ञानके अभ्याससे भेदज्ञान होता है व भेदज्ञानके अभ्याससे केवलज्ञान होता है ।  
 ६१३



पर्यायमें द्रव्यका ज्ञान आता है, परन्तु द्रव्य नहीं आता और द्रव्यमें पर्याय नहीं आती; और द्रव्य है इसलिए उसका ज्ञान होता है - ऐसा भी नहीं है । पर्याय, निजस्वरूपमें रहकर ही द्रव्यका ज्ञान करती है । ६१४



श्रुतज्ञानका अंश ही शुद्धनय है । वह जिसके आश्रयसे प्रकट होता है उस स्वभावको भी शुद्धनय कहते हैं तथा उसके फलस्वरूप केवलज्ञानको भी शुद्धनय कहते हैं । ६१५



ज्ञानीको प्रत्येक समय अपने से ही हुए ज्ञेय-सम्बन्धी ज्ञानकी प्रसिद्धि की मुख्यता है; ज्ञेयकी प्रसिद्धि की मुख्यता नहीं । अहा ! ज्ञान तो ज्ञानको ही प्रसिद्ध करता है, परन्तु ज्ञेय भी ज्ञानको ही प्रसिद्ध करता है - यह सत्की पराकाष्ठा है । ६१६



स्वयंने स्वयंकी दया न की अर्थात् ? अपना अनन्त चैतन्य-ज्योतिरूप जीवका (नित्य) उद्योतमय जीवन है उसको तो न माना; परन्तु मैं रागादिरूप हूँ - ऐसा स्वीकार किया ऐसी मान्यता ही स्वयंकी हिंसा है । जैसा है-वैसा न मानना ही स्वहिंसा है । ६१७



अभेदके अनुभवमें भेद नहीं दिखता और यदि भेद दिखे तो अभेदका अनुभव नहीं रहता । ६१८



अहिंसा - (शुद्ध आत्माके आश्रयपूर्वक) रागकी उत्पत्तिका न होना ।  
सत्य - सत्-स्वरूपी आत्माका आश्रय करना ।  
अचौर्य - जो किसीका ग्रहण अथवा पकड़ न करे ऐसे अचौर्यस्वरूप आत्माका आश्रय होना ।

ब्रह्मचर्य - ब्रह्मस्वरूपके आश्रयसे वर्तमानमें होनेवाली वीतरागी आनन्द-पर्याय ।  
अपरिग्रह - जिसे पर्यायका भी परिग्रह नहीं ऐसे त्रिकाल अपरिग्रह-स्वरूप भगवान् आत्माका अवलम्बन लेना । - यही निश्चय पंच महाव्रत है । (व्रत=स्वभावको लिपटना)

६१९



ईर्या - स्वभावको जानकर उसमें रमना ।  
भाषा - स्वभावरूप परिणति होना ।  
ऐषणा - स्वभावको शोध कर उसमें लीन होना ।  
आदान-निपेक्ष - जिसको ग्रहण किया है उसका त्याग नहीं करता व जिसको नहीं पकड़ा है उसका ग्रहण नहीं करता - ऐसे स्वभावके आश्रयसे निर्मलपर्याय-लेना व रागका त्याग होना ।

प्रतिष्ठापन - पाप-पुण्य कि जो विष है, उसका त्याग और वीतरागताकी उत्पत्ति ।

- यह भाव-समितिकी व्याख्या है । ६२०



वीतरागकी वाणी सुनते हुए कायर काँप उठते हैं, जब कि वीर (बोधोल्लाससे) उछल पड़ते हैं । ६२१



ध्रुव और पर्यायको सर्वथा एक मानना-दृष्टिके विषयरूप मानना - यह एकत्वबुद्धि-मिथ्यात्व है । - उसे पर्यायबुद्धि कहते हैं; वह द्रव्यबुद्धि नहीं है । ६२२



चैतन्यसूर्यके प्रकाशमें रागरूप अंधकारका आदर कैसे हो ? जिसे ज्ञान-स्वरूपका ज्ञान है वही ज्ञानी है । ६२३



भाई ! अधीर न होना । तेरा ज्ञातृत्व छोड़कर "मैं जगतको समझा दूँ" - ऐसा अभिप्राय न रखना । ६२४



अनन्तके नाथ (निजात्माको) नहीं जाना इसीलिए अनन्त भव करने पड़े हैं । ६२५



जो स्वात्माको ध्येय बनाकर उसकी साधना नहीं करते, वे सभी बेभान हैं । ६२६



जो अपनेमें है उसे अपना न मानना तथा जो अपनेमें नहीं है उसे अपना मानना - यही दुःखका कारण है । ६२७



विकारसे निवृत्त हुए बिना वास्तविक निवृत्ति कहाँ ? और स्वरूपमे प्रवृत्त हुए बिना सच्ची प्रवृत्ति केसी ? ६२८



सर्वज्ञस्वभावमे गए बिना, अल्पज्ञपर्यायमें सर्वज्ञका स्वीकार नहीं होता । ६२९



जिस ज्ञानके साथ आनन्द न आए - वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं, अज्ञान है । ६३०





प्रश्न :- शरीरमें रोग हो पलंग पर सोए पड़े रहना हो, तब धर्म कैसे हो ?

उत्तर :- कौन सोया हुआ है ? आत्मा तो सदा ही असंयोगी-अरूपी-ज्ञानधन है; वह शरीरमें नहीं है- शरीरके कारणसे नहीं है । शरीर भले ही सोया हुआ हो; अन्तरमें जो (ज्ञायक प्रभु) परके अभावरूप-नित्यजागृत-चैतन्य-ज्योतिरूप है - सोया हुआ नहीं है ।

(जीव) स्वसे सत् है, परके आधारसे नहीं - यह अनेकान्त है । सर्वांग-निःशंकतामें कितनी शान्ति है । मेरा अस्तित्व परके कारणसे नहीं है; अतः परका चाहे कुछ हो, उस-ओर देखनेकी आवश्यकता ही नहीं है । मकान-शरीरादिका ध्यान न रखूँ तो वे गिर जायेंगे - ऐसा सोचनेकी आवश्यकता ही न रही । शरीर अपने कारणसे है, मेरे कारणसे नहीं - चिंता व्यर्थ है, जो ऐसी स्वतंत्रसत्ताका विश्वास नहीं करता; वह भटकता है ।

६३१



ज्ञेयोंकी आकृतिका स्मरण होते ही 'ये नहीं चाहिए' - इस प्रकारसे ज्ञेयका तिरस्कार करने पर अपनी ज्ञान-पर्याय, स्वभाव तथा ज्ञानवान आत्माका निषेध हो जाता है; जिसकी अज्ञानीको खबर ही नहीं होती । ६३२



वर्तमान संयोगको देखने वाले स्वको चूकते हैं, अतः दुःखी होते हैं । संयोगके कारणसे कोई भी दुःखी-सुखी नहीं होता । ६३३



ज्ञान संयम आत्माश्रित है, पराश्रित नहीं - यह जानते हुए ज्ञानी नित्य सहजज्ञान-पुँजमें स्वावलंबनसे स्थिर रहते हैं । ६३४



भगवान आत्मा सदा अन्तर्मुख है । अति-अपूर्व, निरंजन और निजबोधका आधारभूत - ऐसा कारणपरमात्मा है; उसका सर्वथा, सहज अंतर्मुख अवलोकन द्वारा मुनिराज जो अनुभव करते हैं- उसे भगवान संवर और आलोचना कहते हैं । ६३५



ज्ञान, ज्ञानसे भी होता है तथा वाणीसे भी होता है - ऐसा अनेकान्त नहीं है, वह तो अनेकान्त-मूढता है । शास्त्रमें तो ज्ञानका अभाव है; अतः ज्ञान, शास्त्रसे नहीं होता वरन्

ज्ञान तो ज्ञानसे ही होता है - यह अनेकान्त है । ६३६



प्रश्न :- आत्मा अनन्त-स्वभाववान होने पर भी उसे ज्ञानमात्र ही कैसे कहते हैं ? ज्ञानमात्र कहनेसे तो शेष अन्य धर्मोंका निषेध समझा जाता है ।

उत्तर :- लक्षणकी प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्य-आत्माका निर्णय करने हेतु ही आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। आत्मामें अनन्तगुण हैं; उनमें ज्ञान मुख्य होनेसे वह विशेष गुण है। आत्माका तीनोंकाल लक्षण ज्ञान है; वह अन्य द्रव्योंमें नहीं है। जाननेका कार्य पर्यायसे है, ज्ञानकी प्रसिद्धि द्वारा ही जानने-वाला सो ही आत्मा - ऐसा लक्ष्यरूप आत्मा निःशंकरूपसे प्रसिद्ध होता है। व्यवहार-राग-दया-दान-भक्ति द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि नहीं होती, क्योंकि ऐसे रागादि त्रिकाली स्वरूपमें वास नहीं करते, वे तो एक समयमात्र रहकर टल जाते हैं अतः वे निजलक्षण नहीं हो सकते। अनन्त धर्मोंमें मुख्य तो ज्ञान है, पराश्रय-बुद्धि छूटकर अन्तर्मुख होनेमें ज्ञान ही एक मात्र कारण है। ६३७



प्रश्न :- इस लक्षणकी सिद्धिसे क्या प्रयोजन है ? लक्षणकी प्रसिद्धि किए बिना सीधा 'आत्मा अनन्त-धर्मस्वरूप है' - ऐसे केवल लक्ष्यको ही दिखाना योग्य है ?

उत्तर :- लक्षणके निर्णय बिना, लक्ष्य-आत्माका निश्चय नहीं हो सकता । अतः जिस प्रकारसे आत्माका परसे भिन्नत्व व स्वसे परिपूर्णत्व समझमें आए, उस प्रकार जिस लक्षणका निर्णय हो उसे ही लक्ष्य-आत्माका निर्णय होता है कि 'ज्ञानमात्र सो ही आत्मा' है; देहादि अथवा रागादि आत्मा नहीं है। ६३८



प्रश्न :- कैसा वह लक्ष्य है कि जिसकी ज्ञानकी प्रसिद्धि द्वारा, परन्तु उससे (लक्षणसे) भिन्न प्रसिद्धि होती है ?

उत्तर :- ज्ञानसे भिन्न कोई वस्तु लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान व आत्मा द्रव्यरूपसे अभेद है। केवल समझने हेतु पर्याय व व्यवहार-अपेक्षासे भेद बतलाया है; वस्तुमें भेद नहीं है । ६३९



जगतमें समस्त जीवोंको ज्ञान स्व-अनुभवसे सिद्ध है । जब स्वाश्रयी-ज्ञानद्वारा-

अंतर्मुख-ज्ञानद्वारा, आत्माको जाने तभी आत्मा यथार्थरूपसे जाना कहलाए । परलक्ष्यी-ज्ञान तथा ११ अंगके शास्त्रज्ञानको आत्माका ज्ञान नहीं बतलाया है । जिसका लक्षण (स्वरूप) निर्णित करना है उस लक्ष्यरूप आत्माके अवलम्बनपूर्वक ही जाने; वही ज्ञान है । निमित्त, राग, व्यवहारके अवलम्बन द्वारा जाने वह ज्ञान नहीं है । आचार्यदेवको परवस्तुका ज्ञान प्रसिद्ध नहीं करना है । स्वलक्षणरूप-ज्ञान द्वारा आत्माको जाने तभी उसकी प्रसिद्धि सम्यक् है । देखो, इस प्रकार भी अंतर्मुखदृष्टि कराने की ही बात है । ६४०



जिस द्वारा जानें उसे ही लक्षण कहते हैं । ज्ञान द्वारा आत्मा जाननेमें आता है, अतः ज्ञानसे ही आत्माका निर्णय होता है । ज्ञान द्वारा पुण्य-पापादि अथवा शरीरादिका निर्णय करना योग्य नहीं है । ज्ञान द्वारा तो आत्माका ही निर्णय करना योग्य है । ज्ञान कोई पुण्य-पाप अथवा देव-गुरु-शास्त्रका लक्षण नहीं है, वह तो लक्ष्यरूप आत्माका लक्षण है; "जहाँ ज्ञान है वही उसके साथ अनन्त गुण हैं " । ज्ञान जिसका लक्षण है उसका निर्णय होने पर अनन्त गुणमय-आत्मा निर्णित हो जाता है - यही साध्य है । ६४१



आत्मामें जहां एक गुण है वहीं अनन्तगुण साथ ही व्याप्त हैं, उसमें विभुत्वशक्ति कारण है । अनन्तगुणोंमें लक्षणभेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है । अनन्त-भावों में एक भावरूप - अनन्तगुणोंका पिण्ड सो ही आत्मा है । ६४२



एक ज्ञानको खयालमें लेते ही, उसके साथके अनन्तगुण एक साथ खयालमें आ जाते हैं - ऐसा एकरूप आत्मा खयालमें आने पर सम्यग्दर्शन होता है; उसके साथ अनन्तगुण आंशिकरूपसे खिले बिना नहीं रहते । ६४३



अकर्तृत्व जिसका स्वभाव है, वह यदि विकारका कर्ता हो तो साधकता ही नहीं हो सकती । निमित्त होकर यह काम करूँ - ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसे स्वभावका अकर्तृत्व छोड़कर बाह्यमें जाना रुचिकर लगता है । स्वभावमें ढलता हुआ आत्मा अकर्तृत्व स्वभावी होता है, वह शक्ति आत्मामें अनादि अनन्त है । ६४४



आत्मा शाश्वत है, अतः उसकी शक्तियाँ भी शाश्वत हैं - उनकी ओर देखनेसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है । आत्मतत्त्व अनन्त-शक्तियोंका पिण्ड है । जिसे उसका आदर नहीं है परन्तु पुण्य-पापका आदर है, वह संसारमें रुलता है । अंतरका विश्वास न होने पर बाह्य-विश्वास ही प्रसिद्ध रहता है । जलके साथ अमुक प्रकारकी गोली लेनेसे दस्त होनेका विश्वास तो होता है, परन्तु अज्ञानीको यह विश्वास नहीं होता कि आत्मा अनन्त-शक्तवान है । ६४५



आत्माकी अरुचिवाले बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि ऐसे भंगजालमें पड़ना छोड़ो; अपने तो आत्माका कल्याण करो, यह एक ही बात दृष्टिमें रखो - तो कहते हैं कि ऐसे जीवोंमें तो व्यवहार-पात्रताका भी अभाव है । ६४६



जिन्होंने पुरुषार्थ द्वारा मोहका नाश किया है अर्थात् परकी सावधानी छोड़ दी है व ज्ञानमात्र निज-स्वभावकी सावधानी रखते हैं - वे सिद्धदशाको पाते हैं । ज्ञानमात्रके सिवाय अन्य किसी उपायसे कल्याण नहीं होता । ६४७



जो आत्मसन्मुख होते हैं, वे विकारसे विमुक्त हुए बिना नहीं रहते । "मैं निर्विकार हूँ" यदि ऐसा कहे, पर विकारसे विमुक्त न हो तो (वह) मात्र धारणा है । रागसे, पुण्यसे अथवा परसे चैतन्यकी एकता नहीं - ऐसा पृथक्कारूप-भेदज्ञान तो न करे व ज्ञानमय-वस्तुका ग्रहण हुआ बतलाए तो, वह बात मिथ्या है । जिसने स्वभावकी दृष्टि की, उसके विभावका अभाव होना ही चाहिए । यदि विभावका अभाव न हुआ तो स्वभाव-दृष्टि ही नहीं हुयी । ६४८



दया-दान-भक्ति-पौषध-प्रतिक्रमण-सामायिक आदि क्रियाकाण्डमें कुशलता, रूखाआहार लेना इत्यादि सभी क्रियाएँ - शूभ-राग व परकी हैं । जो केवल शुभ-रागकी क्रियाओंमें ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि "मैंने बहुत किया" - उन्हें इन पुण्य-पापसे रहित निष्कर्म-भूमिकाकी प्राप्ति नहीं होती - ज्ञानस्वभावी आत्माकी दृष्टि नहीं होती । कोई ऐसा कहे कि रागको घटाया है, परन्तु राग-रहित चैतन्य कौन है ? - इसका पता ही न हो, तो उसे

भी आत्माके धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। जो आत्माको समझे ही नहीं व केवल राग-घटाए, उसे भी धर्म नहीं होता; और मात्र ज्ञानकी बातें करे व रागका अभाव न करे तो उसे भी आत्म-प्राप्ति नहीं होती - धर्म प्रकट नहीं होता । ६४९



जो क्षण-क्षणमें अनुकूलता-प्रतिकूलताके संयोगोंमें हर्ष-शोकका वेदन किया करते हैं, उनको कषाय-मंदता भी नहीं। उनको तो आत्मा कैसा है - ऐसी जिज्ञासा होनेका भी अवकाश नहीं है; क्योंकि उनकी क्षणिककी रुचि तो छूटती नहीं। जिसे राग-घटनेके प्रसंगकी ही खबर नहीं, उसको कभी भी रागका अभाव नहीं होता । ६५०



चैतन्यके चैतन्यमें एकाग्र होने पर भेद नहीं रहता। इस एक ही श्लोक (२७८वाँ कलश) में यह चर्चा कि है कि 'अज्ञान अनादिका है तथा उसका अभाव कैसे हो ?' डोरेकी लच्छीमें गुच्छे होकर गाँठे पड़ गयी हों और उन्हें सुलझाना हो, तब सुलझाने पर गाँठे नहीं रहती; वैसे ही आत्माकी पर्यायमें अज्ञानरूपी उलझन पैदा हो गयी है, उसे ज्ञानसे सुलझाने पर वह कुछ लगती ही नहीं। अंश-बुद्धिमें राग-द्वेष-अज्ञान आदि (स्वरूप) भासित होते थे, परन्तु स्वभाव-बुद्धि होने पर वे कुछ भी भासित नहीं होते; इसमें मोक्षमार्ग समाहित कर दिया है, हजारों शास्त्रोंका यही सार है । ६५१

जो आत्मख्यातिकी टीकाको सुनते हैं व उसका वांचन करते हैं - उन्हें सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रकट होता है तथा मोहका नाश होता है और परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है; अतः मुमुक्षुओंको इसका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है। "मैं चिदानन्द ज्ञाता हूँ" - ऐसा समझनेकी जिसे आवश्यकता है, रुचि है व भावना है, उन मुमुक्षुओंको इस आत्मख्यातिकी अर्थात् चैतन्यस्वभावका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। 'समयसार' अभेद आत्माको बतलानेवाला है, अतः इसका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है । ६५२



जब-तक ज्ञानमें तत्त्वकी अयथार्थता है तब-तक तत्त्वमें स्थिरता नहीं होती। ज्ञानकी विपरीततामें आत्म-एकाग्रता नहीं जम पाती। इसीलिए कहते हैं कि आत्मा ज्ञानानन्द है - उसकी रुचि करो उसका अवलोकन करो । ६५३



व्यवहार रत्नयत्र भी शुभराग है, निमित्त मात्र है । इसको भिन्न जानकर, शुद्धात्माको उपादेयरूपसे निरन्तर अंगीकार करना ही इस 'समयसार व द्वादशांगका' सार है । त्रिकाली-चिदानन्दका आलम्बन ही मोक्षका कारण है । त्रिकाल-ध्रुवशक्ति कारणपरमात्मा ही एक मात्र उपादेय है । जो पराश्रित-राग व व्यवहार रत्नत्रयको वीतरागी-धर्मका कारण मानते हैं - उन्हें धर्म नहीं वरन् मिथ्यात्वका आस्रव है । ६५४



निमित्तसे भिन्न व रागसे भी अधिक (भिन्न) - ऐसे निज चैतन्य-स्वभावका भान होनेके उपरान्त उसका वेदन गहन हो जाता है और तब परिग्रहकी ममता छूट जाती है - ऐसी दशावाले श्रावकको ही प्रतिमा होती है । ६५५



धर्मीको अन्य धर्मीके प्रति प्रेम उमड़ता है । सम्यग्दृष्टिको सच्चे गुरु व साधर्मीके प्रति प्रेम आए बिना नहीं रहता । वे द्वेष-भाव नहीं करते । मेरी कीर्तिकी अपेक्षा उसकी मान-कीर्ति अधिक हो गयी - ऐसा द्वेष नहीं करते । कदाचित् शिष्य पहले मोक्ष चला जाए तो भी उन्हें द्वेष नहीं होता । जैसे किसीको अपने पुत्रसे प्रेम हो और वह यदि अमीर हो जाए तो उसके प्रति द्वेष नहीं करता, उल्टा प्रेम तथा उल्लास दिखलाता है; वैसे ही शिष्यकी दशा-विकसित होती जानने पर धर्मात्माको उसके प्रति द्वेष नहीं होता । ५५६



उपवासका ऐसा अर्थ है कि - इन्द्रिय तथा मनके विषयोंमें प्रवृत्तिहीन होकर आत्मामें वास करें, तो उपवास है । इहलोक तथा परलोक-सम्बन्धी विषयोंकी वाँछा न करना ही इन्द्रियजय है, तथा आत्मस्वरूपमें लीन रहना और शास्त्र-अभ्यास तथा स्वाध्यायमें मनको प्रवृत्त करनेकी ही उपवासमें प्रधानता है । जिस प्रकारसे आकुलता न पैदा हो उस प्रकारसे क्रियाके नाम पर मर्यादापूर्वक एक दिवसके आहारका त्याग करना - इस प्रकारसे उपवास नामक अनशन-तप होता है । ६५७



जिसे तत्त्वज्ञान नहीं है उसका आचरण भी यथार्थ नहीं होता । जैनमतमें तो ऐसा क्रम है कि सर्व प्रथम तत्त्वज्ञान होता है और पश्चात् जिसका त्याग करना है उसके दोषको जाने-पहचाने तथा दोष-नाशसे प्रकट होने वाले गुणोंका भी यथार्थरूपसे

जाने । ६५८



प्रश्न :- बाह्यमें तो चमत्कार दिखलाते हैं, तो यहाँ भी कुछ चमत्कार है क्या ?

उत्तर :- हाँ, यह आत्मा स्वयं ही ऐसा चैतन्यचमत्कार है कि उसकी प्रतीति कर उसमें एकाग्र होनेसे केवलज्ञान प्रकट होता है - देखो, यह है चैतन्यका चमत्कार ! सर्वज्ञके अलावा अन्यत्र कहीं भी ऐसा चमत्कार हो तो बतलाओ ! तथा प्रत्येक आत्मा असंख्य-प्रदेशी है - यब बात भी अन्य कहीं हो तो बतलाओ ? ६५९



ज्ञानका वीर्य ज्ञानमें कार्यशील होकर उसीमें रमे - वही मेरा स्वरूप है । आत्माका लक्षण ज्ञान है; उसे भूलकर रागादिमें अटके तो वह बंधका लक्षण है । ६६०



जो जीव प्रसन्नचितसे-उल्लाससे-स्वलक्ष्यपूर्वक; पुण्य-पापका उल्लास छोड़कर, दया-दानके विकारसे रहित तथा शरीर-मन-वाणीसे भी रहित आत्माकी बात सुनते हैं; वे धन्य हैं । ६६१



समयसार गाथा ४ में श्रुत शब्दका प्रयोग है; जिसका हेतु है कि निज-अभिप्राय अनुसार अध्ययन करते जाएँ तो कार्यकारी नहीं । (मर्म) ज्ञानीसे ही समझना चाहिए; वह कोई पराधीनता नहीं है; जिसकी पात्रता हो उसे ज्ञानी मिले बिना नहीं रहते । सत् (प्राप्ति) के लिए सत् का निमित्त चाहिए । अज्ञानी जीव धर्म-प्राप्तिमें निमित्तभूत नहीं हो सकते ।

६६२



सम्यग्दर्शन पर्याय अनादिसे नहीं होती, मिथ्यादर्शनादिकी पर्याय भी अनादिकी नहीं होती; मिथ्यादर्शादिकी पर्यायें तो प्रवाहरूपसे अनादिकी हैं । जो निजस्वरूपसे विमुक्त होकर, पर में रूचि करते हैं - वे मिथ्यादृष्टि हैं । स्व-परके यथार्थ स्वरूपसे विपरीत श्रद्धानका नाम ही मिथ्यात्व है । स्व अर्थात् चेतन - उसका ज्ञान-दर्शनरूप ही यथार्थ है । पुण्य-पापका रूप विकार है । जड़ अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप है - ऐसा न मानकर, राग व जड़को निज-स्वरूप मानना ही मिथ्यात्व है । लोगोंको मिथ्यात्वरूपी भयंकर पापका

खयाल ही नहीं आता । ६६३



समकिती; पंचपरमेष्ठी-जिनवाणी-जिनप्रतिमा-जिनधर्म-जिनालय - इन ९ देवोंको मानता है, वह शुभराग है । यदि कोई जीव जिन-प्रतिमाका उत्थापन करता है तो वह मिथ्यादृष्टि है; और जो मूर्तिपूजामें ही धर्म मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं । सम्यग्दृष्टिको भी पूजा-यात्रादिके राग हुआ करते हैं, पर वह उन्हें बंध मानता है । ६६४



इकाई लिखना सीखनेके लिए पांचसौ रुपया देना अथवा पचास उपवास करना कोई कार्यकारी नहीं ; केश-लौचसे भी इकाई लिखना नहीं आता । इकाई लिखनेके ज्ञान-द्वारा ही इकाईका अज्ञान दूर होता है । वेसे ही अरबों रुपयोंका दान व तप करनेसे धर्मकी इकाई भी नहीं आती; परन्तु ज्ञान करनेसे स्वरूप समझमें आता है । दया-दान-व्रतसे शान्ति व धर्म नहीं मिलता, उनसे रहित "मेरा चैतन्य निराला" है ऐसी प्रतीति होनेको ही धर्म कहते हैं; उसके बिना सुख नहीं होता । ६६५



जेवर बेच देनेके बाद उन्हें सँभालनेकी चिन्ता नहीं रहती; वैसे ही ज्ञानीको शरीर-मन-वाणी-राज्य-धनादिके प्रति स्वामित्व (भाव) उड़ चुका होनेसे उनकी चिन्ता नहीं रहती । अज्ञानीको उनमें स्वामित्व-भाव रहा करता है । ६६६



आगमका आश्रय अनन्त पुद्गलकर्म है व अध्यात्मका आश्रय एकमात्र आत्मा है । उन दोनोंका पूर्ण स्वरूप तो सर्वथा प्रकारसे केवलीगम्य ही है । सम्यक्मति-श्रुतज्ञानमें मात्र अंश ही ग्राह्य है । ६६७



अध्यात्म अर्थात् शुद्ध आत्मा - उसका जिसे भान नहीं; उसे आगमका भी पता नहीं है । द्रव्य-गुण तो अनादिसे शुद्धरूप ही चले आते हैं, तथा पर्यायमें अनादिसे विकार करता आ रहा है । जिसे उक्त समझ नहीं, वह अध्यात्मी भी नहीं है और आगमी भी नहीं है । ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव भले ही शास्त्राध्यन-द्वारा आगम व अध्यात्मके स्वरूपका उपदेश करे, परन्तु अन्तरंगमें उसे उनके मूलभावका भासन नहीं है; यथार्थ भेदज्ञान ही नहीं है ।



यदि आगम व अध्यात्मके स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे जाने तो भेदज्ञान हो जाए । ६६८



अज्ञानी, आगम-आध्यात्मको नहीं जानता । अज्ञानी जीव तो राग ही को व्यवहार मानता है, परन्तु वह द्रव्यके निर्विकल्प-पर्यायरूप व्यवहारको नहीं जानता । अखण्ड-द्रव्य तो निश्चय है व उसकी निर्विकल्प-परिणति अध्यात्मका अंगभूत व्यवहार है । यहाँ तो (आध्यात्ममें) मोक्षमार्ग साधनेको ही व्यवहारमे गिना है; रागको व्यवहार नहीं गिना है ।

६६९



अन्तर-गर्भित अध्यात्मरूप-क्रिया तो अन्तर्दृष्टिसे ही ग्राह्य है; परन्तु अज्ञानीको ऐसी दृष्टि प्रकट नहीं हुयी है, अतः अध्यात्मकी अन्तर-क्रिया तो उसे दृष्टिगोचर नहीं होती; और इसी कारणसे अज्ञानी जीव मोक्षमार्गको नहीं साध सकता । वह चाहे जितने शुभभाव करे, परन्तु अन्तरकी आध्यात्मदृष्टि-बिना मोक्षमार्गको साधनेमें असमर्थ है । अज्ञानीको बाह्यकी क्रिया तथा शुभ-परिणाम सुगम लगते हैं तथा वह उन्हींमें मोक्षमार्ग मानता है । अज्ञानी, ब्रह्मचर्य-पालन व त्याग आदि शुभ-परिणामको ही मोक्षमार्ग मानता है; परन्तु अन्तरमें निर्विकल्प-ज्ञानानन्द स्वभाव विद्यमान है, उसमें ब्रह्मचर्यादिका शुभ-विकल्प भी नहीं है । अध्यात्मकी - ऐसी निर्विकल्प-परिणतिको अज्ञानी पहचानता ही नहीं है; इसकारणसे वह मोक्षमार्गमें नहीं है । ज्ञानी तो मोक्षमार्गको साधना जानता है । ६७०



अन्तर-शुद्धद्रव्य-एकरूप-निष्क्रिय-ध्रुव-चिदानन्द - सो निश्चय; तथा उसके अवलम्बनसे प्रकट हुयी निर्विकल्प-मोक्षमार्ग-दशा व्यवहार है । अध्यात्मका ऐसा निश्चय-व्यवहारस्वरूप ज्ञानी ही जानता है; अज्ञानी नहीं - उसे तो यह बात कदाचित् सुननेको मिले तो भी वह न माने । ६७१



चौथे गुणस्थानमें उपादेयरूप-शुद्धभाव अल्प है, वह भाव पाँचवे-छठे गुणस्थानमें विकसित होता जाता है । और हेयरूप-विकार चौथे गुणस्थानकी अपेक्षा पाँचवे-छठे गुणस्थानमें मन्द होता जाता है । जैसे-जैसे शुद्धता बढ़ती है, वैसे-वैसे गुणस्थान-क्रम भी आगे बढ़ता जाता है । गुणस्थान-अनुसार स्वज्ञेयको ग्रहण करनेकी शक्ति भी विकसित

होती जाती है ।

परद्रव्यको छोड़नेसे गुणस्थान बढ़े - ऐसा नहीं है । लंगोटी होने पर पाँचवाँ व लंगोटी छूटने पर छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान हो - ऐसा नहीं है । किन्तु अन्तरमें द्रव्यको ग्रहण कर उसके आचरणकी उग्रता होने पर गुणस्थान बढ़ता है । बाह्यमें गुणस्थानानुसार निमित्त संबंध छूट जाते हैं । जैसे कि छट्टे गुणस्थानमें सदोष-आहार लेनेका विकल्प नहीं उठता और वस्त्रका संयोग भी नहीं होता; पर वह गुणस्थान तो अंतरशुद्धिके बलसे टीका हुआ है । कोई बाह्यमें वस्त्र-त्याग कर बैठनेसे छट्टा गुणस्थान नहीं हो जाता ।

गुणस्थान-अनुसार ही ज्ञान व उसी अनुसार क्रिया होती है । कोई चौथे गुणस्थानमें केवलज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान नहीं होता; वैसे ही क्रिया अर्थात् शुभभाव भी गुणस्थान अनुसार ही होते हैं । अन्तरमें चौथा गुणस्थान वर्तता हो व बाह्यमें द्रव्यलिंगी-मुनि हो, यानी छट्टे गुणस्थान जैसी क्रिया हो - उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है । यहाँ तो यह बात है कि जो गुणस्थान प्रकट हुआ, उस अनुसार ही क्रिया होती है । अन्तरमें छट्टा गुणस्थान हो व बाह्यमें व्यापार करता हो- ऐसा नहीं हो सकता । पर इसका यह अर्थ नहीं कि शुभपरिणामके आधारसे गुणस्थान होता है । ६७२



जिसे धर्मका आदर है-सिद्धिपदकी चाह है, उसे लक्ष्मीकी रुचि नहीं होनी चाहिए । आसक्ति होना एक अलग बात है, परन्तु रुचि नहीं होनी चाहिए । सिद्धको वंदन करने वाला अन्यको वन्दन नहीं करता । लक्ष्मीकी रुचिवालेको सिद्धिकी रुचि नहीं है । इसीलिए कहते हैं कि रुचि बदलो पर्यायमें, मैं सिद्ध हूँ - जिसको ऐसी रुचि हुयी उसको एक परमाणुकी भी रुचि नहीं होना चाहिए । ६७३



दो जीव सम्यग्दृष्टि हों, उनमेंसे एक तो ध्यानमें बैठा हो व दूसरा युद्ध-मैदानमें खड़ा हो । तब दूसरे सम्यग्दृष्टिको ऐसा संदेह नहीं होता कि अरे ! हम दोनों सम्यग्दृष्टि होने पर भी वह तो ध्यानमें बैठा है और मेरे युद्ध-क्रिया - ऐसी शंका नहीं होती; क्योंकि सम्यग्दर्शन उदयभावके अधिन नहीं है; वह तो अन्तरस्वभाव-पर अवलंबित है । धर्मीको उस स्वभावका आलंबन युद्धके समय भी नहीं हटता । ज्ञायकप्रमाण ज्ञान है तथा यथानुभवप्रमाण स्वरूपाचरण चारित्र है । बाह्य-क्रियाअनुसार अथवा शुभराग-अनुसार

चारित्र नहीं बतलाया है, पर वह तो अन्तर-अनुभव प्रमाण होता है । देखो, यह धर्मीकी शक्ति ! - ऐसी ज्ञाताकी सामर्थ्य है । ६७४



श्रद्धामें चैतन्यकी रुचि तथा एकाग्रताका परिणमन है ।

ज्ञानमें चैतन्यके स्वसंवेदनका परिणमन है ।

चारित्रमें चैतन्यकी विशेष रमणतारूप परिणमन है ।

इस प्रकार अन्तरके चैतन्यके आश्रय से ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है तथा वही मुक्तिका कारण है । ६७५



धर्मका साधन बतलाते हैं । आत्मामें साधन नामक गुण है, जो वह न हो तो स्वरूप-परिणमन-सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन ही न हो । सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधन द्वारा ही मोक्षदशा होती है । ऐसा त्रिकाल करण नामका गुण है । अज्ञानी तो चतुर्थ काल, वृजवृषभनाराचसंहनन आदिको केवलज्ञान - प्राप्तिका साधन कहते हैं; परंतु वे साधन नहीं हैं । करण नामक गुण परिणमित होकर साधनरूप होता है । साधकदशामें (वर्तित) देव-शास्त्र-गुरु प्रतिका शुभराग उपचारमें साधन कहलाता है । परन्तु यदि आत्मामें करण नामक गुण न होता तो वह आत्मस्वरूपका साधन न होता । वह गुण है जिससे वह वीतरागी-दशारूप परिणमित हो रहा है । बाह्य-निमित्त व शुभराग होने पर भी, यदि यह करणगुण न होता तो वीतरागीदशा नहीं होती । ऐसा गुण-साधन द्रव्यमें त्रिकाल विद्यमान है; निमित्त अथवा राग साधन नहीं है । ६७६



आत्माके समान ही प्रत्येक द्रव्यमें छह कारक स्वतंत्ररूपसे निहित हैं । यहाँ आत्माकी बात चलती है । धर्म, यदि राग पर आधारित हो तो रागके टलने पर धर्मका अभाव हो जाए । मनुष्यदेह अथवा दढ़-संहनन आधारभूत हों तो उनके खिसकने पर निर्मलतारूप-धर्म ही न रहे- परन्तु ऐसा नहीं है । शास्त्रोंमें ऐसा कथन आता है कि जिनमन्दिर हों-मुनिराज विचरण करते हैं - तो धर्मप्रभावना होती है, यह निमित्त-अपेक्षाका कथन है । आने वाले शुभ-विकल्पों अथवा मंदिरोंके आधारसे धर्म प्रकट नहीं होता; परन्तु अधिकरण गुणके आधारसे ही धर्म प्रकट होता है - टिकता है व वृद्धिगत होता है । यदि

राग व पुण्यसे धर्म हो, अथवा शास्त्रसे धर्म हो, तो उनके न होने अथवा टल जाने पर धर्मका नाश हो जाए; परन्तु ऐसा नहीं होता । ६७७



आत्मामें अज अर्थात् जन्म ही न लेनेका गुण है । आत्मा कभी जन्म नहीं लेता, यदि यह गुण न हो तो आत्मा शरीर और निमित्तको उत्पन्न करनेमें निमित्त हुआ करे । आत्मा चिदानन्द-त्रिकाल-ध्रुव पदार्थ है । जन्म लेना तो दूर, परन्तु आत्मा तो रागको उत्पन्न करनेमें भी निमित्त नहीं है । ६७८



(आत्मा) स्वयं त्रिकाल-शक्तिमान है । गुणरूप त्रिकाली-शक्ति व पर्याय अर्थात् वर्तमान-दशा-ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायके विचारपूर्वक निजपदको जानना होता है; निमित्त अथवा राग द्वारा जानना नहीं बतलाया है । इस प्रकार निजपदको जाननेकी विधि बतालायी है । उपयोगमें जाननस्वरूप-वस्तुको जाने, अन्तरमें जानने-देखनेके होने वाले व्यापार द्वारा वस्तुको जाने, कि वस्तु ज्ञायक है; वही निजस्वरूपको जाननेकी कला है, इसीका नाम धर्म है । चलती पर्यायमें जाननस्वरूप-वस्तुको जाने कि जाननेवाला स्वभाव, नित्यानन्द पदार्थ है - वह आत्मा, पर्यायका आधार अथवा नाथ है । ६७९



अनुभव-प्रकाशका अर्थ क्या ? आत्माका निजानन्दस्वरूप है, उसकी पर्यायमें होनेवाले पुण्य-पाप तो वेष हैं - उनकी रुचि छोड़कर स्वभावका अनुभव करना - यही अनुभव-प्रकाश है । ६८०



निर्विकल्प कहो या आत्मानुभव कहो - दोनों एक ही हैं । जीवकी शक्ति तो तीन-काल व तीन-लोकको जाननेकी है । उसमें ज्ञान ज्ञानका वेदन करे उतना ज्ञानका विकास हुआ, वह (विकसित) अंश ही सर्वज्ञ-शक्ति प्रकट करेगा । सर्वज्ञ-शक्ति तो त्रिकाल है, उसका वेदन हुआ है । सर्वज्ञ-शक्तिके आधारसे ही स्वसंवेदन होता है । पुण्य-पापके आधारसे ज्ञान नहीं होता । ६८१



प्रत्येक पदार्थ सर्वत्र, सर्वकाल अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें प्रतिष्ठित रहता है;

पर-चतुष्टयमें नहीं । इस एक महासिद्धान्तका निर्णय हो जाए तो त्रिकाल व त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंकी यथार्थ प्रतीति हो जाए और स्वतंत्र-ज्ञानानन्द-स्वभाव-सन्मुख होनेकी रुचि व स्थिरता हो जाए - यही सुखी होनेका उपाय है । ६८२



पदार्थ, द्रव्यरूपसे नित्य है व पर्यायरूपसे अनित्य है । ऐसी नित्यानित्यता तो पदार्थका स्वरूप है - ज्ञान ऐसा जानता है । संयोगके कारण अनित्यता है - ऐसा नहीं है; पर अपने कारणसे ही अनित्यता है, अर्थात् पलटते रहना तो पर्यायका स्वभाव है सो परके कारणसे नहीं है । इस प्रकार ज्ञेयका स्वरूप-जानना ही सम्यग्ज्ञानका कारण है ।

६८३



आत्माकी शांतिरूप-प्रकाशको अनुभव कहते हैं । आत्मामें शान्ति व आनन्द शक्तिरूपसे , अनादि-अनन्त विद्यमान हैं । ऐसे आत्माका पुण्य-पाप रहित अनुभव हो उसे धर्म कहते हैं । अकषाय-परिणाम के प्रकाश को अनुभव-प्रकाश कहते हैं । ६८४



जड़ की क्रिया जड़ के कारण से होती है । धर्मी को अपने ही कारण से शुभरागके कालमें शुभराग आता है, परन्तु वह धर्म नहीं है । शुभराग के अवलम्बन से धर्म नहीं होता । शुभराग के कालमें निजावलोकन मात्र ही धार्मिक-क्रिया है । आत्मा बाह्य-वस्तुओं का ग्रहण अथवा त्याग नहीं कर सकता है । जैसे रागके कारण से पर की पर्याय नहीं होती; वैसे ही रागसे धर्म नहीं होता । चिदानन्दपद का जितना अनुभव हो, उतना ही धर्म है । ६८५



आत्माका जाननेका स्वभाव एक ही प्रकार का है । पुण्य-पापके विकारर अनेक प्रकार के हैं, क्योंकि वे अनेक संयोगो के अवलम्बन से होते हैं ; जबकि जानना-देखना एकरूप-स्वभाव के अवलम्बन से होता है, अतः वह एक ही प्रकार का है - उसका अनुभव करना ही धर्म है । ६८६



प्रश्न :- यह समझ में न आए, तब-तक क्या करना ?

समादान :-न समझे तब-तक इसी को समझनेका प्रयत्न करना । स्वभाव क्या ? विभाव क्या ? किस ओर झुकनेसे लाभ या हानि होती है ? - उसका विचार करना । उल्टा प्रयत्न कर रहा है, उसके बदले अब यथार्थ प्रयत्न करना । शरीर व विकार की ओर जो झुकाव था, उसे पलट कर अब नित्यानन्द-स्वभाव की ओर झुकना, तेरे ही हाथ में हैं, तू ही तेरी अवस्थाका धारक है । ६८७



ज्ञानचेतना - कर्मचेतना व कर्मफल चेतना जीव में होती है । पुण्य-पाप के भाव कर्मचेतना है, तथा हर्ष-शोक के भाव कर्मफलचेतना है, और जो चेतना एकाकाररूप से संवेदित हो वह ज्ञानचेतना है - वे तीनों अपनी ही पर्याय में होती हैं । जीव की चेतना जो विकाररूपसे परिणमित होती है सो जड़ के कारण नहीं । चेतना को स्वभाव-ओर ढालना सो धर्म है तथा विभाव-ओर ढालना अधर्म है । ६८८



जो अभ्यंतर-आनन्दकंद में रमते हों, वे मुनि होते हैं । जो सदोष अहार-पानी लेते हैं वे निश्चयसे अथवा व्यवहार से भी मुनि नहीं है । मुनि के हेतु विशेष वस्तु बने तथा उसका मुनि सेवन करे तो वह व्यवहार से भी मुनि नहीं है । व्यवहार-शुद्धि न होने पर भी जो स्वयं को मुनि माने अथवा मनवाए - वह मिथ्यादृष्टि है । एक रजकण भी मेरा नहीं , पुण्य-पाप मेरे नहीं हैं, मैं ज्ञायक हूँ - जिसकी ऐसी दृष्टि हुयी है; उसके विकल्प उठे तो एक बार निर्दोष-आहार सेवन करे, व २८ मूलगुण के पालनरूप विरति-व्यवहार-परिणति हो वह साधक है, तथा अन्तर में चारित्र-शक्तिकी मुख्यता होना ही साध्य है ।

६८९



जब चित्तका संग सर्वथा छूट जाता है तब स्वभाव की पूर्णता प्राप्त हुए बिना नहीं रहती । चित्त-संगके विलय से ही परमात्मा साध्य है । अंतर्जल्प-विकल्प का छूट जाना ही साधकदशा है तथा परमात्मदशा साध्य है । ६९०



जब तक वस्त्रका एक धागा रखनेका भी भाव है तब तक मुनित्वभाव नहीं आ सकता । मुनिपना आ जाए व वस्त्र रखनेका भाव भी आता हो - ऐसा कभी नहीं हो

सकता । ६९१



आत्मा तथा अन्य तत्त्वों की विपरीत-दृष्टि ही संसार की साधक है । राग तो राग है, स्वभाव सो स्वभाव है, निमित्त तो निमित्त है - जो ऐसे स्वतंत्र-तत्त्व की रुचि नहीं करता; व पुण्य से धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है - इसका फल संसार में रूलना है ।

६९२



पूर्णभाव प्रकट होनेके पश्चात् केवलज्ञान व केवलदर्शन क्रमशः उपयोगरूप हों - ऐसा नहीं होता । जो जीव, केवलज्ञान व केवलदर्शनका क्रमपूर्वक उपयोगरूप होना मानता है उसे सम्यक्भाव ही प्रकट नहीं हुआ । ६९३



गुणों पर आवरण नहीं है और उनमें न्युनता भी नहीं है; प्रत्येक गुणमें ऐसी शक्ति है । अस्तित्व-वस्तुत्व-कर्ता-कर्म-करण आदि गुणोंकी सामर्थ्य ऐसी है कि जिससे वस्तु न तो आवृत हो और न ही अपूर्ण - इस प्रकार निर्णय करे तभी गुण-जाति निर्णित हुयी कहलाए । ऐसी शक्ति प्रत्येक गुणमें है । ऐसा सम्यक्-भाव साधक है तथा वस्तु-जाति सिद्ध होना सो साध्य है । ६९४



यह चित्तके संगरहित, ज्ञान व आनन्द परिणतिकी बात है । द्रव्य-मनके संगपूर्वक दया-दानादिकी वृत्ति उठना ही बंधका कारण है । आत्माका संग तो बंधके अभावका कारण है । "मैं ज्ञानानन्द हूँ" - ऐसे अंतरस्वभावके संग से शुद्धोपयोग होता है, दया-दान अथवा भगवानके संग से शुद्धोपयोग नहीं होता । शुद्धोपयोग साधन है व उसका कार्य (साध्य) परमात्मतत्त्व है । त्रिकाली-द्रव्यके संगसे शुद्धोपयोग होता है । देव-गुरु-शास्त्रके संग से भी शुद्धोपयोग नहीं होता । ६९५



कितने ही जीव कहते हैं कि इस कालमें स्वरूपानुभव कठिन है - ऐसा कहनेवालोंको राग-द्वेष सरल लगते हैं अर्थात् बहिरात्मत्व सरल लगता है । जिन्हें पुण्य-पापके परिणाम करके रूलना अच्छा लगता है वे बहिरात्माको साधते हैं, उन्हें बाह्य-रुचि है, अंतरका प्रेम

नहीं । इस प्रकार स्वरूप (अनुभव) को कठिन माननेवाले स्वरूपका अनादर ही करते हैं ।

६९६



धर्म के प्रसंग में धन का लोभ करे, देव-गुरु-शास्त्र के लिये धनका संकोच करे - तो वह अनन्तानुबंधी का लोभ है । ६९७



सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित पदार्थके स्वरूपके अनुसार आचार्य-रचित शास्त्रका सम्यक् रूप से अवगाहन करना, सांगोपांग समझना ही साधकता है । जैसे गहरे दरिया (समुद्र) में अवगाहन करने से मोती मिलते हैं, वैसे ही शास्त्र-विषयमें सम्यक् प्रकार प्रवेश करे, अवलोकन करे तो भावश्रुत प्रकट होता है । ६९८



यदि आत्मा निर्विकल्प होकर स्वयंको ग्रहण न करे तो उसने शास्त्र-आशयको समझा ही नहीं । आगमबोध तो ऐसा है कि तेरा आत्मा ज्ञानज्योति है । इस प्रकार द्रव्यश्रुतके अवगाहनमें भावश्रुतका फल है । ६९९



प्रश्न :- रागादि जीवके भाव हैं तथा स्पर्शादि परभाव हैं, तो रागदिको पर-भाव कैसे कहते हैं ?

उत्तर :- शुद्धनिश्चयसे रागादि जीवके भाव नहीं हैं, क्योंकि त्रिकालीशुद्धस्वभावमें तादात्म्यरूप-दृष्टिसे विकारका अभाव है । पुनः वे रागादि आत्माके गुणोंमें तन्मय नहीं है । स्वभावमें, संसार तन्मय नहीं है; यदि तन्मय हो तो मोक्ष ही नहीं हो सकता । संसार तो एक समय मात्रकी पर्याय है । उत्पाद-व्ययरूप प्रत्येक समय नवीन पर्याय होती है, अन्य-अन्य भाव रूप है । रागादि-विकारभाव तो जीवकी वर्तमान पर्याय है, उस पर्याय से भिन्न नहीं है । परन्तु वह विकारीपर्याय, त्रिकाली-स्वभावसे तन्मय नहीं है, अतः भिन्न है; इसीलिए परभाव कहलाती है । ७००



आत्मा शुद्धचिदानन्दमूर्ति है - उसकी रुचि करने और राग तथा व्यवहारकी रुचि छोड़ने पर जिस क्षण आत्माके आनन्दका अनुभव होता है, वही निश्चय रत्नत्रय है ।



बिचमें शुभराग आने पर भगवानकी प्रतिमाके प्रति बहुमान-भक्ति-भाव आता है, क्योंकि स्वसंवेदनरूप वीतरागी-मुद्रा देखने पर स्वयंको अपने स्वसंवेदन-भावरूप निजस्वरूपका विचार उठता है । मेरा आत्मा, रागसे अथवा परसे अनुभवमें आने योग्य नहीं है, किन्तु ज्ञानसे ही स्वसंवेदनमें अनुभूत होने योग्य है । ऐसे भानपूर्वक भगवानकी वीतरागमुद्रा देखकर स्वयं उसका विचार करता है कि अहो ! भगवान इस स्वसंवेदन द्वारा ही रागको टालकर चिद्बिंब - निष्क्रिय वीतरागी हूए - मेरा स्वरूप भी वैसा ही "चिद्बिंब - जिनबिंब है" । ७०१



स्वरूपके भानपूर्वक प्रतिमामें भगवानकी यथार्थ स्थापनाको ज्ञानी जानता है । देखो ! अर्हन्तदेवकी वीतरागी-मुद्रा ! वह पत्थरमेंसे धड़ी होने पर भी वीतराग-मार्गको दिखलाती है । पर किसको ? - कि जिसे अनतरमें भान हुआ है उसे; अहो ! शान्त-शान्त...वीतरागमुद्रा । ७०२



अरे जीवों ! "रुक...जाओ... उपशमरसमें डूब जाओ" - भगवानकी प्रतिमा ऐसा उपदेश देती लगती है; अतः स्थापना भी परमपूज्य है । तीनोलोकमें शाश्वत-वीतराग-मुद्रित जिन-प्रतिमा है । जैसे लोक अनादि-अकृत्रिम है, लोकमें सर्वज्ञ भी अनादिसे है; वैसे ही लोकमें सर्वज्ञकी वीतराग-प्रतिमा भी अनादिसे अकृत्रिम-शाश्वत है । जिन्होंने ऐसी प्रतिमाजीकी स्थापनाको उड़ा दिया है, वे धर्मको समझे ही नहीं हैं । धर्मी जीवको भी भगवानके जिनबिंब के प्रति भक्तिका भाव आता है । ७०३



स्वभाव-सन्मुखताकी शांति द्वारा कषायकी अग्नि बुझती है । वर्षासे अग्नि बुझ जाती है । भगवानने भी वैसे ही स्वसन्मुखी-मोक्षमार्गकी वर्षा की - जो संसाररूपी दावानलको बुझानेका साधन है । अन्तरस्वभावकी सन्मुखता होनेसे शांतिरूप जलकी वर्षा द्वारा अनादिके संसार-दावानलका नाश होता है । ७०४



इष्टता अनिष्टता ज्ञानमें नहीं, वैसे ही ज्ञेयमें भी नहीं । यह कस्तुरी है अतः इष्ट है, यह विष्टा है अतः अनिष्ट है - इस प्रकार इष्ट-अनिष्टरूप मानना, ज्ञानका स्वभाव नहीं

है; वैसे ही ज्ञेयोंका भी ऐसा स्वभाव नहीं है । ७०५



प्रश्न :- ज्ञान हेय-उपादेय (का-भेद) तो करता है न ?

समाधान :- चारित्र-अपेक्षासे ऐसा उपचार तो होता है । ज्ञान तो सबको मात्र जानता है। परको जानना - ऐसा कहना तो व्यवहार है, क्योंकि वह (ज्ञान) परमें तन्मय हुए बिना जानता है। ७०६



आत्मामें भेदज्ञानपूर्वक, जिनका अवलम्बन लेने पर जो आत्म-धर्म होता है वह अनुभव-प्रकाश है । उस समय चारित्रगुणकी मिश्रदशा होनेसे आंशिक निर्मलता व आंशिक मलिनता होती है, वह मलिनता कर्मके कारणसे नहीं होती । ७०७



आत्माका वेदन कैसे हो ? - कि वह कोई निमित्त और रागमें प्रेम करनेसे नहीं होता । जो चेतनकी चेतना है, वह ज्ञान-दर्शन द्वारा खयालमें आती है; वह परसे तो नहीं बल्कि ज्ञानके सिवाय अन्य गुणोंसे भी खयालमें नहीं आती - ऐसे ज्ञान-लक्षण द्वारा चेतना जाननेमें, चेतना द्वारा, चेतन-सत्ताका निर्णय होता है । जब ज्ञानमें चेतना खयालमें आयी तभी ऐसा निर्णय हुआ कि "यह चेतन-सत्ता है" । जानने-देखने वाली वस्तु द्वारा सुख-अंश प्रकट हुआ तभी चेतन-सत्ताका निर्णय हुआ। ७०८



जब आत्माका अनुभव होता है तब बाह्य वेदनाका अनुभव नहीं होता । आत्मा शुद्ध-आनन्दकन्द है - इसमें रमणता होने पर चाहे जैसे परिषहके ढेर हों, पर उनका वेदन नहीं होता। जिन्होंने चारित्रको कष्टरूप माना है, वे चारित्रके स्वरूपको समझे ही नहीं है - वे अज्ञानी हैं; चारित्रको गाली दैते हैं, उसका अवर्णवाद करते हैं । जो देव-गुरु-शास्त्रका अवर्णवाद करते हैं वे दर्शन-मोहनीयका बन्ध बांधते हैं । ७०९



ज्ञानद्वारमें, स्वरूप-शक्तिको जानना । ज्ञान लक्षण व लक्ष्यरूप आत्मा अपने ज्ञानमें भासित होते हैं, तब सहज आनन्दधारा बहती है - वही अनुभव है। ७१०



जगतमें आत्माके भान वाले संत, तथा जो गुणवन्त कहलाते हैं - वे आत्मानुभव करो! दया-दानादिके होने वाले परिणाम आश्रव हैं; धर्म नहीं - ऐसा जानो ! जो बाह्य-तपश्चर्या करते हैं-अभिग्रह करते हैं - उनको गुणवंत नहीं बतलाया है । जो आनंदस्वभावकी खोज करते हैं वे - गुणवंत - संत हैं। जो क्रिया-कांड करते हैं, उन्हें संत नहीं कहते। सारी जीवराशि स्वरूपका अनुभव करो ! - (यह) अनुभव मुक्तिका एक मात्र मार्ग है ।

७११



धर्मात्मा ! बालक हो, वृद्ध हो अथवा युवा हो पर "मैं ज्ञानानन्द हूँ, राग सो मैं नहीं" - ऐसा भान होनेसे जब अनुभव करता है, तब सिद्ध-समान ही आत्माका अनुभव करता है। सिद्ध जितना पूर्ण अनुभव तो नहीं किन्तु सिद्धकी जातिका ही अनुभव होता है । निज-स्वभावमें स्थिर होता है तभी आत्मतत्त्वकी अनुभूति होती है । एकदेश आनन्दकन्दका अनुभव हुआ अर्थात् स्वरूप-अनुभवकी सम्पूर्ण जाति पहचानी । सिद्धो-अहँतों आदिको जैसा अनुभव होता है वैसा धर्मी जान लेता है । 'अनुभव पूज्य है' । स्वयं शुद्ध-आनन्दकन्द है - ऐसी श्रद्धा-सहित अनुभव पूज्य है; वही परम है, वही धर्म है, वही जगतका सार है । आत्मानुभव तो भवसे उद्धार करता है। अनुभव तो भवसे पार लगाता है, महिमा धारण करता है, दोषका नाश करता है । आत्मशक्तिमें ज्ञान व आनन्द भरे हुए हैं । शक्तिकी व्यक्तीरूपी अनुभवसे ही चिदानन्दमें निखार आता है - वही वास्तविक विकास है । ७१२



नमस्कार ! यह कोई विकल्पकी बात नहीं । मेरा शुद्धआत्मा कर्म-भावकर्म-नोकर्मसे रहित है - उसमें मैं पिरणमित होता हूँ, उसीमें मेरा झुकाव है कर्ममें नहीं, रागमें नहीं, शरीरमें नहीं है। रागकी पर्यायका लक्ष्य छोड़कर आत्मामें झुकना ही सच्चा भाव-नमस्कार है; तथा जो विकल्प आते हैं सो द्रव्य-नमस्कार है । ७१३



छद्मस्थका उपयोग एक ओर ही होता है । वह पुण्य-पापकी ओर हो तब स्वानुभवमें नहीं होता । स्वानुभूति, ज्ञानकी पर्याय है । सम्यग्दर्शन व उपयोगरूप-स्वानुभूतिको विषम-व्याप्ति है। सम्यग्दर्शन होने पर भी ज्ञान 'स्व' में उपयागरूप हो, या न भी हो ।

अतः सम्यग्दर्शन व स्व-ज्ञान-व्यापार में विषम-व्याप्ति है । स्व-ज्ञान लब्धरूप होता है, सदा ही उपयोगरूप नहीं होता । ७१४



प्रश्न :- निर्विकल्प-दशा के समय स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव बाधित होता है क्या ?

उत्तर :- निर्विकल्पके समय ज्ञान, ज्ञानको जानता है तथा आनन्दको भी जानता है; इस प्रकार उस समय भी स्व-पर-प्रकाशकता है । ज्ञान-अपेक्षासे आनन्दको जानना भी पर है । निर्विकल्प-दशामें एक स्वज्ञेय ही जाननेमें आया - ऐसा नहीं है । ज्ञानके साथ आनन्दका भी खयाल आता है । जो स्वयं ज्ञानको जानता है वह स्व को तथा पर-रूपसे आनन्दको (दोनोंको) जानता है । इस प्रकार उस समय भी स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव यथावत् रहता है । ७१५



छट्टे गुणस्थान वाला जीव अंतर्मुहूर्तमें ध्यान (निर्विकल्पमें) न आए तो छट्टा-सातवाँ गुणस्थान नहीं रहता । चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें लम्बे-लम्बे कालके बाद निर्विकल्प-अनुभव होता है, परन्तु ज्ञान, लब्धरूपसे तो सदा ही वर्तित होता रहता है । ७१६



एक भी विपरीत अभिप्राय रहे तो ध्यान अथवा सम्यक्त्व नहीं होता । विपरीत अभिप्राय टल-कर, सात तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होने पर स्व-ओर झूके, तभी अनुभव होता है - वही स्वानुभव है । ७१७



प्रश्न :- प्रथम चारित्र ले लेवे व बादमें सम्यक्त्व करे तो ?

उत्तर :- जैसे जमीन-बिना वृक्ष नहीं उगता, वैसे ही "मैं अखण्ड चैतन्य हूँ" - ऐसी प्रतीति-बिना चारित्र कहाँसे हो ? नहीं होता है । चारित्र अर्थात् चरना स्थिर होना - किसमें...देहमें ? वह जो जड़ है । पुण्य-पाप विकार हैं । शुद्ध चैतन्य-स्वरूपकी प्रतीति होनेके बाद, अंतरमें लीनता हो - वह चारित्र है । ७१८



सत्यमें दुःख नहीं है । दुःख तो अज्ञानके कारण लगता है । मद्य बेचने वालेको मद्यके निषेधक बुरे लगते हैं, इसलिए क्या मद्य-पान बन्द न करें ? क्या ऐसी कोई चीज

है जो पूरे जगतको अच्छी लगे ? अतः जो सत्य है उसीको सत्य मानना । ब्रह्मचर्यके बखान करनेसे यदि व्यभिचारीको बुरा लगे, तो क्या ब्रह्मचर्यके बखान नहीं करने चाहिए ? सत्य बात करने पर अज्ञानीको तो अज्ञानके कारण दुःख लगता है । अतः सत्य सदा ही प्रिय है । ७१९



लोग जिसे मानव-धर्म कहते हैं, ज्ञानी उसे अधर्म कहते हैं । मैं मनुष्य हूँ जो ऐसा माने वह अधर्मी है । मेरा स्वभाव ज्ञान है - ऐसे चेतना - विलासको आत्म-व्यवहार कहते हैं । देहकी क्रिया आत्म-व्यवहार नहीं है, वैसे ही पुण्य-पाप भी आत्म-व्यवहार नहीं है । आत्मा शुद्ध-चैतन्यस्वभावी है । उसकी श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक वीतरागता प्रकट करना आत्म-व्यवहार है । ऐसी शुद्धदशासे च्युत होनेसे ही अज्ञानी जीव क्रिया-काण्डको अपनाता है । संसारमें परदेशसे कमाई कर-आने वाले अपने पुत्रके सिरको बाप छातीसे लगाता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-परिणामको छातीसे लगाए रखता है; उन समस्त भावोंको क्रिया-कलाप कहते हैं । यह क्रिया की, ये पदार्थ छोड़े, यह यात्रा की - ऐसे समस्त क्रिया-कलापको ही अपनाते हैं; ऐसे मनुष्य व्यवहारका आश्रय कर रागी-द्वेषी होती हैं ।

७२०



जिन-धर्म तो वीतराग स्वरूप है । जिनधर्म किसे कहना तथा उससे विपरीत अन्य धर्म क्या है - यह जानना चाहिए । जिनधर्म तो वीतराग-स्वरूप अर्थात् निज-शुद्धात्माकी अपेक्षा व निमित्तादिकी उपेक्षा स्वरूप है । जब तक पूर्ण वीतरागता प्रकट न हो तब तक जिन-प्रतिमाकी पूजा-वंदना-भक्ति आदि होती है; परसे उपयोग पलट कर आत्मदर्शन करनेका हेतु व लक्ष्य होता है - ऐसा जिनमत है । ७२१



जो सर्वज्ञके शास्त्रसे विरुद्ध प्ररूपणा करते हों तथा जिनकी तत्त्व-विपरीत दृष्टि है - वे कुगुरु हैं । यह बात कुगुरु सिद्ध करने हेतु नहि, वरन् अपना ज्ञान यथार्थ होने हेतु है; ताकि मिथ्याज्ञान छूट कर, सत्यका स्वीकार हो । ७२२



धर्मी जीव, वाणी-योग व पुण्य-उदय होने पर, वाद-विवाद कर असत्यका उत्थापन

तथा सत् का स्थापन करता है; परन्तु ऐसे उदयके अभावमें ज्ञानीको अन्तरमें असत्यकी अस्वीकृति-निषेध व विरोध वर्तता है - ऐसी स्थितिमें शान्ति बनाए रखनेवाले मिथ्या-मध्यस्थभाव रखनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं - ऐसेमें सम्यग्दृष्टि शान्त होकर नहीं बैठ सकते । यदि अपनी माता-पर लाँछन आए तो क्या पुत्र शांतिसे सहन-करता रह सकता है ? तत्त्वसे विरुद्ध कथन आए तो उसे धर्मी सहन नहीं कर सकता । ७२३



किसका समागम करनेसे सम्यक-श्रद्धान आदि हों - आत्मवृद्धि हो; व किसकी संगतिसे मिथ्यात्व पुष्ट होगा, चार-गतिका भ्रमण यों का यों बना रहेगा तथा दुर्गतिका कारण होगा ? इन दोनोंकी गम्भीर परीक्षा कर, निर्णय करना योग्य है । ७२४



जो आत्म-शांति व सुख चाहते हों उन्हें आत्मामे सुखकी सत्ता - अस्तित्वका स्वीकार होना चाहिए तथा वैसे सुखको कौन प्राप्त हुआ है, उसका भी निर्णय करना चाहिए । यह मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत अपेक्षा है । ७२५



प्रश्न :- हम अन्य देवादिकी भक्ति आदि नहीं करते तो हमारा ग्रहीत-मिथ्यात्व तो छूटा है न ? इतना तो लाभ हुआ न ?

उत्तर :- नहीं; ऐसा नहीं है, क्योंकि तुम्हें ग्रहीतमिथ्यात्वका ज्ञान ही नहीं है । तुम्हें १८ दोष-रहित सच्चे-सर्वज्ञदेव, उनकी अनेकान्त लक्षणयुक्त हितकारी-वाणी तथा सच्चे निर्ग्रन्थ-गुरुकी पहचान ही नहीं है । किसी समाज-प्रतिष्ठित पुरुषके अनुसरण, अथवा कुल-परम्परासे तुम सच्चे-देवादिको मानते हो; परन्तु तुम्हें अन्तरंगमें उनका स्वरूप भासित नहीं हुआ, अतः तुम्हारे ग्रहीतमिथ्यात्व छूटा हुआ नहीं कहा जा सकता ।

वास्तवमें तो कुदेवादिके सम्बन्ध तोड़कर जो सच्चे-देवादिके लक्ष्मी लगाकर, तत्त्वका निर्णय कर, अन्तरंग शुद्ध-तत्त्वका श्रद्धान आदि करेंगे उनका ही कल्याण होगा ।

७२६



भाई ! यह तो दुनियाके सामने झुकना है । जिन्हें सुखकी चाह हो । उन्हें सच्चा निर्णय करना ही पड़ेगा । ऐसे स्वयंको सर्व प्रकारसे देव-गुरु-शास्त्रके स्वरूपका निश्चय

हुआ हो तो प्रतिपक्षीको समझानेकी सामर्थ्य रहे, अपनी आस्तिक्य-बुद्धि बनी रहे तथा प्रतिकूल-प्रसंगमें भी डाँवाडोल न हो बैठे - इन्हीं हेतुओंसे सभी पहलूओंका सच्चा निर्णय कर लेना चाहिए । किन्तु पक्षपाती होकर देवादिकी भक्ति-पूजादि करनेसे कोई मिथ्यात्व दूर नहीं होता । ७२७



ज्ञानका सम्यक् रूप व मिथ्यारूप परिणमन अपने ही कारणसे है, श्रद्धाके कारणसे नहीं । श्रद्धा सम्यक् होनेसे ज्ञान सम्यक् हुआ व मिथ्यात्वके होनेसे ज्ञान मिथ्या था - परमार्थसे ऐसा नहीं है । ज्ञानका सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व तो ज्ञानकी ही जाति है; ज्ञानका ही वैसा परिणमन हुआ है । ज्ञानगुण व श्रद्धा-गुणकी जाति ही भिन्न है । ७२८



जो सच्चे देवादिके प्रति भक्तिभाव न आते हों तो समझो कि तुम्हें धर्मकार्य नीरस लगते हैं: इसका कारण क्या ? रुचि क्यों उत्पन्न नहीं होती, उमंगपूर्वक उद्यम नहीं होता तो लगता है कि तुम्हारा भविष्य बुरा है । तुम्हारा चौरासीके अवतारमें भटकना चालू ही रहेगा - ऐसा दिखता है । जैसे आहारकी रुचि न रहती हो तो मरण निकट सा लगता है; वैसे ही यदि तुम्हारे अंतरंगमें धर्मवासना न जगी, देव-गुरु के प्रति उल्लास व उमंग न आए तो तुम्हारा संसार-चक्र अभी चालू है । लोग भले ही तुम्हें भला कहें, परन्तु जिनके तुम भक्त हो उन केवलज्ञानीसे तुम्हारा कपट छिपा नहीं रह सकता । ७२९



भाई ! तुमने यदि पराश्रय-बुद्धि न छोड़ी तथा स्वतत्त्व-ओर दृष्टि न डाली तो तेरी विद्वता क्या काम की ? तेरा शास्त्रज्ञान किस कामका ? - विद्वता तो उसे कहते हैं कि जिससे स्वाश्रय कर निज-हित सधे । ७३०



यह चैतन्यविद्या तो भारतकी मूल विद्या है । पूर्वमें तो बालपनसे ही भारतके बालकोंमें ऐसे चैतन्यविद्याके संस्कार डालते थे, माताएँ भी धर्मात्मा होती थीं । वे अपने बालकों को ऐसे उत्तम संस्कार सिखलाती, और बालक भी अन्तर-अभ्यास कर अन्तरमें उतर कर आठ-आठ वर्षकी उम्रमें ही आत्माका अनुभव कर लेते थे । भारतवर्षमें चैतन्यविद्याका ऐसा देदिप्यमान - धर्मकाल था । उसके बदले आज तो इस चैतन्यविद्याका

श्रवण होना भी कितना दुर्लभ हो गया है । ७३१



अहो ! परम सत्यकी ऐसी बात सुननेको मिलना भी बहुत दुर्लभ है । अनन्तकालमें मनुष्य-भवमें, ऐसा अमूल्य अवसर मिला है ! तब भी यदि अपूर्व सत्यको समझकर स्वतंत्र वस्तु-स्वभावकी सामर्थ्यका स्वीकार न हो तो चौरासीके अवतारकी भटकन नहीं मिटेगी ।

७३२



परद्रव्य-ओरकी वृत्ति अशुभ हो चाहे शुभ - पर वह आत्मा नहीं है; स्व-रूपसे अनुभवमें आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है, ऐसे ज्ञानके स्वसंवेदनकी कला ही मोक्षकी कला है । आत्मानुभवकी यह कला ही सच्ची कला है, उसका बारम्बार अभ्यास करना योग्य है । दुःखसे छूटना हो व सुखी होना हो तो परभावोंसे भिन्न आत्माको जानकर, उसीका अभ्यास करना योग्य है । ७३३



जन्म-मरणके क्लेशसे छूटना हो व मोक्षरूप अविनाशी-कल्याण चाहता हो तो अपने ज्ञानरूप-आत्माको ही कल्याणस्वरूप जानकर उसीमें संतुष्ट होना । रागमें कभी भी संतुष्ट होना योग्य नहीं, उसमें तो विषयोंकी इच्छा व अनुकुलता ही है । राग स्वयं ही आकुलता है तो उसमें संतोष कैसा ? ज्ञान तो निराकुल (स्वरूप) है, अतः उसके अनुभवसे ही संतोष प्राप्त कर । ७३४



चैतन्यतत्त्वके लक्ष्यसे रहित जो कुछ किया वह सब सत्यसे विपरीत हुआ । सम्यग्ज्ञानकी कसौटी पर रखनेसे उनमेंसे एक भी बात सच्ची नहीं निकलती । अतः जिन्हें आत्मामें अपूर्व धर्म-प्रकट करना हो उन्हें अपनी पूर्वमें मानी हुयी सभी बातोंको अक्षरशः मिथ्या जानकर, ज्ञानका सम्पूर्ण बहाव ही बदलना पड़ेगा । परन्तु जो अपनी पूर्व-मान्यताओंको रखना चाहते हैं व उनके साथ उक्त (धर्म-प्रकट करनेकी) बातका मेल बैठाना चाहते हैं तो अनादिसे चली आ रही भूल-भूलैयाका नाश नहीं होता; और ऐसा नया व अपूर्व सत्य उनकी समझमें नहीं आएगा । ७३५





प्रश्न :- आप जो बात समझाते हैं वह बात तो पूर्णतः सत्य है, परन्तु उससे समाजको क्या लाभ ?

उत्तर :- देखो भाई ! पहली बात तो यह है कि स्वयंको अपने ही को देखना है । समाजका चाहे जो हो, उसकी चिन्ता छोड़कर स्वयंको अपनी ही सँभाल करनी है । समुद्रके बीच डूबता हो तब समाज व कुटुम्बकी चिन्तामें न रूक कर "मैं समुद्रमें डूबनेसे कैसे बचूँ" ? - इसीका उपाय करता है । ऐसे ही संसार-समुद्रमें धक्के खाते-खाते मुश्किलसे मनुष्यभव मिला है तब यही विचार करना है कि "मेरी आत्माका हित कैसे हो", मेरी आत्मा संसार-भ्रमणमें कैसे छूटे ? पर-चिन्तामें रूकनेसे तो आत्माहित चूक जाता है । यह बात तो निजहित कर लेनेकी है । प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, अतः समाजके अन्य जीवोंका हित हो तो ही अपना हित हो सके - ऐसी कोई पराधीनता नहीं । अतः है जीव ! तूँ तेरे हितका उपाय कर । ७३६



सर्वज्ञ परमेश्वरकी वाणीमें वस्तुस्वरूपकी ऐसी परिपूर्णता उपदिष्ट हुयी है कि प्रत्येक आत्मा अपने स्वभावमें पूर्ण परमेश्वर है; उसे किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं, वैसे ही प्रत्येक जड़-परमाणु भी अपने स्वभावसे परिपूर्ण जड़ेश्वर-भगवान है । इस प्रकार चेतन व जड़, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र व स्वतः ही परिपूर्ण है; किसी भी तत्त्वको किसी अन्य तत्त्वके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है - ऐसा समझकर अपने परिपूर्ण आत्माकी श्रद्धा व आश्रय करना व परका आश्रय छोड़ना ही परमेश्वर होनेका पंथ है । ७३७



यह आत्मस्वभावकी बात - सूक्ष्म पड़े तो भी सम्पूर्ण मनोयोगसे समझने योग्य है । आत्मा, सूक्ष्म है तो उसकी बात भी तो सूक्ष्म ही होगी । जीवने एक स्वयंको समझने बिना, अन्य सब कुछ अनंत बार किया है । आत्माकी, परम सत्यकी, बात किसी विरल स्थानमें ही सुननेको मिलती है । कोई उपन्यास पढ़ते हैं । कोई धर्म सुनने जाएँ तो वहाँ इधर-उधरकी बातें सुनाते हैं, बाह्य-प्रवृत्तिके लिए कहते हैं; इस प्रकार बाह्य-क्रियामें संतोष बतलाकर धर्मका स्वरूप गाजर-मूली जितना सस्ता बना दिया है । आत्मस्वभावकी जो बात अनन्तकालमें भी न समझी उसे समझने के लिए तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिए । लौकिक बात व लोकोत्तर-धर्मकी बात बिल्कुल अलग-अलग हैं; तुरन्त समझमें न आए

तो, निषेध न करना । जो निजस्वरूप है तो समझमें न आए वह इतना कठिन नहीं हो सकता । रुचिपूर्वक अभ्यास करे तो प्रत्येक जीव अपना आत्मस्वरूप समझ सकता है । "केवल सत् समझनेकी चाह होनी चाहिए" । ७३८



जिसको सच्ची श्रद्धा प्रकट होती है उसका सम्पूर्ण अन्तरंग ही बदल जाता है; हृदय पलट जाता है, अन्तरमें उथल-पुथल हो जाती है । अंधेरेमें दिखने लगे, अंतरकी ज्योति जग उठे, उसकी दशाकी दिशा समपूर्णतः फिर जाती है । जिसका अन्तर बदलता है उसे किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता । उसका अन्तर बेधड़क पुकारता हुआ साक्षी देता है कि - हम अब प्रभुके मार्गमें आ गए हैं, सिद्धका संदेशा आ चुका है, अब अल्पकालमें सिद्ध होकर (संसारसे) छुटकारा पायेंगे; अब और कुछ नहीं होने वाला है, अन्तर नहीं पड़ने वाला है । ७३९



बहुत जीव विकल्पका अभाव करना चाहते हैं; तथा स्थूलविकल्प अल्प हो जाने पर, विकल्पका अभाव मानते हैं । परन्तु वास्तवमें जिसका विकल्पका अभाव करने पर लक्ष्य है, उसके विकल्पका अभाव नहीं होता । लेकिन जिसमें विकल्पका ही अभाव है - ऐसे शुद्ध चैतन्यको लक्ष्यमें लेकर एकाग्र होनेसे विकल्पका अभाव हो जाता है । मैं इस "विकल्पका निषेध करूँ" - जिसका ऐसे विकल्पका निषेध करनेकी ओर लक्ष्य है; उसका लक्ष्य शुद्ध आत्माकी ओर उन्मुख ही नहीं हुआ, उल्टे विकल्पकी ओर ही झुका है । अतः उसके तो विकल्पकी ही उत्पत्ति होगी । 'शुद्ध आत्म-द्रव्यकी ओर ढलना ही विकल्पके अभाव होनेकी रीति है । उपयोगका झुकाव अंतर्मुख स्वभाव-ओर होने पर विकल्प छूट जाते हैं । ७४०



पहले आत्मस्वभावका श्रवण-मनन कर उसे लक्ष्यमें लिया हो तथा उसकी महिमा भासित हुयी हो तो, उसमें अंतर्मुख होकर विकल्पका अभाव कर सके । परन्तु आत्मस्वभावकी महिमा लक्ष्यमें लिए बिना, किसके अस्तित्वमें एकत्व कर, विकल्पका अभाव करेगा 'विकल्प का अभाव करना' यह भी उपचार-कथन है । वास्तवमें विकल्पका अभाव करना नहीं पड़ता; परन्तु जो परिणति अन्तर-स्वभाव सन्मुख हुयी है, वह परिणति स्वयं ही

विकल्पके अभाव-स्वरूप है । उसमें विकल्प है ही नहीं, तो अभाव किसका करना ? विकल्पकी उत्पत्ति ही नहीं इस अपेक्षासे विकल्पका अभाव किया कहलाता है । पर ऐसा नहीं है कि उस समय विकल्प था व उसका अभाव किया है । ७४१



पूर्वमें आत्माको चाहे बिना केवल विषय-कषायमें ही जीवन बिताया हो तो भी यदि वर्तमानमें रुचिको बदलकर, आत्माकी रुचि करे तो अपूर्व आत्मभान हो सकता है ।

७४२



'अर्हन्त भगवान आदिको शरणभूत कहना तो उपचार-अपेक्षा है; सच में तो अर्हन्त प्रभुने बतलाया वैसा अपना स्वभाव ही स्वयंको शरणभूत है । इसके अतिरिक्त क्षणिकभाव अथवा कोई परवस्तु जीवको शरणागत नहीं है । चैतन्यकी शरणपूर्वक ही यथार्थ "अशरण-भावना" है। मैं किसी भी परवस्तुका ग्रहण या त्याग नहीं करता - ऐसे भानपूर्वक शरणभूत-ध्रुवका अवलम्बन लेना ही सच्ची 'अनित्य-भावना' व 'अशरण-भावना' है । ७४३



धर्मकी प्रीतिवाले विवेकी जीवको अपने परिणाममें रागादि घटानेके प्रयोजन से धर्म-कार्यमें लक्ष्मी आदि व्यय करनेका भाव आए बिना नहीं रहता । कितने ही जीव धार्मिक कार्योंकी ओर ध्यान ही नहीं देते, वे बाह्य-लौकिक कार्योंमें धनका उपयोग करते हैं, ऐसे जीवोंको धर्मका विवेक ही नहीं है । जिसे धर्म-कार्यमें लक्ष्मीका उपयोग करनेका उत्साह है उसे स्वयंको धर्मकी प्रीति है व इस कारणसे ऐसे जीवकी पंडितजन भी प्रशंसा करते हैं । ७४४



नित्य रहनेवाली ज्ञायक-वस्तुको जाने बिना हर्ष-शोक यथार्थतः दूर नहीं होते। मैं शुद्ध हूँ, राग भी मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसी केवल अध्यात्मकी बात सुनना अच्छा लगे व वैराग्यभावनाके श्रवण-चिंतनमें उत्साह न आए तो वह जीव शुष्क है। अंतरस्वभावकी ओर रुचि व ज्ञानके साथ वैराग्य भावनाएँ भी होती ही है । जिसे अंतर-शुद्धस्वभाव रुचित हुआ है उसकी पर्यायमें राग घटने पर वैराग्यभावनाएँ आती हैं। ७४५



स्वभावका सुख पूर्ण होता है; परन्तु सामग्रीका सुख पूर्ण नहीं होता। सामग्रीमें सुख तो है ही नहीं, फिर भी जिस सामग्रीमें सुखकी कल्पना करते हैं वह सामग्री भी किसीको पर्याप्त नहीं होती। ७४६



जगतके समस्त जीव सुखकी इच्छा करते हैं; परन्तु सुखका उपाय नहीं खोजते। वे दुःखकी इच्छा नहीं करते परन्तु दुःखके कारणमें-मिथ्यात्व आदिमें निरन्तर संलग्न रहते हैं। सुखका उपाय तो आत्माकी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान कर उसमें एकाग्र होना है; उसके बदले अज्ञानीजीव बाह्य-पदार्थ जुटाकर उनसे सुखी होना चाहता है। ७४७



"मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, मेरे स्वभावमें संसार नहीं है" - ऐसे भावपूर्वक धर्मीजीव संसारके स्वरूपका विचार करते हैं। जिसे संसाररहित-स्वभावकी दृष्टि प्रकट नहीं हुयी, उसे संसारके स्वरूपका यथार्थ विचार नहीं होता। ७४८



जिसे स्वभावका भान व भावना हो वही जीव सुखी है। जिसे स्वभावका भान व भावना नहीं होती वह बाह्य-विषयोंकी भावना करता है; कहीं तो भावना करेगा ही। अज्ञानीजीव, 'निज-स्वभाव' की भावना छोड़कर संयोगकी भावना करता है; वह विषयोंकी तृष्णामें दुःखी ही है। ७४९



चैतन्यस्वभाव सुखसे लबालब है। उसका विश्वास कर ! उसकी जितनी भावना करे उतना सुख प्रकट हो। संयोगकी चाहे जितनी भावना करे उसमेंसे कभी भी सुख मिलने वाला नहीं है, उस तृष्णासे तो दुःख ही है। ७५०



अज्ञान व राग-द्वेषसे आत्माको दुःख होता है; उसे चैतन्य-स्वभावका भान व वीतरागता प्रकट कर...बचाना ही आत्माकी दया है। आत्मामे होनेवाले रागादि-भाव ही हिंसा है व उन रागादि-भावोंकी अनुत्पत्तिका नाम दया है। अहो ! आत्मा तो शांतिमूर्ति है, उसका भान कर उसमें स्थिर होनेका नाम ही दया है। ७५१



तप द्वारा निर्जरा होती है । पर जो तप, ज्ञानसहित होता है उस तप द्वारा ही निर्जरा होती है । ज्ञानस्वभावका भानकर, उसमें उग्ररूपसे स्थिर होने पर आहारादिकी इच्छा टूटनेका नाम ही तप है व उसीसे निर्जरा होती है । बाह्यमें हठकरके आहारादिका त्याग करे व अंतरमें शांतिका भान न हो वह तो अज्ञानतप है । अज्ञानीको बालतपमें तो मिथ्यात्वादिका पोषण होता है व हिंसा होती है, ऐसे तपसे तो कर्म-बन्धन होता है ।

७५२



णमो अरिहंताणं - इस प्रकार बोले, परन्तु अर्हंतका स्वरूप ही न जाने तो उससे कोई लाभ नहीं होता । रेकॉर्डके बोलने व उस जीवके समझे-बिना बोलनेमें कोई अंतर नहीं है । जब सर्वज्ञको पहचाने, तभी आत्माकी सर्वज्ञताकी प्रतीति होती है व पुण्य-पाप तथा अल्पज्ञताकी रुचि नहीं रहती । ७५३



जब आत्मा निसर्गज अथवा अधिगमज सम्यग्ज्ञान-ज्योति प्रकट करता है तथा परसमयको त्याग कर स्वसमयको अंगीकार करता है तब वह अवश्य ही कर्म-बंधनसे रहित होता है । धर्म-प्राप्तिके समय सच्चे देव या गुरुकी प्रत्यक्ष विद्यमानता हो तो उस समय प्राप्त सम्यग्दर्शन अधिगमज कहलाता है; तथा उसकी विद्यमानता न हो, परन्तु पूर्वमें ज्ञानीसे देशना झेली हो व उस समय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो, पर बादमें उन पूर्व-संस्कारोके निमित्तसे प्राप्त सम्यग्दर्शनको निसर्गज - सम्यग्दर्शन कहते हैं । ज्ञानी किसी भी भवमें न मिले हो व अपनी सुझसे ही सम्यक्त्व-प्राप्त कर लेवे - ऐसा निसर्गजका अर्थ नहीं है । निसर्गज तो यही सुचित करता है कि धर्म-प्राप्त करने वाले जीवको उस भवमें ज्ञानीका सामीप्य नहीं है । ज्ञानी-बिना अपनी योग्यतासे ही धर्म-प्राप्त हो जाए - ऐसा नहीं होता; तथा वह भी नहीं होता कि अपनी योग्यता हो व ज्ञानी न मिले । दोनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शनें पुरुषार्थ तो समान है । ७५४



ज्ञानको, स्वतंत्र मानने वाला ज्ञेयको भी स्वतंत्र मानता है । ज्ञेयको स्वतंत्र मानने वाला ज्ञानको भी स्वतन्त्र मानता है । परन्तु स्वयंको पराधीन माननेवाला सभीको पराधीन मानता है । ७५५



सम्यग्दृष्टिजीव निज शुद्ध-भाव द्वारा शुद्धजीवको निश्चयसे जानता है; परसे या रागसे नहीं, वरन् ज्ञानसे जानता है। ऐसे भानवाला आत्मा, परसे अस्पर्शित आत्मा - निज-भान किए पश्चात् सर्वसंगसे विमुक्त होता है। "मैं सर्वसंगसे विमुक्त हूँ" - प्रथम ऐसी दृष्टि होने पर ही पर्यायमें सर्वसंग-विमुक्त होता है। ७५६



प्रश्न :- यदि आत्मा अपने हर्ष-शोकके भावोंको ही भोगता है तो फिर बाहरमें स्वर्ग-नरकादि जैसे भोग्य-स्थानोंकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :- उपादानरूपसे तो स्वयं अपने हर्ष-शोक (परिणामों) का ही भोक्ता है; परन्तु उस समय निमित्तरूपसे कैसे संयोग होते हैं सो बतलाया है। स्वर्ग-नरकादिका संयोग तो निमित्त है तथा उस प्रकारके हर्ष-शोकको भोगनेकी योग्यतावाले जीवोंको वैसे संयोग होते हैं। ७५७



जो आत्म-स्वभावका अनादर कर परवस्तुसे सुख-पाना मानता है - वह जीव घोर पापी है। अंतरमें महान चैतन्य-निधि विराजमान है, उसका तो आदर नहीं करता व जड़में सुख मानता है- ऐसे जीवके भले ही बाह्यमें लक्ष्मीके ढेर हों, परन्तु भगवान उसे पापी कहते हैं; तथा देहसे भिन्न चिदानन्द-स्वभावका भान करनेवाला चाहे छोटा मेढ़क ही हो तो भी वह, पुण्यजीव है; वह जीव अल्पकालमें ही मोक्ष चला जाएगा। शुभभावसे हमें लाभ-होगा, शरीरकी क्रियासे धर्म होगा - ऐसा माननेवाला जीव भी पापी है। जिसे अन्तरमें परसे भिन्न चैतन्यका भान नहीं है, उसके भेदज्ञानके अभावमें, पाप-जड़का नाश नहीं होता - इसलिए वह पापजीव है। चाहे बड़ा राजा ही हो पर यदि उसे भिन्न चैतन्यका भान नहीं तो उसके पापका मूल कायम ही है, अतः वह पापजीव है। भेदज्ञान-बिना (पापका) मूलका नाश नहीं होता। ७५८



निर्धनता कोई अपराध नहीं व सधनता कोई गुण नहीं है। निर्धनता होने पर ही जिसे अन्तरमें भान है कि मैं तो चैतन्य-निधिका स्वामी हूँ, केवलज्ञानकी अनन्त-निधि मुझमें पड़ी है; जड़-संयोगमें मेरा सुख नहीं है - ऐसे धर्मीजीवको भगवान ने पुण्यजीव कहा है।

७५९



जगतमें पूर्णताको प्राप्त परमात्मा अनन्त हैं । अन्तरात्मा-साधकजीव भी अनादिसे ही हैं तथा बहिरात्मा भी अनादिसे ही हैं । जगतमें कोई भी पहले या बादमें नहीं है, सभी समानरूपसे अनादि-अनन्त हैं । एक जीवकी अपेक्षासे तो संसारका नाश व मोक्षका आरम्भ हो सकता है, किन्तु जगतमें मोक्षका नया आरंभ नहीं हुआ है । अनादिसे संसारमें रुलने वाले जीव हैं; वैसे ही साधकजीव तथा परमात्मदशाको प्राप्त जीव भी अनादिसे ही हैं । ७६०



आमके मधुर रसकी जो पर्याय है वह उसका स्वभाव है तथा उसको जानना जीवका स्वभाव है; पर वहाँ ऐसा मानना कि यह मुझे ठीक है, अज्ञानीकी मिथ्या-कल्पना करना है । वह मिथ्या-कल्पना किसीने करवायी नहीं है, परन्तु स्वयंने मिथ्या-कल्पना की है । उसमें आम तो निमित्त मात्र है, किन्तु निमित्त कब कहा जाए ? - कि जब यहाँ नैमित्तिक है तब । निमित्त-नैमित्तिक एक ही समयमें होने पर भी दोनों स्वतंत्र हैं । आमके रसका आत्मामें अत्यन्त अभाव है, अतः उसके कारणसे आत्मामें कुछ हो, यह सम्भव नहीं है । अभाव कहना व पुनः उसीसे कुछ होना मानना- यह बात ही विरुद्ध है । ७६१



जिसे स्वयंको यथार्थ श्रद्धा व सत्-ज्ञान हुआ हो उसकी चमक छिपी नहीं रहती । उसे तो अन्य सम्यग्दर्शानादि गुणोंके धारक-जीवोंके प्रति अत्यन्त प्रेम होता है । धर्मात्माको देखते ही अनुराग उमड़ता है । निज-गुणकी प्रीति व बहुमान होनेसे अन्य जीवोंमें भी गुण देखते ही उनके प्रति बहुमान व आदर आता है । अन्यकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनादिके धारक-जीवोंमें बहुत अंतर पड़ जाता है । ७६२



पर्याय अपेक्षासे तो प्रथम समयके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों ही दूसरे समयमें पलट जाते हैं । सदृश्यताकी अपेक्षासे द्रव्यको ध्रुव कहते हैं, परन्तु प्रथम समयका द्रव्य, दूसरे समयमें पर्याय-अपेक्षासे पलटा हुआ होता है । चक्कीके दो पाटोंमेंसे ऊपरका पाट घूमता है व निचला पाट स्थिर रहता है - उस प्रकारसे किसी भी वस्तुमें दो अलग-अलग भाग नहीं, कि एक भाग ध्रुवरूप रहे व दूसरा भाग घुमे । ७६३



द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे ऐसा कहा जाता है कि आत्मामें विकार ही नहीं है, विकार तो पुद्गलका कार्य है; परन्तु ऐसी द्रव्यदृष्टि किसे होती है ? - कि जिसे पर्यायकी स्वतंत्रताका भान हो उसे । अभी तक तो जो पर्यायको ही स्वाधीन न जाने, उसे तीनोंकालकी पर्यायके पिण्डरूप-द्रव्यकी दृष्टि कैसे हो ? पर्यायमें विकार हैं, उन्हें कर्मोने नहीं करवाए हैं; परन्तु वे मेरे अपराधके कारणसे हैं । ऐसे अंशको स्वतंत्र जाने तथा यह भी कि उस अंश जितना ही त्रिकाल-स्वभाव नहीं है, तो द्रव्यदृष्टि हो । परन्तु ऐसा माने कि कर्म ही विकार कराते हैं; तो उस जीवको पर्यायका भी भान नहीं है, व उसे द्रव्यदृष्टि नहीं होती । ७६४



निरपेक्ष-स्वभावके भान-बिना, निमित्तका यथार्थ ज्ञान नहीं होता । स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक है; उसमें स्वके ज्ञान-बिना, परका भी ज्ञान नहीं होता । उपादानकी स्वतंत्रताके ज्ञान बिना, निमित्तका ज्ञान नहीं होता; निश्चय-बिना व्यवहारका ज्ञान नहीं होता । जैसे त्रिकाली-द्रव्य स्वतंत्र, निरपेक्ष है; वैसे ही उसकी समय-समयकी पर्याय भी निरपेक्ष व स्वतंत्र है । समय-समयकी पर्याय अपने कारणसे ही होती है । ७६५



जगतके समस्त पदार्थ प्रतिसमयमें परिणमित होते रहते हैं । पर्याय-अपेक्षा पूरा द्रव्य ही परिणमित होता है । चक्कीके दो पाटोंकी भाँति एकभागका सर्वथा कुटस्थ रहना व दूसरे भागका बदलते रहना - ऐसे दो भिन्न-भिन्न भाग नहीं है; परन्तु वस्तु स्वयं ही पर्यायरूपसे पलटती है । पदार्थ व पर्याय, सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं । वस्तु, स्वयं ही पर्याय-अपेक्षासे नवीन उत्पन्न होती है और व्यय होती है तथा ध्रुवरूप भी रहती है । ७६६



पात्रता-बिना, गुरु-समागम नहीं मिलता व गुरुगम-बिना सत्य समझमें नहीं आता । कहा है कि अनन्तकालमें सत्पुरुषकी सेवा नहीं की - इसका अर्थ यह है कि स्वयंकी पात्रता न थी, अतः निमित्तत्वका आरोप भी न हुआ । रुचिपूर्वक सत् नहीं सुना, परिचय तथा सेवन न हुआ । स्वयंकी पात्रता-बिना सत्-निमित्त मिला होने पर भी वह निमित्तकारण न कहलाया । स्वतंत्रता-भासित हो, तो सच्चा ज्ञान हो । ७६७





अज्ञानीजीवकी पराधीन दृष्टि होनेसे शास्त्रोंमें से भी वैसा ही आशय उद्धृत कर, शास्त्रोंको अपनी मान्यतानुकूल आशयवाला बनाना चाहते हैं; परन्तु शास्त्रोंमें वैसा आशय ही नहीं है। गुरुगम-बिना, स्वच्छंदित होनेवाला जीव - शास्त्रोंका अर्थ उल्टा ही करता है । ७६८



समय-समयकी पर्याय स्वतंत्र है, एक समयमें एक पर्याय व्यक्त है व अन्य अनन्तपर्याय-सामर्थ्य तो द्रव्यरूपसे विद्यमान है - जो ऐसा जाने तो दृष्टि द्रव्य-सन्मुख हुए बिना न रहे । तीनकालकी पर्यायोंका पिण्ड सो द्रव्य - ऐसा कहनेका अर्थ है कि द्रव्यमें पर्यायरूप होनेकी सामर्थ्य है; परन्तु वे पर्यायें प्रकटरूपसे नहीं हैं, शक्तिरूपसे हैं, उन्हींमेंसे व्यक्ति होती हैं। भविष्यकी पर्यायें अभी कोई पर्यायरूपमें नहीं हैं, किन्तु द्रव्यकी शक्तिरूपमें है । ७६९



केवली-भगवानकी दिव्य-ध्वनिमें सम्पूर्ण रहस्य एक साथ अनावृत होता है। उत्कृष्ट श्रोताके समझनेकी जितनी योग्यता हो उतना सम्पूर्ण विषय -भगवानकी वाणीमें एक साथ आता है। ७७०



ज्ञान है, ज्ञेय भी है, कोई किसीके कारणसे नहीं है । वर्तमानज्ञान, सामान्यज्ञानस्वभावकी ओर झुककर जाता है - उसमें "यह नहीं" - ऐसा भाव ज्ञानीको नहीं होता । ठीक-अठीक समझकर अटकना - यह ज्ञानीका कार्य नहीं है ।

प्रश्न :- राग नहीं चाहिए - ज्ञानीको ऐसा विचार होता है कि नहीं ?

उत्तर :- ज्ञानमें तो ज्ञेय है, उसको टालनेसे भावरूप-श्रद्धा नहीं होती। अस्थिरतासे विकल्प अवश्य उठते हैं, परंतु "है जो है" - ऐसे दृढ़ निश्चय-पूर्वक ही सब बात है ।

७७१



केवलज्ञानी समस्त स्व-परको जानते हैं । परको जाननेवाला ज्ञान भी, निश्चयसे स्वयंका ही है; परन्तु परको जानता है - ऐसा कहना सो व्यवहार है । इसका अर्थ ऐसा न समझना कि ज्ञान, परको जानता ही नहीं । ज्ञानका स्वभाव, निश्चयसे स्व-पर-

प्रकाशक है। स्व-पर-प्रकाशकता कोई व्यवहार-अपेक्षासे नहीं है। ७७२



आत्मस्वभावको लक्ष्यगत कर उसीमें एकाग्र होना ही ज्ञानकी महिमा है। अधूरे ज्ञानका ऐसा ही खण्ड-खण्डरूप स्वभाव है कि जितना क्षयोपशम-ज्ञान हो उतना पुराका पूरा उपयोगरूप कभी नहीं होता। केवलज्ञान परिपूर्ण है, उसमें लब्ध व उपयोगरूप भेद नहीं है। ७७३



प्रमाणज्ञान भी सम्यक्एकान्तकी अपेक्षा-सहित है, सो किस प्रकार ? - कि द्रव्य व पर्याय दोनोंको अनेकान्तसे जानकर, अभेद-वस्तुकी मुख्यताकी ओर ढलते हुए सम्यक्एकान्त करे, तभी प्रमाणज्ञान होता है, यानी कि अनेकान्त भी सम्यक् - एकान्तकी अपेक्षा रखता है। सम्यक्-एकान्त माने क्या ?- कि अभेद-ओर झुका तभी सम्यक्-एकान्त हुआ। द्रव्य-पर्याय दोनोंको जानकर सामान्यकी ओर ढलकर उसमें विशेषको अभेद करे तो प्रमाणज्ञान होता है। अभेदकी मुख्यता होनेपर भी उसमें समाहित-पर्यायका अस्तित्व तो अवश्य है; यानी अभेदकी मुख्यताकी अपेक्षासे तो सम्यक्-एकान्त है, तथा द्रव्यमें झुकी हुयी पर्याय भी है सो - उन द्रव्य-पर्याय दोनों की अपेक्षासे अनेकान्त भी है। ७७४



निश्चयनय तो ज्ञानका एक अंश है, वह तो पर्याय है, उस पर्यायके आश्रयसे कोई मुक्ति नहीं होती। परन्तु निश्चयनय तथा उसका विषयभूत जो त्रिकाल-अभेद-स्वभाव है उस अभेद-स्वभावके अनुभवमें नय व नय-विषयका भेद नहीं रहता। अतः अभेद-अपेक्षासे कहा गया है कि "निश्चय नयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करें निर्वाणकी"। अहो ! संतोकी वाणी ! अन्तरके प्रचुर-स्वसंवेदनमें से फूटी है। ज्ञानका अंश तो नय कहलाता है, परन्तु उस नयके विषयभूत-धर्मको भी नय कहनेमें भी रहस्य है। ७७५



नैतिकवान-कुल, धनसम्पन्नता, निरोगी-शरीर तथा दीर्घ-आयु - ये सभी पाकर भी, अंतरमें उत्तम-सरल स्वभावको पाना दुर्लभ है। परिणाममें तीव्र वक्रता हो, महा संक्लिष्ट परिणाम हो, क्रोध-मान-माया-लोभकी तीव्रता हो तो धर्मका विचार कैसे हो ? विषय-कषायका लंपटी हो, तथा सरल व मंद कषायरूप परिणाम न हो; उसे तो धर्म-पाने योग्य

पात्रता ही नहीं है - यानी कि मन्द-कषायके सरल परिणाम होना भी दुर्लभ है; धर्मकी बात तो बहुत दूर है। सरल परिणाम होना सो कोई धर्म नहीं है, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि सरल परिणाम होना भी दुर्लभ है तो फिर धर्मकी दुर्लभताकी तो क्या बात करें ?

बहुतसे जीवोंको सरल परिणाम होने पर भी सत्समागम मिलना दुर्लभ है। कोई-कोई लौकिक-जन भी मंद-कषाय वाले होते हैं; परन्तु वीतरागी, सर्वज्ञ-शासनके तत्त्वको समझानेवालेका सत्समागम मिलना अति दुर्लभ है। एकओर मंदकषाय तो करता है, परन्तु दूसरीओर कुदेव-कुगुरुके संगमें बहकर; विपरीत श्रद्धाका पोषण कर, मनुष्य-भव ही खो देता है। "वीतरागी देव-गुरुका समागम मिलना महादुर्लभ है"। धर्मका यथार्थ स्वरूप समझाने वाले "ज्ञानी पुरुषोंका समागम महा-भाग्यसे मिलता है"। सत् समझनेकी योग्यता हो तब ऐसी सत्वाणी सुननेको मिलती है और सत्समागम-पाकर भी अंतरमें सम्यग्दर्शन होना तो परमदुर्लभ है । ७७६



मनुष्यभवकी दुर्लभताका वर्णन किसलिए किया ? - कि धर्म समझने हेतु । जो धर्म न समझे तो मनुष्यभव लूट जाता है। अनन्त बार मनुष्यभव पाया परन्तु आत्माकी चाह न हुयी, जिससे पुनः पुनः संसारमें भटका। अतः आत्माकी समझ करलेना ही योग्य है। सत्-समागममें साधु-संत पुरुषोंसे चैतन्य स्वभावका मर्म सुनकर उसका निर्णय कर लेना चाहिए। अहो ! मनुष्यभवकी ऐसी दुर्लभता जानकर तो चैतन्य ही को ध्येय बना लेना योग्य है। जिसने चैतन्यको ध्येय न बनाकर केवल परको ही ध्येय बनाया है वह जीव स्व-विषयको चूक कर, पर-विषयोंमें रमता है; वह जीव कैसा है ? - कि राख पानेके लिए रत्नको ही जला देने वाला है। ७७७



धर्मीजीव, आत्माके ज्ञानानन्द स्वभाव-सन्मुखताकी रुचिपूर्वक बारह-भावनाओंका चिंतवन कर अन्तर-एकाग्रता बढ़ाता है, वह संवर है। अंतरदृष्टि-बिना ऐसी भावना यथार्थ नहीं होती। ये बारह-भावना ही धर्मी जीवके आनंदकी जननी है। ७७८



जीव, स्वाधीन है या पराधीन ? इसका उत्तर जाने बिना ही कई कहते हैं कि जीव कथंचित् स्वाधीन है व कथंचित् पराधीन - पर उत्तर ऐसा नहीं है। पर्याय-अपेक्षासे तो

जीव स्वयं पराश्रयरूप-पराधीनरूपसे परिणमित होता है; निज-द्रव्य-स्वभावका आश्रय चूक कर पराश्रित होता है, तब पर्यायमें पराधीन कहलाता है; अन्य कोई पराधीन नहीं करता। परद्रव्य-सन्मुख दृष्टि करे तो पराधीन व स्वद्रव्य-सन्मुखदृष्टि करे तो स्वाधीन - इस प्रकार प्रमाणज्ञान करना चाहिए । ७७९



"मुख्य तो निश्चय है," क्योंकि अध्यात्म-दृष्टिमें तो सर्वदा अभेदकी ही मुख्यता रहती है, और वही निश्चय है। अभेद ही मुख्य है और वही निश्चयका विषय है। भेद तो अध्यात्ममें सदा ही गौण रहता है। इसीलिए भेदको गौण कर, उसे व्यवहार कहा है। भेद, पर्याय अथवा विकल्प - ये स्वके अंश हैं; वे कोई परके कारणसे नहीं है, परन्तु उस अंशके आश्रयसे धर्म नहीं होता। अतः उसे गौण कर, व्यवहार बतलाया है तथा अभेदको मुख्य कर उसे निश्चय कहा है । ७८०



धर्मको तो अहिंसा स्वरूप जानो। पर जीवको न मारना कोई अहिंसा नहीं है; किसी भी जीवको मारनेका या बचानेका विकल्प ही न उठना सो, अहिंसा है। अरागी-स्वभावमें श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ही अहिंसा है । ७८१



सम्यग्दृष्टि भयसे, आशासे, स्नेहसे अथवा लोभसे-कुदेव, कुशास्त्र तथा कुलिंग-वेषधारीको प्रणाम अथवा उनका विनय नहीं करता है । ७८२



जीवका प्रयोजन सिद्ध करने हेतु अध्यात्म-दृष्टिमें अभेदको मुख्य कर उसे ही निश्चय कहा है व उसमें भेदका अभाव है। इसीलिए अभेद-दृष्टिमें भेदको गौण कर उसे व्यवहार कहा है; इस मुख्य, गौणके रहस्यमय भेदको सम्यग्दृष्टि ही जानता है। ७८३



अभेदकी मुख्यता की ऐसी कथन-पद्धति, "सनातन-जैन दिगम्बर-धर्म" के अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें नहीं है। ऐसा प्रतिपादन सर्वज्ञ-परम्पराके सिवाय अन्य स्थानमें है ही नहीं। दिगम्बर जैन-धर्म कहो - अथवा वीतरागताका मार्ग कहो - एकार्थ ही है। वीतरागता कैसे प्रकट हो ? - यह तो उसकी बात है । ७८४



द्रव्य-गुण-पर्यायमें अनेक धर्म हैं। जैसे द्रव्यमें अनेक स्वभावधर्म हैं, वैसे ही पर्यायमें भी अनेक स्वभाव-धर्म हैं। प्रत्येक समयकी पर्याय अपना अस्तित्व स्वयं ही अक्षुण्ण रखती है, इसमें परसे नास्तित्वरूप धर्म है। ऐसा न हो तो पर्यायका अस्तित्व ही न रह सके। सम्यग्दृष्टि, ऐसे द्रव्य-गुण व पर्याय-धर्मका विचार निजस्वभाव-सन्मुख रहकर करता है; उसमें जितना राग घटे वही धर्म है। ७८५



प्रश्न :- निमित्तकी प्रधानता न हो तो आप समयसार, प्रवचनसारादि ग्रन्थोंका वांचन क्यों करते हैं ? तथा पद्मपुराण, आदिपुराणका वांचन क्यों नहीं करते ? - यह क्या निमित्तकी प्रधानता नहीं है ?

उत्तर :- ज्ञान, शास्त्रके कारणसे नहीं होता; व शास्त्र, विकल्पके कारणसे नहीं हैं। शास्त्र तो शास्त्रके कारणसे है, विकल्पसे नहीं। विकल्प, विकल्पसे है, शास्त्रसे नहीं। तथा ज्ञान, ज्ञानसे है, शास्त्रके कारण नहीं। ज्ञानकी पर्याय प्रकट होनी थी, अतः समयसार मिला - ऐसा नहीं है। और समयसार मिला इसलिए ज्ञान-पर्याय प्रकट हुयी - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान, ज्ञानके कारणसे है, इच्छा व शास्त्रके कारणसे नहीं - ऐसा अनेकान्त-स्वरूप है। यब बात जीवोंने सुनी ही नहीं, अतः एकान्त लगती है; परन्तु यही सच्चा अनेकांत है और वीतरागताका कारण है। ७८६



अध्यात्म-कथनमें मुख्यको तो निश्चय कहा है तथा गौणको व्यवहार बतलाया है। मुख्यको निश्चय कहनेमें तो सिद्धांत है। निश्चयको मुख्य नहीं कहा है, क्योंकि अध्यात्ममें निश्चयनयका विषय ही मुख्य रहता है; इस कारणसे मुख्यको निश्चय व निश्चयको मुख्य कहनेमें बड़ा अन्तर है। गौणको व्यवहार कहा गया है। अध्यात्ममें व्यवहार कभी मुख्य नहीं होता। एक आत्मामें ही निश्चय व व्यवहार दोनों साथ हैं, उसमें आत्मा तो अखण्ड-ध्रुव-एकरूप है - उसकी मुख्यता सो ही निश्चय है। क्योंकि द्रव्यस्वभावके आश्रयसे ही धर्म प्रकट होता है, स्थिर रहता है, व विकसित होता है- वह प्रयोजन द्रव्यसे ही सधता है; इसीलिए अध्यात्ममें मुख्यको निश्चय कहा है। व्यवहार अथवा निमित्तसे धर्म-पर्याय न तो प्रगट होती है, न टिकती है और न ही विकसित होती है; इस कारणसे अध्यात्ममें व्यवहारकी मुख्यता कभी नहीं होती। अध्यात्ममें आत्माके आश्रयसे ही साधकता है,

व्यवहारसे नहीं - अतः उसमें कभी भी व्यवहारकी मुख्यता नहीं होती, वरन् गौणता ही रहती है; निश्चयकी गौणता कभी नहीं होती, क्योंकि प्रयोजन तो अखण्ड-द्रव्यके आश्रयसे शुद्धपर्याय प्रकट करना है। इस कारणसे "मुख्य सो निश्चय" व "गौण सो व्यवहार" है।

७८७



दिव्यध्वनिके समय सामने धर्म-समझनेवाले जीव होते ही हैं। भगवानकी दिव्यध्वनिमें ऐसे न्याय निकलते हैं कि समझनेवालेको अपनेमें धर्मवृद्धिका निमित्त होती है। धर्मवृद्धिके विकल्पसे वाणीके परमाणु-बंधते हैं, वह वाणी सामनेवाले जीवोंको भी धर्म-वृद्धिका ही निमित्त होती है। समयगदर्शनसे च्यूत होकर गिरने पर भी अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल पर्यन्त ही संसारमें रुलते हैं; जगतमें अभव्यजीव भी हैं - इत्यादि सभी बातें दिव्यध्वनिमें आती हैं। परन्तु सुननेवालोंको तो वह वाणी धर्म-वृद्धि व पुरुषार्थ होनेमें ही निमित्त है। वाणी तो धर्मकी उत्पत्ति व वृद्धिमें ही निमित्त है। भगवानकी वाणी सुनकर तो बारह सभाओंके पात्रजीव स्वभाव-सन्मुख झुकते हैं। उस वाणीमें कहीं भी पुरुषार्थ-हीनताका आशय नहीं निकलता, वह ऐसी निमित्तभूत नहीं होती। ७८८



सर्वज्ञदेवने एक समयमें तीनकाल व तीनलोक जाने हैं व मेरा भी जाननेका ही स्वभाव है। "जो होनी है" वह बदल नहीं सकती, पर "जो होना है" उसका "मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ"। मैं परकी पर्यायको तो बदलनेवाला नहीं, परन्तु अपनी पर्यायको भी बदलनेवाला नहीं। धर्मीका, निजस्वभाव-सन्मुख रहते हुए, ऐसा निश्चय होता है - जो नहीं होना है, वैसा कभी नहीं होनेवाला है; "मैं कहीं भी फेर-बदल करनेवाला नहीं हूँ"।

७८९



अहो ! दिगम्बर संतोका कोई भी ग्रंथ लो, वह आत्माको चैतन्य-स्वभावमें स्तंभित कर देता है। ७९०



अहो ! सम्यग्दर्शन महारत्न है। शुद्ध आत्माकी निर्विकल्प-प्रतीति ही सर्व रत्नोंमें महारत्न है। लौकिक-रत्न तो जड़ हैं। परन्तु देहसे भिन्न केवल शुद्धचैतन्यका भान

होकर - सम्यग्दर्शन प्रकट हो, वही महारत्न है। ७९१



स्वर्गमें रत्नोंके ढेर मिलें, तो उससे जीवका कुछ भी कल्याण नहीं है। सम्यग्दर्शनरत्न अपुर्व-कल्याणकारी है। सम्यग्दर्शन सर्व कल्याणका मूल है। उस सम्यग्दर्शन-बिना जो कुछ भी करो, वह राख पर लेपके समान है। सम्यग्दृष्टि-जीव लक्ष्मी, पुत्र आदिके लिए किसी शीतला आदिको नहीं मानता है। लोकमें मन्त्र-तन्त्र-औषध आदि हैं, वे तो पुण्य होनेसे ही फलित होते हैं; परन्तु यह सम्यग्दर्शनरत्न, सर्व रत्नोंमें ऐसा श्रेष्ठ रत्न है कि देवगण भी उसकी महिमा करते हैं। ७९२



यह तो वीतराग-मार्ग है - उसमें तो सत्यको ही सत्य जानना चाहिए; आडा-टेडा मानना स्वीकृत नहीं है। आंखमें तो कदाचित् रजकण समा भी जाए, परन्तु वीतराग-मार्गमें तनिक भी आगे-पीछे होना नहीं चलता। जैसा वस्तु-स्वरूप, उसे वैसा ही जानकर प्रतीति करे तो ही सम्यग्दर्शन है; और वह सम्यग्दर्शन जगतमें श्रेष्ठ है। ७९३



जो अन्तर-शुद्धस्वभाव-पर दृष्टि पड़ी है वह न तो भवको बिगड़ने देती है और न भवको बढ़ने देती है। ज्ञानस्वभावके अनादरसे जो कर्म बन्धे हैं, सम्यग्दृष्टि उन कर्मोंका ज्ञानस्वभावकी भावना-द्वारा नाश कर डालता है। सम्यग्दृष्टिको भले ही (पूर्वमें) अज्ञानदशामें किसी नरकादिका आयुबन्ध हो गया हो; परन्तु सम्यग्दर्शन-सहित जीवको तो नरकादिका आयुबन्ध होता ही नहीं है। सम्यग्दर्शनकी ऐसी महिमा है। ७९४



ज्ञानीकी दृष्टि तो संसारसे छूटने की है। अतः वह रागरहित-निवृत्त स्वभावकी मुख्य-भावना व आदरमें सावधानीसे प्रवृत्त रहता है। फिर भी यह यदि किसी अतिचारमें रक्त हो गया हो तो भी उससे छूटकर, शांत ज्ञान-स्वभावमें ही स्थिर होना चाहता है। परन्तु जो ऐसा मानता है कि संयोग पलटा दूँ, तथा क्रोधादि करने योग्य हैं - उसके तो श्रद्धामें ही स्थूल-विपरीतता है। ज्ञानीके तो वीतराग-दृष्टि ही मुख्य है; उसमें तो वह तनिक भी क्षति नहीं होने देता। हाँ, यदि चारित्रमें निर्बलताके कारण अतिचार हो जाए तो निन्दा कर, खेदको प्राप्त होता है; बुद्धिपूर्वक बचाव नहीं करता कि ऐसा दोष

गृहस्थदशामें हो तो कोई हानि नहीं - जो ऐसा करे वह तो स्वच्छंदी, मिथ्यादृष्टि है ।

७९५



"अशरीरी-सिद्धकी ही जातिका मैं हूँ" - उस एक का ही आदर करनेकी मेरी दृढ़ टेक है; अतः स्वपनमें भी पुण्य-पाप-संसारकी बातोंका आदर नहीं करता। जो सिद्ध, चिदानंद पूर्ण हुए हैं, उनके कुलका मैं भी उत्तराधिकारी हूँ। चार-गतिमें घूमनेका राग कलंक है। अतीन्द्रिय-सिद्ध-परमात्मदशाकी महिमा द्वारा सर्व कलंक दूर कर, वीतरागी होनेवाला हूँ - इस प्रकार धर्मी, गृहस्थदशामें प्रतिज्ञा कर दृढ़ व्रती होता है। ७९६



राग तोड़कर पुरुषार्थकी शक्ति तथा एकाग्रताके जोर - अनुरूप ही ज्ञानी प्रतिज्ञा लेता है। हठ करके देखादेखीसे, आवेशमें आकर प्रतिज्ञा नहीं करता; परन्तु सहजज्ञानमें समता द्वारा बाह्य-आलंबनरूप राग घटानेका नित्य प्रयोग करता है। ७९७



जिनप्रतिमा कैसी होती है ? - अक्रियबिंब, परम-प्रसन्नतासे दीप्त, शान्त, वीतरागमूर्ति, निर्लेप, निर्विकार-मुद्रा होती है। आत्माका वास्तविक मूल, शान्त, निष्क्रिय-स्वरूप देखने हेतु वह आदर्शभूत है। जिसने वीतरागताके स्वरूपको ध्यानका कारण समझा है, उसके लिए वह पूर्णस्वरूपके स्मरणका कारण है। ७९८



तत्त्वज्ञानका मूल सर्वज्ञ है। सर्वज्ञदेवने जिस साधनसे तत्त्वज्ञान-साधा व वाणीमें जो साधन बतलाया - उसे पहचाने; उस अनुरूप देव-गुरु-शास्त्रको पहचाने - उसे ही यथार्थ तत्त्वकी भावना होती है; अन्यको नहीं। ७९९

बहुत दुःख सहन करें तो निर्जरा हो; ऐसा माननेवाले धर्मको दुःखदायक मानते हैं। दुःखरूप माननेसे असाताकर्मका बंध होता है। धर्ममें तो इच्छा टूटकर निरन्तर अतीन्द्रिय-शान्तिका लाभ है। ८००



यह सत्धर्म निर्विकल्प है, इसमें शुभरागकी भी मुख्यता नहीं है, वीतरागता वर्तती है,



ज्ञानमें सत्का न्याय वर्तता है। भाषा, धर्म नहीं है; परन्तु ज्ञानमें वर्तित विवेक ही सत्-धर्म है। ८०१



चारित्रके प्रयोजनसे किए जानेवाले उद्यम व उपयोगको तप कहा गया है। आत्मामें पुरुषार्थ-पूर्वक निज-उपयोगको तन्मय करना सो ही चारित्र अथवा तप है। जो वीतरागदशा प्रकट करे सो तप है। उस समय कायक्लेश होता है, परन्तु मुनि तो उससे आत्मामें होनेवाली विभाव-परिणतिके संस्कारको मिटानेका उद्यम करते हैं। यानी काय-क्लेशमें शरीर कृश हो अथवा अंगोपांग चूर हो जाएँ; परन्तु मुनिजन तो ऐसा उद्यम करते हैं कि उनके निमित्तसे होनेवाली विभाव-परिणति बाधारूप अथवा द्वेषका विषय न हो, बल्कि वे तो स्वभावमें लीनताका प्रयास करते हैं तथा निज शुद्ध-स्वरूप-उपयोगको चारित्रमें स्थिर करते हैं, वे बहुत उग्रतासे स्तंभित होते हैं ऐसी उग्रता ही तप है - वह बाह्य-अभ्यन्तर भेदसे बारह प्रकारका है। ८०२



जिसमें पाँच रुपये देनेकी भी शक्ति नहीं है, वह यदि कहे कि मैं कल एक लाख रुपया दूँगा, तो उसकी बात ही मिथ्या है। वैसे ही सुदेव-गुरु-शास्त्रकी तो खबर ही नहीं है, और आत्माकी बात करें, तो वह गलत है। जिसे तत्त्व व अतत्त्वका ही पता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञके शासनके अतिरिक्त अखंड-आत्माकी ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं होती। ८०३



मुनिकी वीतराग-दशा बहुत विकसित हुयी होती है; परन्तु फिर भी अपूर्णता होनेसे रागके कारण शुभ-भाव होते हैं। अतः ऐसा कहा जाता है कि धर्मके कारण पुण्य-उपार्जन होता है, पर धर्मीको केवल पुण्य-उपार्जन हेतु धर्मसेवन नहीं होता। वास्तवमें धर्म तो गुणका उपार्जन है; परन्तु शुभाशुभ-भाव आए बिना नहीं रहते, अतः व्यवहारसे कहा जाता है कि धर्मी पुण्य-उपार्जन करता है। परन्तु पुण्यकी वांछा रखने पर तो उसका सम्यक्त्व ही नहीं टिक सकता। ८०४



जब निज आत्माको शुद्धस्वरूप जाने, राग-द्वेषादिको दुःखरूप जाने उन भावोंसे

अपना घात समझे; तब कषायभावोंके अभावसे अपनी दया माने तथा अन्यको दुःख हो वैसे भाव न होने दे- सो परकी दया है। इस प्रकार अहिंसाको धर्म जाने, हिंसाको अधर्म माने व ऐसा श्रद्धान होना ही सम्यक्त्व है । ८०५



प्रश्न :- (मुनि) मूर्छा-बिना वस्त्र रखे तो क्या क्षति है ?

समाधान :- मुनिकी छट्टी (गुणस्थान) भूमिका अरागी-अहिंसा है; उन्हें शरीरके अतिरिक्त कीसी भी संयोगोके प्रति मूर्छा नहीं होती । केवल - ज्ञान-प्राप्त करनेकी योग्यता वाले मुनि, जो पलमें सातवीं व पलमें छट्टी भूमिकामें झुलते हैं-आनन्दमें झुलते हैं, उनको वस्त्र रखनेके रागवाली दशा नहीं होती। रागवाली दशाको चारित्र मानना, हिंसा है । ८०६



उदारता तो सत्य व असत्यका विवेक करना है। अविवेको उदारता मानना तो मिथ्यादृष्टिकी भूल है। व्यवहारसे धर्म नहीं होता और निश्चय से ही धर्म होता है - ऐसा भगवानका मार्ग है। इस अनेकान्तमार्गमें शंका करनेको यहाँ हिंसा बतलाया है। आत्मा अकषाय-स्वरूप है, उसमें जो निःशंक है उसे ही अहिंसा धर्म है । ८०७



मुनिराज कभी ऐसी इच्छा नहीं करते कि जगतमें उनका माहात्म्य व मान बढ़े। मुनिको तो चार-गतियोंके भवमें वैराग्य भाव वर्तता है, वे तो देव-गतिकी भी इच्छा नहीं करते। उनका बाह्य-तप ऐसा है कि पाँच इन्द्रियोंके भोगसे भी मन टूट गया है; इस समय मुनिराजको अंतरंग-तप भी होता है, अंतरात्मामें आत्माका ही प्रेम होता है। जैसे किसीका २९ वर्षका पुत्र मर गया हो तो उसके मोहवश कलेजेमें घाव लगते हैं, उसीके खयालमें जगतके अन्य पदार्थोंका प्रेम विस्मृत हो जाता है; वैसे मुनिराजको आत्माका प्रेम वर्तता है, अतः परका प्रेम नहीं रहता । ८०८



मुनिजनोंकी अनुपस्थितिमें उनकी भक्ति करनी । जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशाको प्राप्त हों व बाह्यमें नग्न-दिगंबरदशा हो उन्हें मुनि कहते हैं । वर्तमानमें ऐसे मुनि नहीं दिखते; अतः उनकी परोक्ष भक्ति करनी चाहिए। कुंदकुंदाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पूज्यपाद

स्वामी, समन्तभद्राचार्य आदि महान आचार्योंकी - जिन्होंने सर्वज्ञदेवकी वाणी-अनुसार शास्त्रोंकी रचना कर धर्मको टिकाया है तथा जो धर्मके स्तंभ हैं; भक्ति-प्रशंसा-बहुमान करना व उनका उपकार गाना चाहिए। ८०९



भोजन न करना - यह कोई तपकी व्याख्या नहीं है। परन्तु आत्मा स्वतंत्र-ज्ञानानन्द-चैतन्यमूर्ति है; एसा निर्णय हुए पश्चात्, अंतरमें एकाग्र होने पर जो उज्ज्वलताके परिणाम होते हैं- उन्हें भगवान तप कहते हैं व उस समय होनेवाले विकल्प व्यवहार-तप कहलाते हैं। आत्मलीनतामें विशेष उग्रता हो वह धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूपी तप है। ८१०

संसार तथा मोक्ष दोनों ध्यानसे ही होते हैं। विकारकी व परकी एकाग्रतासे संसार है, तथा आत्मा चिदानन्द है - ऐसी श्रद्धा-ज्ञान व रमणतारूपी एकाग्रतासे मोक्ष होता है। चिदानन्दकी एकाग्रता ही मोक्षमार्ग है व उसका फल सो मोक्ष है। संसारका ध्यान परलक्ष्यी है तथा मोक्षका ध्यान स्वलक्ष्यी है। हिंसादिमें आनन्द मानना रौद्रध्यान है तथा झूठ-वियोग व अनिष्ट-संयोगमें परलक्ष्यी चिंतन होना सो आर्त्तध्यान है। ८११



जगतमें जितने भी उपद्रवके कारण होते हैं वे सब रौद्रध्यानयुक्त पुरुषसे ही बनते हैं। जो पाप कर, उल्टा हर्ष करते हैं - सुख मानते हैं उनके धर्मोपदेश निष्फलित ही होता है। वे तो मूर्च्छित-समान अति प्रमादि होकर पापमें ही मस्त रहते हैं। ८१२



धर्मकी व्याख्या - "वस्तुका स्वभाव सो धर्म है" स्वभाव तो त्रिकाल है व धर्म तो क्षणिक पर्याय है; फिर भी यहाँ तो त्रिकाल-स्वभावका निर्णय कर उसमें लीन होकर अभेदता होती है; अतः स्वभावको भी धर्म बतलाया है। समस्त आत्माओंका त्रिकाल-स्वभाव तो है किन्तु वस्तु-स्वभावको धर्म कैसे कहा ? - कि पर-ओरका लक्ष्य छोड़कर, स्वभावके आश्रयसे धर्म होता है - ऐसे भानपूर्वक ही वस्तुस्वभावमें धर्मकी पर्याय अभेद होती है, अतः उसे धर्म कहा है। बाह्य-क्रियामें तो धर्म नहीं परन्तु दया-दान-भक्ति-पूजाके शुभभावमें भी धर्म नहीं है। सम्पूर्ण जगतमें ज्ञाता-द्रष्टारूप रहना ही आत्माका धर्म

है-ऐसा निर्णय हुआ, - वही धर्म है। अभेदकी अपेक्षासे त्रिकाली-स्वभावको धर्म कहा है। पर्यायमें धर्म होता है - उस धर्मकी बात नहीं है, क्योंकि वह तो भेद-विवक्षामें समाहित हो जाता है। जैसे मीठेकी मिठास, नमकका क्षारत्व, अफिमकी कड़वाहट व नीबूका खट्टापन उन-उन पदार्थोंका स्वभाव है; वैसे ही ज्ञान-दर्शन आत्माका स्वभाव है। ८१३



वैराग्य-बिना धर्ममें चित्त स्थिर नहीं होता। आत्माको स्वकी अपेक्षा हुयी तो परकी उपेक्षा हुए बिना नहीं रहती - वह वैराग्य है, व ऐसे परकी अपेक्षा करने वालेको अंतरमें स्थिरता होती है। धर्मध्यानवाला जीव, विकारमें एकाग्र नहीं होता; वरन् अन्तरमें जो निज-ज्ञानमात्र-एकरूप-स्वभाव है उसे लक्ष्यमें लेता है। आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान वाला (अज्ञानी) विकार व परको ही लक्ष्यमें लेता है, अतः उसे धर्मध्यान नहीं होता। ८१४



लोकमें कुछ भी खरीदने जाए तो उसकी भी पुरी परीक्षा करते हैं; तो धर्म जो अपूर्व-तत्त्व है उसकी परीक्षा न करनेसे नहीं चलता। परीक्षा किए बिना, ऐसे-ऐसे ही धर्म हो जाए - ऐसा नहीं है। अतः जिसे कल्याण करना है उसे प्रथम (धर्म व धर्म बतलाने वाले) पुरुषको निश्चत करना पड़ेगा। ८१५



कोई कहते हैं कि अपनेको परीक्षा करनेका क्या प्रयोजन है ? जो हो उन्हें मान लो। परन्तु इस प्रकार ऐसा माननेसे नहीं चलता। धर्म अपूर्व-तत्त्व है, धर्मकी पर्याय कैसी होती है ? उसमें कैसे निमित्त होते हैं ? - ये प्रथम ही जानना चाहिए। जो राग, पुण्य व निमित्तके आश्रयसे धर्म होना बतलाते हैं - ऐसे कुदेवादिके निमित्तसे राग-द्वेष रहित नहीं हो सकते। परन्तु वीतरागी-सर्वज्ञ पुरुष रागादिसे रहित आत्मा हैं - ऐसा कहा गया है, उन सच्चे देवादिके निमित्त ही से रागदि-रहित हुआ जाता है। ८१६



जिन्हें ध्यानरूपी-तपकी खबर नहीं है, वे तो बाह्यमें तपस्या कर धर्म-प्राप्ति मानते हैं व शोभा-यात्रा निकालते हैं। पर अभी तो जिनके कुदेवादिकी श्रद्धा ही नहीं छूटी, उनको धर्म-ध्यान नहीं हो सकता; वे तो गृहितमिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे जीवोंको यह बात ही नहीं जचती कि आत्मा पुण्य-पाप रहित है, और आत्माकी जो धर्मक्रिया है सो उनके

लक्ष्यमें ही नहीं आती । वे तो जड़की, शरीरकी क्रियांमें धर्म मानकर अधर्म का ही सेवन करते हैं । ८१७



निजस्वभावरूपी-साधन द्वारा ही परमात्मा हुआ जाता है । गृहस्थाश्रममें परमात्मदशा प्राप्त नहीं होती । ज्ञानानंदके साधन द्वारा दिव्यशक्ति प्रकट करो । जिनकी दशा जीवन-मुक्त हुयी है वे अर्हंतदेव हैं; (इनके) निमित्तरूपसे रहे हुए चार घातिया-कर्माका अभाव हो चुका है व अंतर-समाहित निज-अनन्तशक्ति प्रकट हुयी है, वे तीनकाल व तीनलोकको एक समयमें प्रत्यक्ष जानते हैं । ८१८



कितने ही जीव जैन-समप्रदायमें जन्म लेकर भी यह विचार तक भी नहीं करते कि सर्वज्ञ देव कैसे होते हैं ? अर्हंतका स्वरूप-निर्णित करें तो प्रतीत हो कि "आत्मा भी चिदानन्द प्रभु है," पुण्य-पापादि पर्यायमें हैं व उनका नाश होने पर स्वयं सर्वज्ञ हो सकता है । ऐसा निर्णय हुए बिना नहीं रहता व जिसे ऐसा निर्णय हुआ है उसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहती । अतः अर्हंतको नमस्कार करने वालेको यह प्रथम ही जानना चाहिए कि उनका ज्ञान कैसा होता है । ८१९



साधने योग्य निज-शुद्धस्वरूपको दर्शित करनेके अर्थ, सिद्धपरमेष्ठी प्रतिबिंब समान हैं । अपना तो चिदानन्द-ज्ञायक-स्वरूप है - वही साधने योग्य है; व उसके लिए सिद्ध-परमात्मा निमित्त हैं, वे सिद्ध कृतकृत्य हैं । जैसे मक्खनका घी होता है पर पुनः घी का मक्खन नहीं होता; वैसे ही सिद्ध-प्रभुमें अब कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है, यानी कि वे अब संसारमे आने वाले नहीं हैं, अनन्तकाल पर्यन्त सिद्धरूप से ही रहने वाले हैं । ८२०



कोई शास्त्र, कोई भी गाथा अथवा शब्द या किसी भी अनुयोगकी बात करो - उन सभीका तात्पर्य वीतरागता है । "द्रव्य है" - ऐसा कहनेमें यह गर्भित है कि वह परसे भिन्न है; अतः परके कारणसे नहीं है, परके आश्रित नहीं है । ऐसा निर्णय होने पर "पर" की रुचि टूट कर वीरागता हुए बिना नहीं रहती । ८२१



मुनिधर्म, शुद्धोपयोगरूप है। पुण्य-पापरूप शुभाशुभभाव धर्म नहीं है, परन्तु शुद्धोपयोग ही धर्म है - ऐसा निर्णय तो पहले ही हो चुका होता है। सम्यग्दर्शन-सहित अंतरमें लीनता वर्तती हो, वही मुनिधर्म है। ८२२



मुनिराज बाईस परीषहको सहन करते हैं। जो हठसे परीषहको सहन करते हैं उन्हें धर्म तो नहीं है, पर शुभभाव भी नहीं है। उनके तो केवल अशुभभाव होता है। जिन्हें आत्माके भानपूर्वक शुद्धोपयोग हुआ है उन्हें परीषहके कालमें उस-ओरका विकल्प भी नहीं उठता- यही परीषह -जय कहलाता है। ८२३



आचार्य व उपाध्याय - इन दो पदवी-धारकोंके अलावा भी अन्य समस्त जो मुनिपदके धारक हैं वे मुनि हैं और आत्मस्वभावको साधते हैं। साधु शब्द द्वारा निज-स्वरूपकी साधनाकी बात ही मुख्यतासे की है। आत्माके भानपूर्वक निज-स्वभावको साधते हैं व आत्मामें लीन होते हैं - ऐसे मुनि, पुरुष ही होते हैं। स्त्रीको तीनकालमें भी मुनिपना नहीं होता। जिनकी बाह्य-अभयंतर निर्गथ-दशा होती है वे ही मुनि हैं। जो स्त्रीके साधु-पद मानते हैं उनका तो नमस्कार-मंत्र भी सच्चा नहीं है। अठाइस मूल-गुण पालन, नग्न-दशा, परिषह-जय आदि जैन-मुनियोंकी यह दशा होती है। परीषह-जयमें स्त्रीको भी परीषह-रूप लिया है, अतः पुरुष ही मुनि होते हैं। ८२४



अर्हतादिका स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय होता है। इसी कारणसे अर्हतादि स्तुति-योग्य महान हुए हैं। पंच-परमेष्ठीका मूल स्वरूप तो वीतराग व विज्ञानमय है। अंतर-शुद्धता हुयी तथा वह उसका ज्ञान ही परम इष्ट है, क्योंकि जीव-तत्त्वकी अपेक्षासे तो सर्व जीव समान हैं। शक्तिसे तो सभी आत्मायें शुद्ध हैं। परन्तु रागादि-विकार अथवा ज्ञानकी हीनताकी अपेक्षासे जीव निन्दा योग्य है। राग-पुण्य-व्यवहाररत्नत्रय द्वारा पंच-पद नहीं पाते क्योंकि ये भाव तो अभीकी भी होते हैं। इसलिए केवल व्यवहार में ही रहने वाले जीव पंचपद प्राप्त नहीं कर पाते; - तो फिर जिनके व्यवहार का भी ठिकाना न होवे तो पंचपदमें हो ही कैसे सकते हैं। ८२५



यहाँ मध्यलोकमें कृत्रिम-जिनबिंबकी बात बतलायी है; यानी धर्मात्माओंका नई प्रतिमाएँ बनवाकर उनकी स्थापना करना अनादि नियम है, यह निश्चय होता है। और जो शाश्वत-प्रतिमाएँ हैं वे किसीकी बनायी हुयी नहीं है। जो जीव स्वयं भेदज्ञान करता है, उसे प्रतिमाजी निमित्त होती है अर्थात् उसके दर्शन-स्तुति करनेसे भेदज्ञान होता है। प्रतिमाजी एक दिव्यध्वनिके अतिरिक्त, साक्षात् भगवान-समान ही है। जो स्वयं धर्म-प्राप्त करते हैं उन्हें प्रतिमाजी निमित्त होती है। इस प्रकार यहाँ प्रतिमाजीको स्व-पर भेद-विज्ञानमें निमित्त बतलाया है। जो जीव प्रतिमाजीको मानते ही नहीं उन्हें कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादिमें वस्त्रादि-रहित वीतराग-प्रतिमाजीका ही निमित्त होता है, व उनका अभिषेक भी स्वच्छ जलसे ही होता है, अन्य प्रकार नहीं। ८२६



अपने ज्ञानमें विवेक प्रकट हुआ होनेसे अर्हतादिको स्मरण-पूर्वक नमस्कार करते हैं, वे ही प्रिय और अपने हैं। जैसे विवाह-प्रसंगमें स्नेही सम्बन्धियोंको निमंत्रण देते हैं; वैसे ही धर्मार्थ हेतु इष्ट ऐसे सिद्धों, अर्हतों, जिनबिंबो आदिको स्मरण कर नमस्कार करते हैं; उनके उपकार नहीं भूले जाते। कितने ही जीव सनातन दिगम्बर-परम्पराके शास्त्र-वांचन करके भी कुदेवादिके नामसे प्ररुपणा करते हैं, अतः वे अनन्त संसारी हैं। जिन्हें सच्चे निमित्त के प्रति ही बहुमान नहीं आता, उन्हें आत्माका बहुमान तो आ ही नहीं सकता। निमित्तका विवेक तो वास्तवमें आत्माका विवेक है। जिन्हें स्वरूपदृष्टि हुई है, उन्हें निमित्तके प्रति विनय हुए बिना नहीं रहता। जो लोग निश्चयके नामसे भूले हुए हैं तथा व्यवहारको भी नहीं समझते वे निश्चय-व्यवहार दोनोंको ही भूले हैं। ८२७



आत्मा अनादि-कालका है। इसमें भी इस मनुष्यभवमें पाँच-पचीस वर्षमें मिली स्त्री-कुटुम्ब आदि अनुकूल-प्रतिकूल सामग्रीसे ही सुख-दुःखकी कल्पना कर बैठते हैं, इसीमें सर्वस्व मान लिया है। त्रिकाली-ध्रुवको भूलकर, अपनेको वर्तमान जितना ही मानकर कल्पना करता है सो आत्महितका कारण नहीं है। सामग्री कोई सुख-दुःख अथवा हित-अहितका कारण नहीं है; पर अपनी कल्पना ही अहितका कारण है तथा वीतराग-विज्ञान हितका कारण है। ८२८



पैसे कमानेके भाव तो केवल पाप-परिणाम हैं, इनके कारणसे बाह्य-अनुकूलता नहीं मिलती; उनका अन्य कोई ईश्वरादि कर्ता नहीं है, पूर्व कर्म तो मात्र निमित्त है। सचमें तो ये निमित्त भी सहज ही मिल जाते हैं। अतः जिनके पापका उदय होता है उन्हें अन्य कोई सहायता नहीं करता व पुण्यका उदय होने पर कोई विघ्न नहीं डालता। ८२९



यथार्थ श्रुत किसे कहे ? - यह अच्छी तरह जानना चाहिए। जिस रूपसे पदार्थ है उसे तद्रूप प्रकाशित करे सो ही श्रुत है यह श्रुत भी अनादिका है, उसे किसीने नया नहीं स्थापित किया है। पूर्वमें कोई पुरुष न था व कोई नये सर्वज्ञ हुए और श्रुत भी नया प्ररूपित हुआ - ऐसा नहीं है। ८३०



अपनी चमड़ी उतारकर (गुरु-हेतु) जूते बनाएँ तो भी उपकारसे ऋणी न हो सके - ऐसा गुरु आदिका उपकार होता है। इसके बजाय जो उनके उपकारका गोपन करता है वह तो अनन्त संसारी है। किससे सुनें-समझें ? - इसका ही जिन्हें विवेक नहीं है वे तो आत्माको समझनेके योग्य ही नहीं - पात्र ही नहीं हैं। जिनके लौकिक-न्याय-नीतिका भी ठिकाना नहीं है - ऐसे जीव शास्त्र-वांचन करे, और जो उन्हें सुनने आएँ तो वे सुनने वाले भी पात्र नहीं हैं। ८३१



जो प्ररूपणामें भी वीतरागकी परम्परा तोड़ते हैं और विरोधकी पुष्टि करते हैं वे मिथ्यात्वकी परम्परा ही प्रसारित करते हैं। जो मिथ्यादृष्टिकी वंदना करते हैं - वे भी मिथ्यादृष्टि हैं।

असत्य रचनारूप महाविपरीत कार्य तो क्रोध-मान-माया-लोभकी अत्यंत तीव्रता होने पर ही होता है। ८३२



वीतरागता बढ़े और कषाय घटे - ऐसा जिसका प्रयोजन हो वही जैन-शास्त्र है। जिसको इस बातकी परीक्षा करना भी नहीं आता उसे धर्म हो जाए - यह नहीं हो सकता।





मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। अतः जिन शास्त्रोंमें किसी भी प्रकारसे राग-द्वेष मोहभावोंका निषेध कर, वीतराग-भाव प्राप्तिका प्रयोजन प्रकट किया हो वे शास्त्र ही पढ़ने व सुनने योग्य हैं। अभी तो जिनको यही खबर नहीं है कि कौनसे शास्त्र पढ़ने-सुनने चाहिए ? - वे कब संसारके दुःखोंसे छूट सकेंगे ? उनके दुःखका अभाव नहीं होता । अतः प्रथम यह निर्णय करना कि कौन से शास्त्र सच्चे हैं । ८३४



जिन शास्त्रोंमें श्रृंगार-भोग कौतुहलादिके पोषण द्वारा राग-भावकी, हिंसा-युद्धादिके अनुमोदन द्वारा द्वेष-भावकी, अथवा अतत्त्व-श्रद्धानके पोषण द्वारा मोह-भावकी पुष्टि की हो वे शास्त्र नहीं; शस्त्र हैं - अतः ऐसे शास्त्रोंको नहीं पढ़ना-सुनना चाहिए । ८३५



जीव, कर्मके उदयसे दुःखी नहीं है बल्कि अपने राग-द्वेष-मोहके कारणसे दुःखी होता है। उस दुःखका नाश करनेका एक मात्र उपाय तो वीतराग-भाव है। जो शास्त्र ऐसा बोध-उपदेश नहीं देते वे राग-द्वेष-मोहके पोषक होनेसे आत्माके घातमें निमित्त होते हैं - यानी आत्माका पर्यायमे घात होता है। अतः ऐसे शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य नहीं हैं ।

८३६



संसारका लेखा-जोखा कैसे रखना चाहिए व उन्हें कैसे समझना चाहिए ? - इसमें बुद्धिमानी-पूर्वक प्रवृत्ति करे परन्तु यहाँ आत्म-कल्याण हेतु कौनसे शास्त्र पढ़ने चाहिए, उसकी परीक्षा न करे तो उसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता। आत्मलाभके लिए तो वे ही शास्त्र पढ़ने-सुनने चाहिए जो वीतराग-भावका पोषण करें । ८३७



वक्ताको शास्त्र-वांचन कर आजीविकादि-लौकिककार्य साधनेकी इच्छा नहीं होनी चाहिए; क्योंकि (कोई भी लौकिक) आशा होने पर यथार्थ उपदेश देना नहीं होता। ऐसे वक्ताका तो किसी न किसी प्रकार श्रोताकी मान्यतानुसार व्याख्यान कर निज (लौकिक) प्रयोजन साधनेका ही अभिप्राय रहता है। अतः लोभी वक्ता यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता। ८३८



वक्ता तो ऐसा होना चाहिए कि जिसमें अनीतिरूप-लोकनिघ्न कार्योकी प्रवृत्ति न हो । क्योंकि लोकनिघ्न कार्य-प्रवृत्ति द्वारा तो वह हास्यका पात्र हो जानेसे, उसके वचनोंको प्रमाणिक कौन समझे ? उल्टा, जैनधर्म ही लज्जास्पद बनता है। ८३९



हर किसीसे धर्म-श्रवण करना - यह कोई पात्रता नहीं है। हर किसीसे धर्म-श्रवण करनेमें तो वक्ताकी अपेक्षा श्रोताकी पात्रता हीन है - इस प्रकार अपनी ही हीन योग्यता व्यक्त होती है। वक्ता कैसा है ? उसके प्रमाणानुसार ही श्रोताकी योग्यता/स्तर सिद्ध होता है। क्योंकि ऐसे श्रोता, वक्ताकी विपरीत मान्यता-श्रद्धाके अनुमोदक हैं । कृत-कारित-अनुमोदन - इन तीनोंका फल एक ही है । ८४०



जिसे अध्यात्मरस द्वारा - आत्माके शान्तरस द्वारा - निज-स्वभावका यथार्थ अनुभव न हुआ हो, वह वीतराग-दिगम्बर जैन-दर्शनके रहस्यको नहीं जानता । जो वीतरागी-संतोके कहे हुए मर्मोंको नहीं जानता, वह मात्र पद्धति द्वारा ही वक्ता होता है । ८४१



जैनधर्म तो अध्यात्मरसमय है, कोई दया-दान आदि जैनधर्मका (स्वरूप) नहीं है। "ज्ञायकपिण्ड-आनन्दस्वरूपका भान कर अंतरलीन होना सो जैनधर्म है" । लोग, दया व व्रत पालनको जैनधर्म मानते हैं, परन्तु वह जैन-धर्मका स्वरूप नहीं हैं।

"अध्यात्मरसमय, वास्तविक जैन-धर्मका स्वरूप तो वीतरागता है" । ८४२



यदि धर्म-बुद्धिवान वक्ता उपदेशदाता हो तो वह अपना भी हित करता है तथा दूसरोंके हित होनेमें निमित्त बनता है । परन्तु जो परम्परा चलाने हेतु कषाय-बुद्धि द्वारा उपदेश देता है वह अपना तो बुरा करता ही है, दूसरोंका बुरा होनेमें भी निमित्त होता है।

८४३



जैन, कोई मत या पंथ नहीं । जो स्वभाव-बुद्धि व उसमें स्थिरता द्वारा विकार - रागकी पर्यायको जीते सो जैन है । "स्वभावके अवलम्बनसे विकारको दूर करे सो जैन है" । जो आत्मामें होनेवाले विकारों - पुण्य-पाप, दया-दान आदिको आत्माके भान व

उसमें स्थिरता-द्वारा टाले, जीते वही जैन है। जैनकी दूसरी कोई व्याख्या नहीं है। ८४४



(सच्चा) श्रोता, शास्त्राभ्यासका रसिक होता है तथा धर्मबुद्धि पूर्वक निन्दनीय कार्योंका त्यागी होता है। मद्य-मांस-मधु, त्रसजीवयुक्त-भोजन, पुरुषको परस्त्री व स्त्रीको पर-पुरुषका सेवन आदि तो साधारण लौकिक-नितिमें भी नहीं होते; अतः श्रोता तो ऐसे निन्द्य-कार्योंका त्यागी ही होता है। ८४५



जैनशास्त्रके - वीतरागता, स्वतंत्रताके न्याय-मर्मको समझनेवाला श्रोता ही विशेषरूपसे शोभित होता है। पर ऐसा होने पर भी उसे यदि आत्मज्ञान न हो तो वह उपदेशका मर्म नहीं समझ सकता। आत्मज्ञान-रहित हो तो भी उसे आरम्भ से ही तद्रूप दृढ़-आस्थावाला तो होना ही चाहिए। जिसे देव-गुरु-शास्त्रकी ऐसी श्रद्धा नहीं है उसकी तो सामान्य श्रोताओंमें भी गिनती नहीं होती। अतः जो आत्मज्ञान-द्वारा स्वरूपका आस्वादी हुआ है वही जैनधर्मके रहस्यका श्रोता है। ८४६



जो मान हेतु - "हम कुछ जानते हैं" - यह प्रदर्शित करनेके लिए प्रश्न करते हैं, वाद-विवाद करनेका अभिप्राय रखते हैं, अपनी बड़ाईका भाव रखते हैं, सुनकर दूसरोंको बतलानेका अभिप्राय रखते हैं; इस प्रकार शास्त्र सुनें, पढ़ें व सुनाएँ व उस धारणासे बड़ाई पाने, वक्ता होने, मान-अर्जन हेतु पढ़ते तथा पढ़ाते हैं, वे सभी केवल पापबंध करते हैं।

वैसे ही जो शास्त्र तो सुनते हैं - परन्तु कहते हैं कि (आप) किसीके परोपकार करनेकी बात तो नहीं करते, लोगोंको रोटी नहीं मिलती, काम नहीं मिलता अतः उसका खयाल रखनेकी बात तो नहीं करते; और यह आत्मा-आत्माकी बात करते हो - इस प्रकार जिन्हें तत्त्वकी बात रुचिकर नहीं लगती वे एकान्त पाप-बन्ध करते हैं। ८४७



अज्ञानी जीव कहते हैं कि कर्म ही जीवको चक्कर खिलाले हैं - परन्तु ऐसी मान्यता-भूल है। कर्म जड़ हैं, उनसे जीव नहीं घुमता; परन्तु जीव अपनी ही भूलसे चक्कर खाता है, तब कर्मको निमित्त कहते हैं। पहले भूल हुयी और बादमें कर्म आए - ऐसा नहीं है, तथा कर्म उदित हुए इसलिये भूल हुयी - ऐसा भी नहीं है। स्वयं भूल करें,

तब कर्म निमित्तरूप होता है । ८४८



शरीर कोई संसार नहीं है, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा संसार नहीं है, और कर्म भी संसार नहीं है। यदि शरीर ही संसार हो, तो उसके जल जाने पर संसार भी जलकर राख हो जाए व मुक्त हो जाए; परन्तु ऐसा नहीं होता । स्त्री-पुत्रमें भी संसार नहीं है। "आत्माका संसार तो आत्माकी पर्यायमें है"। अज्ञानी, जो परमें संसार मानता है उसे संसारका भी पता नहीं है । तो फिर संसार-रहित मोक्षकी तो उसे खबर ही कैसे हो ? - नहीं होती है । ८४९



यदि आत्माको शान्ति चाहिए तो वह शान्ति तो ऐसी होनी चाहिए कि जो पूर्ण और सादि-अंतकाल पर्यन्त रहे। ऐसी शान्ति किसको हो ? - कि जिसने अंतर्मुख-वृत्ति और विकल्प-द्वारा आत्माकी ओर झुककर यह निर्णय किया कि औपाधिकभाव हैं सो छोड़ने योग्य हैं व निरुपाधिकभाव आदरणीय हैं - द्रव्यश्रुत-द्वारा ऐसा निर्णय किया। ऐसा निर्णय करनेवालेको यह भी निश्चित हो जाता है कि देव-गुरु-शास्त्र कैसे हों ? ऐसा द्रव्यश्रुतके ज्ञान वाला यदि निर्विकल्प-भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्माको दृष्टिगत करे तो वह ऐसी शान्तिके कारणको प्रकट कर, पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है। ८५०



जो वर्तमानरूप ज्ञान-दर्शन-वीर्यका अंकुर है सो त्रिकालका अंश है, उस अंश द्वारा त्रिकाली-आत्मतत्त्वका निर्णय होता है। जैसे आमके दो पत्ते जमीनके ऊपर दिखते होनेसे यह निश्चित हो जाता है कि उसका बीज तो आमकी गुठली है। वह बीज अव्यक्त होने पर भी उसके पत्तों द्वारा ही उसका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-वीर्यका अंश है सो चैतन्य का ही अंश है, उससे चैतन्यस्वभावी-आत्माका निर्णय होता है, क्योंकि वह राग-द्वेष अथवा पुण्य-पापका अंश नहीं है...औपाधिकभाव नहीं है। इस प्रकार आत्माका निर्णय करना मांगलिक है। ८५१



अघातियाकर्मके उदयसे बाह्य-सामग्री चली जाती है। आत्माके प्रयत्नसे बाह्य-सामग्री नहीं मिलती । किसीको पुष्ट व किसीको दुर्बल शरीर मिलता है सो पूर्व-कर्मके

कारणसे। ऐसे संयोग बंधका कारण नहीं है; बल्कि आत्मामें होनेवाले मिथ्यात्वादिभाव बंधका कारण है। जो ऐसा निर्णय करे तो ही मोहके नाशका उपाय हो। अतः यहाँ बतलाते हैं कि अधातियाकर्मके निमित्तसे बाह्य-संयोग मिलते हैं। उसमें शरीरादि तो जीवकेप्रदेशोंसे एक क्षेत्रावगाही होकर एकरूपसे बंधित होते हैं व धन-कुटुम्बादि बाह्यसंयोगरूप रहते हैं। पैसा तो पूर्वके अधातिकर्मका उदय उस प्रकारका हो तो ही मिलता है, वर्तमान प्रयत्नके फलस्वरूप नहीं। वर्तमानमें (पैसा) जुटानेका भाव हुआ तो उस मोहके कारण नया बंध होता है, ऐसा बतलाते हैं। ८५२



विपरीत-मान्यता व राग-द्वेषादि बंधका कारण एक ही हैं। गरीबीसे धनाढ्य हो सो तो अधातिकर्मसे निमित्तसे होता है। पूर्वमें जिस प्रमाणमें कर्म-बंध हुए हों उसी प्रमाणमें सामग्री मिलती है। वह सामग्री पैसा शरीरादि बंधका कारण नहीं है, अतः उन्हें छोड़नेसे कोई बंधन नहीं छूटता। कुटुम्बादि तो अधातिकर्मका ही फल हैं। कुटुम्बकी ममता करना तो संसारवृद्धिका कारण है, कुटुम्ब-योग संसारका कारण नहीं है। जो पुत्र-पुत्री-बहू-सगे-स्त्री आदि मिले हैं सो सब आत्मासे दूर, भिन्न हैं, वे कोई दोषका कारण नहीं हैं। शरीर, इन्द्रियादि तो एकक्षेत्रवगाही हैं - ये भी कोई बंधनका कारण नहीं हैं। तो फिर धनादि तो आत्मासे बहुत दूर हैं, वे तो पूर्व-कर्मके कारणसे मिले हैं, वे आत्माके बन्धका कारण नहीं हैं। क्योंकि परद्रव्य, बंधका कारण नहीं होता - यह निश्चित करे तभी मोह-नाशका उपाय हो। ८५३



प्रश्न :- पर वस्तु बंधका कारण नहीं है, तो फिर वस्त्रके होने अथवा न होनेसे मुनिपनेमें क्या बाधा आती है ?

उत्तर :- पर वस्तु बंधका कारण नहीं है। वस्त्र कोई बंधका कारण नहीं है; परन्तु वस्त्र-पात्र रखने पर उसमें होने वाला ममत्व-भाव बंधका कारण हैं। वस्त्र-पात्र हो व उसके प्रति ममत्व-भाव न हो ऐसा सम्भव ही नहीं है। अतः जिनके वस्त्र-पात्र हैं, उनके ममत्व-भाव भी है ही; फिर भी जो मुनिपना माने तो वह मिथ्यात्वभाव है और अनन्त संसारमें भटकाने वाला भाव है। मोटर, बंधका कारण नहीं है पर उसमें बैठनेका राग-भाव बंधका कारण है - ऐसा ज्ञान करना चाहिए। जो पर वस्तुको बंधका कारण मानते

हैं, वे वस्तु-स्वभावको समझे ही नहीं हैं । ८५४



अशुभ-भाव, पाप-भाव होता है; अतः जो योगका कम्पन होता है उसे अशुभयोग कहते हैं। लड़का-लड़की-पैसा आदि कि व्यवस्था करना सो सब पाप-भाव है - अधर्मका अंग है। वह कोई कर्तव्य नहीं है, वल्कि अधर्मका अंग है। दया-दान-भक्ति आदिके भावोंको शुभयोग कहते हैं। शुभयोग हो अथवा अशुभयोग, पर सम्यक्तव-प्राप्ति बिना धातियाकर्माका तो निरंतर बंध होता रहता है। ८५५



वर्तमानमें लक्ष्मी न हो तो भी जो पापका अभाव कर स्वरूप-सम्पदाकी प्राप्ति हुयी...तो फिर मुझे अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन है ? इसके विपरीत पाप-परिणाम हों तो अंतरकी सम्पदा तो लूटती है। अतः बाह्यमें लक्ष्मी मिले तो उससे मुझे क्या लाभ है ? - कुछ नहीं, सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है । ८५६

पाँच पच्चीस लाख रुपैये कमालेवे उसमें अज्ञानी सर्वस्व मान बैठता है, पर उसमें तो पापका संचय होता है व स्वरूपलक्ष्मी लूटती है। अज्ञानीको उस बाह्य-लक्ष्मीसे कुछ लाभ नहीं है, उल्टा मिथ्यात्वका आस्त्रव होता है जो बड़ी हानि है । ८५७



धर्मी जीवको विकसित पर्यायकी भी रुचि नहीं होती, रुचि तो अंतर्मुख-स्वभावकी ही रहती है। चार ज्ञान विकसितरूपसे प्रकट हों तो भी क्षयोपशमिकज्ञान होनेसे धर्मीको उनकी रुचि नहीं होती - तो फिर उसकी राग व पर-पदार्थमें रुचि होना कैसे सम्भव है ?

८५८



जो तेरी प्रकट विशुद्ध पर्याय भी कार्यकारी नहीं होती, तो फिर धनादि उपयोगी हो सके- ऐसा सम्भव ही नहीं है। पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला लब्धरूप-ज्ञान भी जब सब विषयोंमें एक साथ प्रसरित नहीं होता तब वह परकार्य तक पहुँच सके - यह सम्भव ही नहीं है। यह समझ ले तो परका अभिमान उड जाए व पर्यायबुद्धि छूटकर स्वभावबुद्धि हो जाए । लब्ध व उपयोगरूपपर्यायकी रुचि तो छोड़ने योग्य है। चार ज्ञान

व्यक्त होने पर भी एक ज्ञानरूपी कार्य ही कर सकता है व उस ज्ञानमें भी एक ही विषयका ज्ञान कर सकता है तो परका व रागका अभिमान छोड़ दे । अधूरी ज्ञान-दर्शनकी पर्यायकी भी रुचि छोड़कर, पूर्ण स्वभावकी रुचि करे; तो सम्यग्ज्ञान होकर क्रमशः केवलज्ञान प्रकट होगा । ८५९



धनादि मिलना दुर्लभ नहीं है, परन्तु मनुष्य-भव मिलना व ऐसा सत् श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है । और उसे श्रवण कर उसकी प्रतीति करना तो महादुर्लभ है, अन्य कुछ भी दुर्लभ नहीं है । पूर्वके पुण्य-उदय अनुसार पैसा मिलता है, यह कोई वर्तमानके पुरुषार्थका फल नहीं है । और ऐसे संयोग तो अनन्त बार मिले हैं - वह कोई दुर्लभ नहीं है । अनन्तकालमें धर्मको नहीं जाना-अतः वही दुर्लभ है । ८६०



शरीरके पुष्ट अथवा निर्बल होने पर मैं पुष्ट या निर्बल होता हूँ - अज्ञानी ऐसा मानता है । मोटा या बारीक वस्त्र पहननेसे शरीर मोटा या पतला होता है - ऐसा नहीं मानता, पर शरीरके पतला या मोटा हो जानेसे स्वयं भी वैसा ही हो गया है ऐसा भ्रांतिसे मानता है । शरीर-अवस्थाको आत्माकी अवस्था मानता है । ज्ञान, राग, व शरीर...इन तीनोंको एकरूप मानता है और उनमें भेद नहीं जानता । ८६१



विपरीत मान्यतामें हिंसा-झुठ-चोरी-अब्रह्मचर्य व परिग्रह - ये पाँचो ही पाप समाहित हैं । मैं अनादि-अनन्त ज्ञानवान हूँ - इसमेंसे प्रवर्तित ज्ञानपर्यायकी सामर्थ्यको जो नहीं मानता तथा मैं परको जानता हूँ - ऐसा मानता है वह स्वयंके अस्तित्वको ही उड़ाता है ।

८६२



धर्म अर्थात् वस्तु-स्वभाव तेरा स्वभाव अनादि-अनन्त है । तेरी पर्याय तेरे ही अस्तित्वमें है - ऐसा मानने पर यह तय होता है कि राग स्वयंके कारणसे, अपनी ही निर्बलतासे होता है और तभी राग दूर होनेकी सम्भावना होती है । और ऐसा माने कि ज्ञान स्वयंसे है तो ज्ञान स्वभावकी और ढलनेका अवकाश होता है । अज्ञानीको, न तो अपने ज्ञानकी खबर है और न ही निर्बलतासे होनेवाले रागकी, अतः संसारमें धक्के खाता है । ८६३



पुस्तकें पढ़ना चाहिए। इतिहास-ज्ञान अधिक हो तो बुद्धि विकसित हो, अलग-अलग देशमें जाए तो बुद्धि खिले - ऐसा माननेवाले मूढ ! परके कारणसे बुद्धि-विकास मानते हैं तथा अपनेको ज्ञानसे शुन्य मानते हैं । ८६४



सबका सार यह है कि तेरा परको जाननेका तथा परमें स्वाद मानकर रागका स्वाद लेनेका मार्ग शान्तिका नहीं है, जिस कारणसे तू दुःखी हो रहा है। (तुझे) न तो विषयोंका स्वाद है ओर न ही विषयोंका ज्ञान; परन्तु रागका स्वाद है तथा ज्ञानका ज्ञान। विषय पर है, राग क्षणिक है व स्वभावमें नहीं है। ज्ञान-पर्याय ज्ञान-स्वभाववानकी है। इस प्रकार राग-रहित नित्य ज्ञान-स्वभावकी दृष्टि होती है। ऐसा समझे तो निमित्त-बुद्धि व रागबुद्धि छूटकर स्वभाव-बुद्धि होती है, घर्म होता है। ८६५



प्रश्न :- ज्ञान, ज्ञान ही को जानता है तो जगतमें अन्य वस्तुकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान :- ज्ञानमें अन्य वस्तुएँ निमित्त नहीं - ऐसा कहें तो इतनी स्व-पर-प्रकाशक सामर्थ्य नहीं रहती। ज्ञान, निमित्तके कारण नहीं वरन् अपने ही कारणसे स्व-पर-प्रकाशक सामर्थ्यवाला है। जो वर्तमानमें व्यक्त-अंश दिखता है सो सम्पूर्ण वस्तुका अंश है - जो ऐसा न मानकर, विपरीत माने कि वह (वर्तमान व्यक्त) अंश निमित्तको अथवा रागको तन्मय होकर जानता तथा परका स्वाद लेता है; वह निमित्तबुद्धि तथा पर्यायबुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि जीव है। ८६६



उपादान-निमित्त दोनों वस्तु हैं, परन्तु उपादानमें कार्य होता है अतः निमित्तको आना पड़ता है - ऐसा नहीं है। वैसे ही ऐसा भी नहीं है कि निमित्तके होनेसे उपादानमें कार्य होता है। दोनों अपनेअपने कारणसे स्वतंत्र हैं - यही सिद्धान्त है। ८६७



चैतन्यबिंब आत्माकी पर्याय निश्चयसे स्व-पर-प्रकाशक धर्म है। वह परको जानती है - ऐसा कहना असद्-भूत-उपचार है। परन्तु यदि कोई कहे कि पर-प्रकाशक-स्वभाव व्यवहारसे है, तब तो पर-प्रकाशक स्वभाव ही नहीं रहता; व पूर्ण-स्वभाव, स्व-पर-



प्रकाशक सिद्ध नहीं होता। अतः पर-प्रकाशक-स्वभाव निश्चयसे आत्माका है। ८६८



एक समयका राग, अंतर-त्रिकाली-स्वभावमे नहीं रहता। मिथ्यामान्यता व राग...स्वभावके अन्दर बैठे हुए नहीं है; और यदि ऐसा कहें कि वे पर्यायमें हैं ही नहीं, तो यह भी गलत है। प्रत्येक चैतन्यरत्नकी एक पर्यायके पहलमें संसार है व ज्ञानकी पर्याय स्व-पर-प्रकाशक सामर्थ्यवाली है। उसमें परपदार्थके अभावका ज्ञान व स्व-द्रव्यके सद्भावका ज्ञान है। परके अभावरूप-नास्तिरूप परिणमन अपने कारणसे है व स्वका अस्तित्वरूप परिणमन भी अपने ही कारणसे है। ८६९



प्रश्न :- स्व-पर-प्रकाशक स्वभावमें द्वैत है या एकरूपता ?

उत्तर :- शक्ति तो एक ही है, एक पर्यायमें ही अखण्डता है, द्विरूपता नहीं। स्व-पर-प्रकाश सामर्थ्यरूपसे एक ही है। द्वैत तो भेद कर बतलाया जाता है। ८७०



जीवको मरणकी पीड़ाकी अपेक्षा विषयोंकी पीड़ा बहुत असह्य व असाध्य लगती है, अतः ज्ञानस्वभावकी प्रीति करना सुखदायक है। (अन्यथा विषयोंकी दाह उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती)। ८७१



किसी भी परद्रव्यमें शक्ति नहीं है कि जीवको संसारमें भटकाए। स्वयं अपनी ही भूलमें भटकता है तब कर्म निमित्त होते हैं। जीव, स्वयं अपनी ही भूलसे भटकता है व स्वयं अपनी ही समझसे मुक्ति पाता है। कोई परद्रव्य उसके संसार अथवा मोक्षका कारण नहीं है। ८७२



रोगादि होने पर दुनिया उसे पीड़ा व दुःख मानती है, परन्तु वास्तवमें उसमें दुःख नहीं है। "दुःख तो इच्छासे है" इसी प्रकार बाह्यमें पुण्यसे मिली सामग्रीमें अज्ञानीजीव अभिमानसे सुख मानता है, परन्तु उसमें सुख नहीं है। सुख तो अभिलाषा-रहित मोक्ष-दशामें है। इस तरह अज्ञानीजीव न तो दुःखको जानता है और न ही सुखको। ८७३



सुखी-दुःखी होना, सामग्री-अनुसार नहीं होता; परन्तु इच्छा-अधीन सुखी-दुःखी होते हैं। (मिथ्यादर्शन, अज्ञान, मोह व असंयम आदि इच्छा उत्पन्न होनेके कारण हैं) । ८७४



यह एक ही नियम है कि जिसे मोह है उसे ही इच्छा होती है । जहाँ मोह नहीं है, वहाँ बाह्य-सामग्री इच्छाका निमित्त-कारण भी नहीं होती । सिद्ध-दशामें मोह नहीं है । ज्ञान-दर्शन-वीर्यकी अल्पताका भी अभाव हो गया है व बाह्य-सामग्री भी दूर हो गयी है...ऐसी सिद्ध-दशा प्राप्त होने पर आत्मा सादि-अनन्त सर्वोत्कृष्ट, अनुपम, अखण्ड आनन्दमे विराजमान रहता है, अतः सिद्ध-दशामें ही सच्चा सुख है। ८७५



अज्ञानी, शास्त्र सीख लेते हैं पर उसका क्या प्रयोजन है सो नहीं जानते। शास्त्राभ्यास कर अन्तरमें स्थिर होना ही उसका प्रयोजन है, जो वह नहीं करता। परन्तु अन्यको समझानेका अभिप्राय हो अथवा व्याख्यान-शैली सुधारनेकी आशा-रूप-अभिप्राय रखे, तो वह मिथ्यादृष्टि है। ८७६



अन्य उपदेश सुनें उससे आत्माको लाभ नहीं है, परन्तु निजज्ञानकी निर्मलता से ही आत्माको लाभ है। कोई सुनता नहीं, समझता नहीं तो विषाद किस लिए करता है ? अनन्त तीर्थकर हो चुके ! परन्तु (सुननेवालों) सभीका तो मोक्ष नहीं हुआ । सब स्वयं निज-योग्यता से ही समझते हैं, अतः उसमें परका कुछ काम नहीं है। शास्त्रका मर्म-जानकर निजहित करना चाहिए। ८७७



बाह्य-क्रियासे निर्जरा नहीं होती । पंचमगुणस्थानवाले श्रावकको एक मासका उपवास करते समय जो निर्जरा होती है उसकी अपेक्षा मुनिको निद्राकालमें अथवा आहार-पानके समय अधिक निर्जरा होती है। यानी अकषाय-परिणाम-अनुसार निर्जरा होती है, बाह्य-प्रवृत्ति उसका कोई आधार नहीं है। ८७८



जिसको अंतरदृष्टि व ज्ञान नहीं है, उसका तो उपचारसे भी बाह्यतप नहीं कहलाता है। ऐसे ही अनशन, प्रायश्चित, विनय आदिको तप बतलाया, उसका कारण यह है कि

अनशनादि-साधनसे प्रायश्चितरूप प्रवर्तमान-भावरूप सत्य-तप पोषित हो सकता है। इसलिए, प्रायश्चित आदिको उपचारसे तप कहा है। परन्तु यदि कोई वीतराग-भावरूप तपको तो न जाने, किन्तु बारह-तपको ही तप जानकर आचरण करता है तो संसारमें भ्रमित होता है। लोग तो बाह्य-तपको ही धर्म मानते हैं।

अज्ञानीकी तपश्चर्याको सच्ची तपश्चर्या मानना व वैसा ही प्ररूपित करना, बड़ा पाप है। दृष्टिका पता ही नहीं, सत्य बात रुचिकर न हो व व्रत-धारण करे वह तो वास्तवमें जैन ही नहीं है। ८७९



जो शब्दकी उपयुक्ताके प्रयोजनसे व्यकरणादिका अध्ययन करता है, उसे तो विद्वत्ताका अभिमान है। वह तो वाद-विवादके उद्देश्यसे अवगाहन करता है सो लौकिक प्रयोजन है। चतुराई-प्रदर्शन हेतु किए गए शास्त्राभ्यासमें, आत्माका हित नहीं है। शास्त्रोंका तो हो सके उतना, न्यूनाधिक अभ्यासकर जो केवल आत्महित-हेतु ही तत्त्व-निर्णय करे उसको धर्मात्मा पंडित जानना। ८८०



बाह्य-क्रिया सुधरनेसे मेरे परिणाम सुधरेंगे तथा मंद-कषायके परिणामसे धर्म होता है - इस प्रकारके अभिप्रायकी गन्ध भी अन्तरमें रह जानेका नाम मिथ्यावासना है। ऐसी वासना रखकर बाह्यमें पंच-महाव्रतका पालन तथा दया-दानादिकी चाहे जितनी क्रिया व मंदकषाय करे तो भी धर्म नहीं होता। ८८१



सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करता है सो तत्त्वज्ञान-पूर्वक करता है। ज्ञानी, मिथ्यादृष्टिके समान, अधीर होकर प्रतिज्ञा नहीं करता। जिसे स्वरूपाचरणका अल्पांश-शान्तिका एक कण भी प्रकट हुआ है, वह द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव देखकर ही प्रतिज्ञा करता है। काल कैसा है? हठ-बिना, आक्षेप-बिना, परके दोषोंसे उन्मुख होकर, निजपरिणामके अवलोकनसे, अपनी दिखनेवाली योग्यता आदिके विचारपूर्वक ही सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा व प्रतिक्रमण करता है।

कितने ही जीव, प्रतिज्ञा ले बैठते हैं परन्तु अन्तरमें तत्त्वज्ञानका अभाव होनेसे उनके भीतर कषायकी वासना नहीं मिटती। ८८२



जिसे संसारकी तथा परकी रुचि नहीं, परन्तु अखण्ड-ज्ञायकस्वभावकी ही रुचि है - वह जैन है। जिसे स्वभावकी रुचि नहीं, उसे संसारकी रुचि है; अतः वह सच्चा जैन नहीं है। ८८३



कोई, ऐसा सोचते हैं कि यदि ऐसा तत्त्वज्ञान सभीको हो जाए तो संसारमें कोई नहीं रहेगा-ऐसा कहने वालेको आत्माकी यथार्थ रुचि ही नहीं है। क्योंकि स्वभावकी रुचिवालेकी इस पर दृष्टि ही नहीं होती कि संसारमें कौन रहेगा। जैसे कोई धनका अर्थी हो तो वह यह नहीं विचार करता कि मैं धनवान हो जाऊँ व उसी प्रकार सभी धनी हो जाएँ, तब कोई भी गरीब न रहने पर, मेरा काम कौन करेगा ? जिसकी जिसमें रुचि होती है वह दूसरेकी और नहीं देखता। ८८४



कोई दानकी मुख्यता कर बहुत पाप करके भी धन-उपार्जन कर, दान देता है। प्रथम पापकर धन-संग्रह करना और फिर दान करना सो न्यायपूर्ण नहीं है। पहले तो लक्ष्मीकी ममता करे, और बादमें (दान द्वारा) ममता घटाए, सो योग्य नहीं है। पह तो परोपकारके नामसे पाप करना है। कोई आरम्भ-त्यागकी मुख्यता कर याचना करने लगते हैं। भोजन-बनानेमें पाप जानकर भिखारीके जैसे मांगने जाना सो योग्य नहीं है। तथा कोई जीव अहिंसाकी मुख्यता कर जल-द्वारा स्नान, शोचादि भी न करें तो वह उचित नहीं है। ८८५



कोई ऐसा कहे कि आत्माको नहीं जान सकते, समयदृष्टि-मिथ्यादृष्टिका पता नहीं पड़ता, भव्य-अभव्यका पता नहीं चलता तो उसे ज्ञानके सामर्थ्यकी ही खबर नहीं है। ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है, अतः वह आत्माको और परको न जाने - ऐसा सम्भव ही नहीं है। ऐसे जीवको तो निज तो निजज्ञान-सामर्थ्यका ही विश्वास नहीं है। लब्धिके अधिकारमें ऐसा कहा है कि जिसे चौदह-पूर्वका ज्ञान है - ऐसा ज्ञानी जो न्याय निकालता है, वैसा न्याय सम्यग्दृष्टि भी निकाल लेता है - उसमें इतनी सामर्थ्य है। अतः ज्ञानीको द्रव्यलिंगीका अन्यथारूप भासित हो सकता है। ८८६



सम्यग्दृष्टि जीव, उत्कृष्टतः अंतःकोड़ा-कोड़ी सागरकी पुण्य-स्थिति बांध सकता है व मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्टतः पन्द्रह कोड़ा-कोड़ी सागरकी पुण्य-स्थिति बांध सकते हैं। पुनः वे दोनों ही इतनी स्थिति नहीं भोग सकते; क्योंकि त्रसकी उत्कृष्टि स्थिति दो हजार सागरकी है। सम्यग्दृष्टिजीवकी स्वभावपर दृष्टि होनेसे, वह पुण्य-स्थितिको क्रमशः तोड़कर मोक्षमें चला जाएगा तथा मिथ्यादृष्टि जीव परसे तथा पुण्यसे लाभ मानता होनेसे क्रमशः पुण्य-स्थितिको तोड़कर, पाप-परिणाम कर, निगोदमें चला जाएगा; अतः यथार्थता समझनी चाहिए । ८८७



प्रश्न :- समयग्दृष्टि भी परद्रव्योंको बुरा जानकर उनका त्याग करता है ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नहीं जानता, वह तो अपने रागभावको ही बुरा जानता है। स्वयं सराग-भावको छोड़ता है, तब उसके कारणोंका भी त्याग हो जाता है। वस्तु-विचारणामें तो कोई भी परद्रव्य भला-बुरा नहीं है। परद्रव्य तो आत्माका एकरूप ज्ञेय है। एकरूपतामें अनेकरूपताकी कल्पना कर एक द्रव्यको इष्ट तथा अन्य द्रव्यको अनिष्ट मानना, मिथ्याबुद्धि है । ८८८



प्रश्न :- परद्रव्य निमित्तमात्र तो है ?

उत्तर :- परद्रव्य बलात् तो कुछ नहीं बिगाड़ता, परन्तु स्वयं अपने भाव बिगाड़े तब परद्रव्य बाह्य-निमित्त है। यदि परद्रव्यसे परिणाम बिगड़े तो द्रव्यकी परिणति स्वतंत्र नहीं रहती। स्वयं परिणाम बिगाड़े तो परद्रव्य निमित्त कहलाता है। और निमित्त-बिना भी भाव तो बिगड़ते हैं - इसलिये वह नियमरूप निमित्त भी नहीं है। निमित्तके कारणसे भाव नहीं बिगड़ते। ८८९



अज्ञानीकी उदासीनतामें केवल शोक ही होता है, क्योंकि उसे यह पता ही नहीं है कि एक पदार्थकी पर्यायमें अन्य पदार्थकी पर्याय अकिंचित्कर है। अतः वह परद्रव्यकी पर्यायको बुरा जानकर, द्वेषपूर्वक उदासीनभाव करता है। परन्तु परद्रव्यके गुण-दोष ही न दिखना ही वास्तविक उदासीनता है। यानी ज्ञानी परद्रव्यको गुणका अथवा दोषका कारण ही नहीं मानते । अपनेको निजरूप तथा परको पररूप जाने, वही सच्ची

उदासीनता है । ८९०



अज्ञानीको वास्तविक उदासीनता होती ही नहीं । परद्रव्यके गुण-दोष दिखे ही नहीं तभी सच्ची उदासीनता होती है । परद्रव्यके गुण-दोष तो पूर्णतः जाने, परन्तु परद्रव्य मुझे हितकर है अथवा अहितकर है - ऐसा न माने, उसीका नाम परद्रव्यके गुण-दोष न दिखना है । शुभाशुभ-भाव हानिकारक है तथा त्रिकाली-स्वभाव लाभदायक है । इसके अतिरिक्त जगतका अन्य कोई पदार्थ आत्माको लाभ या हानिका कारण नहीं है - ऐसा समझना ही सच्ची उदासीनता है । ८९१



पर-क्षेत्र आत्माको गुणकारक नहीं है । परद्रव्यके कारणसे आत्मामें शान्ति रहे - ऐसा मानना तो मूढ़ता है । अन्तर आत्मामें निमग्न हो जाना ही ध्यान है । बाह्य-कारणोंसे ध्यान या शान्ति नहीं होती । सोनगढ़-क्षेत्रके वातावरणसे आत्मामें शान्ति होती है - यह बात भी मिथ्या है । ८९२



प्रश्न :- सराग तथा वितराग भेदसे चारित्र दो प्रकारका बतलाया है, वह किस प्रकारसे ?

उत्तर :- चारित्र दो प्रकारसे बतलाया गया है, एक तो सराग व दूसरा वीतराग । इसमें यह समझना कि राग सो चरित्रका स्वरूप नहीं है । पंच महाव्रत चारित्र नहीं है । बाह्य-नग्नदशा सो चारित्र नहीं है । अज्ञानी, लंगोटी-त्याग कर छट्टा गुणस्थान हुआ मानता है, परन्तु यह बात नहीं है । आत्माका चारित्र परसे तो होता ही नहीं है; वरन् नग्नदशाका भाव भी चारित्र नहीं है, वह तो चारित्रका दोष है ।

अब यदि कोई ज्ञानी प्रशस्तराग-सहित चारित्र धारण करता है, उसे देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्तराग ही को चारित्र मानकर उसका संग्रह करे तो उसकी निरर्थकतावश खेद-खिन्न ही होता है । देखा-देखीसे व्रत ले लेना कोई चारित्र नहीं है । ज्ञानी, तो जितना वीतराग-भाव हुआ है उतने ही को चारित्र मानता है । अज्ञानी, व्रतको चारित्र मानता है पर वास्तवमें वह चारित्र नहीं है । ८९३



ज्ञानीको, परद्रव्यकी क्रिया करनेका विचार तो होता ही नहीं है। वल्कि उसे अपनी पर्यायमें अशुभभावको शुभ करनेका अभिप्राय भी नहीं रहता। आत्मा ज्ञायकरूपसे रहे - एक यही अभिप्राय रहता है। ऐसे निर्णय-बिना जो कोई भी साधन करे, उसमें मोक्ष-साधन नहीं होता। ८९४



द्रव्यलिंगी विषय-सेवन छोड़कर तपश्चरण करे तो भी वह असंयमी है। सिद्धांततः असंयत अर्थात् अविरत-सम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत अर्थात् पंचम गुण-सथानवर्ती-श्रावककी अपेक्षा द्रव्यलिंगी-मुनिको हीन बतलाया है, क्योंकि उसका तो प्रथम गुणस्थान है। द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु नौ-कोटि-बाड़ ब्रह्मचर्य-पालन करें, मंद-कषाय करें, परन्तु आत्माका भान न होनेसे, उसे चतुर्थ व पंचम गुणस्थानवाले ज्ञानीसे हीन बतलाया है।

प्रश्न :- असंयत-देशसंयत-सम्यग्दृष्टिके कषाय-प्रवृत्ति होती है। ज्ञानीके राज-पाट होता है, वह कदाचित् युद्धमें खड़ा होता है - ऐसी कषाय-प्रवृत्ति होती है, जबकि द्रव्यलिंगीके ऐसी कषाय-प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। द्रव्यलिंगी-मुनि ग्रैवेयक पर्यन्त जाता है तथा चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवाला ज्ञानी सोलहवें स्वर्ग तक ही जाता है, तो फिर उससे द्रव्यलिंगीको हीन कैसे बतलाया ? द्रव्यलिंगीको भावलिंगीसे हीन कहा (सो ठीक) ; पर, चतुर्थ गुणस्थानवालेकी अपेक्षा हीन क्यों बतलाया है ?

समाधान :- असंयत-देशसंयत-सम्यग्दृष्टिके कषायोंकी प्रवृत्ति तो है, परन्तु उसकी श्रद्धामें कोई भी कषाय करनेका अभिप्राय नहीं रहता। पर्यायमें कषाय होती है, पर वह उसे हेय मानता है। द्रव्यलिंगीको शुभ-कषाय करनेका अभिप्राय रहता है तथा उसे श्रद्धामें भला भी समझता है। ज्ञानी तथा अज्ञानीके अभिप्रायमें बहुत बड़ा अन्तर है। अज्ञानी, मंदकषायको उपादेय मानता है, अतः उसके एक भवका भी नाश नहीं होता। सम्यग्दृष्टि, कषायको हेय मानता है, अतः उसने अनंत भवोंका नाश कर लिया है। इसलिए अभिप्राय-अपेक्षासे चौथे तथा पांचवे गुणस्थानवाले ज्ञानीकी तुलनामें द्रव्यलिंगीको हीन बतलाया है। द्रव्यलिंगीको वैराग्य भी प्रचुर होता है, परन्तु अभ्यन्तर-दृष्टि कषाय पर ही होती है। वह अकषाय-स्वभावकी दृष्टि न होनेसे मंदकषायरूप-परिणामको उपादेय मानता है। (इस प्रकार) ज्ञानी, अज्ञानीके अभिप्रायमें पूर्व-पश्चिम जितना अंतर है। इसलिए यह कहा है कि ज्ञानीकी तुलनामें द्रव्यलिंगी-मुनिके कषाय बहुत अधिक होती

है। ८९५



जिनके निमित्तके आत्माकी यथार्थ बात सुनी हो, जिसने न्याय-समझा हो, उसका जो विनय नहीं करता - वह व्यवहारसे भी अधम है, चोर है। ८९६



एकान्त नहीं करना - ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है, पर वह व्यवहारनयको अंगीकार करनेका अर्थ नहीं जानता। आत्माकी पर्यायमें राग होता है - इसको सम्यक् प्रकारसे जानना ही, व्यवहारनयको अंगीकार करना है। अत्तामें अल्पज्ञानकी पर्याय है, ऐसे जानना कि - मेरी पर्याय अल्पज्ञानरूप है - वही व्यवहारनय है। अज्ञाननी तो रागका आदर करनेको ही व्यवहारनय कहता है। उसने तो वीतराग-भाव तथा रागभाव दोनों ही से लाभ माना है - वही एकान्त है। ८९७



आत्माका शुद्ध-स्वरूप ज्ञाता है। उनकी रुचि होनेके समय जो राग होता है वह निमित्त है। परन्तु उससे वीतरागता नहीं होती। साधक-दशामें राग है ही नहीं - ऐसा नहीं है। यानी, निमित्त है ही नहीं - वैसा नहीं है। निमित्तको बदलना नहीं है, उसे आगे-पीछे करना स्वभावमें ही नहीं है। बाह्य-क्रिया तो आत्माके हाथकी बात ही नहीं है। परन्तु अशुभभावको छोड़कर शुभभावका कर्तृत्व भी पर्यायबुद्धि है, भ्रमबुद्धि है। वस्तु ज्ञायकस्वभावी है - ऐसा वह मानता ही नहीं। ८९८



जैसे संसारका अभाव होकर जो सिद्ध-दशा होती है सो नहीं बदलती, वैसे ही असत्य छूटकर जो सत्य-ग्रहण हुआ, वह सत्य नहीं छूटता। असत्य हो वह छूट जाता है। एक बार सम्यक्त्व हुआ तो वह सत्य ही रहता है। (सम्यक्त्वसे च्युत होनेवालेको अपवादमें गिना है) अतः यह बात यथार्थरूपसे समझने योग्य है, वह बदलने वाली नहीं है। सत्य तो सत्यरूप ही रहता है, प्रथम ऐसा विश्वास होना चाहिए। ८९९



जो जीव, सम्यक्-सन्मुख हुआ है उसे अंतरंगमें अपना सम्यक्-दर्शनरूपी-कार्य करनेका बहुत ही हर्ष है। इसीलिए वह उत्साहपूर्वक प्रयत्न करता है, प्रमाद नहीं करता,



तत्त्वविचारका उद्यम करता है; और ऐसे ही उद्यम करते-करते केवल निज-आत्मा के विषयमें ही "यह मैं हूँ"- ऐसी अहम्-बुद्धि हो तभी सम्यक्दृष्टि होता है। ९००



अन्तरमें स्वरूप-सन्मुख होनेका अभ्यास करते-करते मिथ्यात्वरस एकदम घट जाता है, तथा इस प्रकार अभ्यास करते-करते स्वरूप-सन्मुख होन पर मिथ्यात्वका अभाव हो जाता है। यूँ उद्यम करे व प्रतिपक्षी कर्मका रस न टले - ऐसा नहीं हो सकता है। जब सम्यक्त्व हुआ, तब मिथ्यात्व कर्मका अभाव हो जाता है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, फिर भी कोई किसीका कुछ नहीं करता। अन्तरमें स्वरूप-सन्मुख होनेका उद्यम करना ही सम्यक्त्वका मूल कारण है। ९०१



तत्त्व-विचारकर यथार्थ तत्त्वनिर्णयका उद्यम न करे, वह जीव सम्यक्त्वका अधिकारी नहीं है। ९०२



प्रथम स्वरूप-सन्मुख होकर निर्विकल्प-अनुभूति होती है, आनन्दका वेदन होता है, तभी यथार्थ सम्यक्दर्शन हुआ कहलाए। इसके बिना यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती। परन्तु अनुभूतिके पूर्व तत्त्वविचार-पूर्वक दृढ़ निर्णय करनेके कालमें यदि निर्णय में ही भूल हो, तो यथार्थ अनुभूति कहाँसे हो ? ९०३



केवल विकल्प से ही तत्त्वविचार किया करे, वैसा जीव भी सम्यक्त्व नहीं पाता। अंतरमें चैतन्यस्वभावकी महिमा कर उसकी निर्विकल्प-अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है।

९०४



जिनके अंतरमें भेदज्ञानरूपी कला जगी है, चैतन्यके आनन्दका वेदन हुआ है - ऐसे ज्ञानी-धर्मात्मा सहज-वैरागी हैं। ऐसे ज्ञानी, विषय-कषायोंमें मग्न हों - यह विपरीतता सम्भवित नहीं है। जिन जीवोंको विषयोंमें सुख-बुद्धि है, वे ज्ञानी नहीं हैं। ज्ञानीको तो अंतरके चैतन्यसुखके अलावा, समस्त विषय-सुखके प्रति उदासीनता होती है। अभी जिसको अंतरमें आत्मभान ही न हो, तत्त्व-संबंधी कुछ भी विवेक न हो, वैराग्य न हो; और

वह ध्यानमें बैठकर अपनेको ज्ञानी माने, तो वह स्वच्छंद-पोषण करता है, ज्ञान-वैराग्य शक्ति-बिना वह पापी ही है। ९०५



सुख-दुःखकी बाह्य-सामग्रीमें राग-द्वेष न हो - उसीका नाम वीतरागता है। पर यदि अन्तरमें द्वेषभाव-पूर्वक त्याग करे, तो वह कोई वीतरागता नहीं है। प्रतिकुलताके संयोग होने पर अंतरमें क्लेशके परिणाम ही न हो तथा सुख-सामग्री मिलनेसे अंतरमें आनन्द न माने - ऐसी चैतन्यमें अंतरलीनता हो उसका नाम वीतराग-भाव है। ९०६



(तत्त्व-संबंधी) विकल्प, वस्तु निश्चय करनेमें कारणभूत हैं, परन्तु वस्तु-निर्णय होने पर उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। अतः इन विकल्पोंको भी छोड़कर अभेदरूप-एक आत्माका ही अनुभव करना चाहिए, इन विचाररूप विकल्पोंमें ही फँसे रहना योग्य नहीं है। ९०७



जो तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोगका अभ्यास करता है, उसको समस्त आचरण अपने वीतराग-भाव अनुसार भासित होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञानपूर्वक आचरण पालते हैं। श्रावकको बारह व्रतका तथा मुनिको २८ मूलगुणके पालनका विकल्प आता है। मुनिको वस्त्र-पात्र रखनेका भाव नहीं होता है। मुनिको तो मात्र संज्वलन-कषाय होती है; उन्हें उपदेश देनेका, आहारका, कि विहारका राग आता है - वे सब उन्हें निज-वीतरागतानुसार भासित होते हैं। ९०८



अज्ञानी जीव शास्त्रोंका रहस्य नहीं समझता, अतः उसका समस्त ज्ञान कुज्ञान है। तथा सम्यग्दृष्टि कुशास्त्र पढ़े तो भी उसका ज्ञान, सुज्ञान है। जिसकी दृष्टि सुल्टी है, उसका सब कुछ सुल्टा है व जिसकी दृष्टि उल्टी है, उसका सारा ज्ञान उल्टा है। मिथ्यादृष्टि नौ पूर्व व ग्यारह अंगका पाठी हो तो भी उसे अज्ञान ही है। ९०९



जिनसे ज्ञान मिला हो उनका विनय, शास्त्रका विनय करना चाहिए। ज्ञानीसे मर्म समझने पर भी यदि कहे कि हमारे शास्त्रोंमें भी ऐसी ही बात है व मैं भी ऐसा ही मानता

था, हमारेमे भी निश्चय तथा व्यवहार दोनों ही हैं - ऐसा माननेवाला तो व्यवहारसे भी चोर है। आत्मभान न होनेसे वह निश्चयका तो चोर है ही। अतः ऐसा अविनय नहीं करना चाहिए। ९१०



प्रथम तो सत्य-समझनेकी जिज्ञासा होनी चाहिए। अनादिसे भूल होती आ रही है। परन्तु सच्ची बात-समझनेका प्रसंग मिले तो वह भूल मिटे। जो भूलको, भूल ही न माने तो वह भूल कभी नहीं टलती। ९११



साधारण बालजीवोंको समझनेके लिए कथानुयोगमें पुण्यके फलका वर्णन आता है, परन्तु वह धर्म नहीं है। करणानुयोगमें परिणामोंका वर्णन है तथा चरणानुयोगमें यह निरूपित किया है कि (आचरणकी) पद्धति कैसी होती है। उनमें यही प्रयोजन होता है कि स्वभावमें अरागी-परिणाम हो व राग घटे। ९१२



जीव अजीवके भेदोंको जाननेका हेतु भेदविज्ञान करना है। आस्रव, पुण्यादिके कथनोंका हेतु भी पुण्य-भाव करावाना नहीं है, बल्कि वीतराग-भावकी उत्पत्ति होना है। जैन-दर्शनका मर्म द्रव्यानुयोगमें है, अतः यथार्थ प्रकारके द्रव्यानुयोगको समझना चाहिए।

९१३



मूल बात तो आत्माकी दृष्टि है। द्रव्यानुयोगके बिना बेड़ा-पार नहीं है। तथा (सत्) समागम-बिना द्रव्यानुयोग समझनें आने योग्य नहीं है। आत्मा चिदानन्दस्वरूप है, इसकी प्रतीति कर रागरहित होओ, अभेद-स्वभावका लक्ष्य करो - इस प्रकार द्रव्यानुयोग वस्तु-महिमा गाता है। द्रव्यानुयोगमें निश्चय अध्यात्म-उपदेशकी प्रधानता है व उसमें दया-दानादिको धर्म मानना भूल है। द्रव्यानुयोगमें स्वभाव-दृष्टि करानेके लिए ही पुण्यका निषेध किया गया है। अज्ञानी, बाह्य-क्रियामें पुण्य मानता है परन्तु यहाँ तो सम्यग्दृष्टिके पुण्यका भी निषेध किया है। स्वभावके आश्रयसे ही धर्म है - ऐसा समझाया है। ९१४



देखो ! सम्यक्त्वकी महिमा, कि जिसके बलसे भोग भी निज-गुणका कुछ नहीं कर

सकते। भगवान् सत् परमेश्वर है, उसका स्वीकार करनेसे भोग भी अपने (वस्तु) गुणोंका कुछ नहीं कर सकते अर्थात् वे विशेष बंध नहीं कर सकते। ज्ञानी, (पुरुषार्थवश) अस्थिरतारूपी-रागका स्वामी नहीं होता, वह तो त्रिकाली-स्वभावका स्वामी होता है। जो इस प्रकार नहीं मानता वह बाह्यदृष्टिवंत बहिर्आत्मा है। अंतर्दृष्टिसे अवलोकन करनेवाला अंतर्आत्मा है। ९१५



प्रश्न :- समकिती जब भी चाहे तब शुद्धोपयोग ला सकता है न ?

उत्तर :- मैं शुद्धोपयोग लाऊँ - ऐसी समकितीको इच्छा ही नहीं होती। इच्छा तो राग है व उससे शुद्धोपयोग नहीं आता। स्वभाव-सन्मुख होने पर, इच्छा टूट जाती है। समकितीको अकषाय-परिणमन तो सदा ही वर्तता है। छट्टे गुणस्थानमें अकषाय-परिणमन रहता है, परन्तु शुद्धोपयोग नहीं होता। चौथे-पांचवे गुणस्थानमें शुद्ध-परिणमन सदा ही रहती है, परन्तु शुद्धोपयोग सदा नहीं होता। स्वरूपमें लीन होने पर, बुद्धिपूर्वक-रागका अभाव होना ही शुद्धोपयोग है। स्वभाव-सन्मुख दृष्टि होनेके बाद कालक्रममें शुद्धोपयोग आता है। शुद्धोपयोगकी भावना तो रहती है, परन्तु शुद्धोपयोगको इच्छापूर्वक लाऊँ - समकितीको ऐसा लोभ नहीं होता। ९१६



ज्ञानीको उपयोगका भी लोभ नहीं होता। सहज ही शुद्धोपयोग होता है। इच्छाका होना भावना नहीं, वरन् आस्रव है। ज्ञानमें एकाग्रता होना ही भावना है। पर्यायका क्रम बदलनेका अभिप्राय मिथ्यादृष्टिको होता है, यद्यपि क्रम नहीं बदलता। ज्ञानी, पुरुषार्थ-गुणको अलग करके कार्य नहीं करते। ज्ञानानन्द-स्वभावके आश्रयसे सहज शुद्धोपयोग हो जाता है। ९१७



परको छोड़ूँ अथवा रागको छोड़ूँ - यह बात तो रहती ही नहीं। बल्कि, शुद्धोपयोगको लानेकी भी बात नहीं है - यह वस्तुकी मर्यादा है। शुद्धोपयोगका काल न हो, क्या उस समय ज्ञानी उसे लाना चाहता है ? क्या पर्याय-क्रम बदलना चाहता है ? नहीं, - ज्ञानस्वभाव-ओर जो पुरुषार्थ है, उससे शुद्धोपयोग आ जाता है। जिस समय जो परिणाम होने हैं सो होंगे ही, समकिती को उन्हें बदलनेकी बुद्धि नहीं होती। पर्याय-

बदलेनेकी बुद्धि तो मिथ्यादृष्टिको होती है। स्वभाव-सन्मुख दशामें उग्रता होते ही शुद्धोपयोग सहज ही हो जाता है। ९१८



वीतरागताके मार्गमें तो सम्यग्दृष्टिकी प्राथमिकता है। प्रथम तो भेदज्ञान होना चाहिए। ऐसा सम्यक्त्व तो स्व-परका श्रद्धान होने पर होता है तथा वैसा श्रद्धान द्रव्यानुयोगका भावाभ्यास करनेसे होता है। अतः द्रव्यानुयोग-अनुसार श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि होना सो प्रारंभिक धर्म है, तत्पश्चात् व्रतादि होते हैं। ९१९



प्रथम तो अध्यात्मग्रन्थका जो भेदज्ञान करनेमें निमित्त है, अभ्यास करना चाहिए। जो अनादि-अज्ञानी व अप्रतिबुद्ध है उसीको उक्त उपदेश दिया जाता है। यह बात कोई उच्च योग्यतावालेके लिए है - ऐसा नहीं है। तीनों काल यही उपदेश करना योग्य है। अमुक कालके लिए उक्त उपदेश है व हीन कालके लिए अन्य प्रकारका उपदेश है - ऐसा नहीं है। ९२०



प्रश्न :- उच्च स्तरके उपदेशका स्वरूप निम्नदशावालेको भासित नहीं होता, अतः ऐसी बात हमें समझमें नहीं आती। एल.एल.बी. व एम.ए जैसी ऊँची बातें हमारे लिए नहीं हैं। इसलिए अध्यात्म-उपदेश करना उचित नहीं है, क्योंकि हमारी वर्तमान-योग्यता वैसी नहीं है।

उत्तर :- अन्य अनेक प्रकारकी चतुरायी तो जानता है व इस विषयमें मूर्खता प्रकट करता है सो योग्य नहीं है। संसारकी, खाने-पीनेकी बातोंमें तो चतुरायी बतलाए, व्यवहारकी बातें करें तो कहे कि ऐसा चले और ऐसा न चले, शुद्ध आहार ऐसा हो आदि कहे, परन्तु -

"व्यवहारे लख दोह्यला, कोई न आवे हाथ रे "

संसारकी रुचिवाला होनेसे संसारके समस्त काम जानता है, और इस विषयमें मैं नहीं जानता - यों कहता है। परिवारमें पुत्रकी सगाईकी बात चलती हो तब सभी परिवार-जन चतुरायी बतलाते हैं, बही-खातांमे चक्रवृद्धिव्याज-फलित करते हैं, चाहे जैसा अटपटा काम हो पर उसका ऊहापोह कर उसमें उपयोग लगाते हैं; और यह विषय समझमें नहीं

आता - ऐसा कहनेवालेको धर्मकी रुचि ही नहीं है। जो अध्यात्म-शास्त्रोंके अभ्यासका निषेध करते हैं वे भगवानके मार्गके द्वेषी हैं - ऐसा उक्त बातोंसे सिद्ध होता है। ९२१

द्रव्यानुयोगको छोड़कर शेष तीनों अनुयोगोंमें जैनधर्मका मुख्य अनुयोग नहीं है। अतः प्रथम तो द्रव्यानुयोग कि जिसमें तत्त्वज्ञान प्ररूपणा है, उसका ही मुख्यरूपसे अभ्यास करना चाहिए। ९२२



शंका :- ऐसी शंका है कि इस कालमें अध्यात्म-उपदेश नहीं करना चाहिए ।

समाधान :- वर्तमान-काल, साक्षात्-मोक्ष होनेकी दृष्टिसे तो हीन है, परन्तु आत्मानुभव हेतु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट होनेके लिए वर्जित नहीं है। अतः आत्मानुभव-हेतु द्रव्यानुयोगका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। वर्तमानमें भावलिङ्गी-मुनिके होनेका भी निषेध नहीं है। सम्यग्दर्शन भी वर्तमानसे प्रकट हो सकता है, अतः उस हेतुसे तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना कर्तव्य है। ९२३



पुण्यभावको अच्छा समझे व पापभावको बुरा जाने - यह तो बंध-तत्त्वकी समझमें ही भूल है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सुखरूप होने पर भी दुःखरूप लगते हैं सो संवर-तत्त्व विषयक भूल है। आत्मामें शांतिरूप - चारित्रदशा सुखरूप है, उसे जो अज्ञानी दुःखरूप तथा बालूरेतके ग्रास (निवाला) के समान मानता है उसे संवरतत्त्वका पता नहीं है। धर्म, दुःखदायक नहीं परन्तु सुखरूप ही होता है। अज्ञानी, वीतराग-धर्मको दुःखरूप मानकर उसकी असातना करता है । ९२४



सब देवता सच्चे हैं, सभी धर्म सच्चे हैं ऐसी मान्यता विनय-मिथ्यात्व है। वीतराग-सर्वज्ञ प्रभुके धर्मके साथ अन्य किसी भी धर्मका मेल नहीं है। फिर भी समस्त धर्मोंके साथ समन्वय करना विनय-मिथ्यात्व है। यह किसीका विरोध करनेकी बात नहीं है, पर जिनका अभी तो गृहितमिथ्यात्व ही नहीं छूटा उनका विनय करना तो विनय-मिथ्यात्व है।

९२५



रुईकी गाँठों होता हुआ पाँच लाखका नुकसान तो न देखे व बोरीमें रहे रुईके

रेशोंको चूनने लगे तो उससे तो नुकसानकी पूर्ति नहीं होगी। वैसे ही अप्रयोजनभूत-बातें जाननेमें तो उपयोग लगाए तथा प्रयोजनभूत-तत्त्वों - देव-गुरु-शास्त्रको न जाने, तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता। यहाँ कम अथवा अधिक जाननेकी मुख्यता नहीं है, क्योंकि प्रयोजनभूत-तत्त्वोंको पहचानकर उनकी यथार्थ-प्रतीति करनेसे ही मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व होता है। ९२६



जीव क्या अजीव क्या ? - यह तो न जान, तथा शरीरके रोगोंको दूर करने अथवा धनोपार्जन आदि उपायोंसे अपने दुःख दूर करना चाहे, तो वे उपाय तो झूठे हैं। दुःख तो जीवमें है और वह मोहके कारण है, अतः उस दुःखका जीवमें यथार्थ भानकर मोहका नाश करना ही दुःख दूर करनेका उपाय है। ९२७



हम सच मानेंगे तो हमारा लोक-व्यवहार नहीं रहेगा - ऐसा विचार छोड़ दे। मृत्यु होने पर दुनिया साथ नहीं आएगी। स्त्री-सेवनके पाप व मांस-खानेके पापसे भी मिथ्यात्वका पाप अनन्तगुणा भयंकर है। सुदेवको कुदेव मानना व कुदेवको सुदेव मानना, कुगुरुको गुरु मानना, कुशास्त्रको शास्त्र मानना आदि प्रकारकी मिथ्या-मान्यता, मांस-भक्षण व शिकार करनेके पापसे भी अधिक महान पाप है। सात तत्त्वोंकी विपरीत-मान्यता महान पाप है। लोगोंको इस पापकी भयंकरताका आभास ही नहीं है। वे तो ऐसा मानते हैं कि पर जीवकी अवस्था आत्मा कर सकता है। परंतु जगतमें सात तत्त्वकी विपरीत-मान्यता व कुदेवादिको मानने-समान भयंकर अन्य कोई पार नहीं है। ९२८



जीव, विकार तथा स्वभावको एक मान रहा है, अतः यथार्थ विचार नहीं कर पाता। वह यदि मिथ्या-धारणामें अवकाश बनाकर जाने कि विकार कृत्रिम है तथा स्वभाव निरूपाधिस्वरूप है तो भेदज्ञानका अवसर आए, परन्तु अज्ञानीने तो उन दोनोंमें एकता मानी है। दया-दानादिसे धर्म होनेकी मान्यता अर्थात् मिथ्यादर्शनके बलसे वह उन दोनोंमें भेद नहीं करता। व्यवहार करें, कषायको मंद करें तो धर्म हो - ऐसी विपरीतश्रद्धा, स्वभाव व विभानको पृथक् जाननेरूप विचार भी नहीं करने देती। ९२९



किसीको सन्निपात हुआ हो तो वह कभी तो ठीक बोले व कभी तिरस्कार करने लगता है; उसी प्रकार अज्ञानी, कभी तो ठीक जाने व कभी यथार्थरूपसे न जाने, परन्तु अज्ञानीकी श्रद्धा सच्ची न होनेसे उसका ज्ञान कभी सच्चा नहीं है। वह निश्चय-निर्धारण द्वारा श्रद्धापूर्वक कुछ भी यथार्थ नहीं जानता। ९३०



किसीको सत्य बातका खयाल तो आता है परन्तु अपनी महत्ता-प्रदर्शनके चक्करमें उसकी उपेक्षा कर देता है। महान् आचार्योंकी वाणी पढ़कर, सत्य बात कदाचित् खयालमें तो आ जाती है पर उस निमित्तसे अपना मान-पोषण करे तो उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। ऐसा जीव, सत्य जानते हुए भी वीपरीत प्रयोजन-साधता है। आचार्योंके शास्त्रोंका अभ्यास करता है परन्तु अयथार्थ-प्रयोजन अर्थात् जगतमें मान-पूजादि पान तथा सम्प्रदाय-चलाने आदिका प्रयोजन साधनेसे उसे मिथ्याज्ञान ही है। ९३१



प्रश्न :- मिथ्याज्ञानमें निमित्तकारण क्या है ? जीव स्वयं मिथ्याज्ञान करता है। निजस्वरूपके यथार्थज्ञान-बिना मिथ्याज्ञान करता है - उसमें कौनसा कर्म निमित्त है ?

समाधान :- "आत्मा ज्ञानानंद है" - उसे भूलकर परमें लाभ मानता है - ऐसे मोहभावमें मोहकर्म निमित्त है। कर्म, कोई मोह नहीं करवाता परन्तु जीव स्वयं मोह करता है तब कर्म निमित्त कहलाता है। ऐसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता - यह मान्यता ही मिथ्याज्ञानका कारण है। ९३२



सिद्ध-सम आत्माका आंशिक अनुभव होना ही धर्म है। आनन्दकंद प्रभुकी निर्विकार-शान्तिको धर्म कहते हैं। द्रव्यलिंगी-साधु होने पर भी धर्म प्रकट नहीं होता, क्योंकि उसका लक्ष्य अप्रयोजनभूत-विषय पर जाता है। मिथ्याश्रद्धाके कारण अप्रयोजनभूत-विषयमें उपयोग जाता है। ९३३



मेरा द्रव्यस्वभाव ज्ञानस्वरूप है। उसमें द्रव्यके अवलंबनसे सम्यक्-पर्याय प्रकट होती है। ऐसी प्रयोजनभूत बातको मिथ्यादृष्टि लक्ष्यमें नहीं लेता। मिथ्यादृष्टिका तो प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत - दोनों ही प्रकारके पदार्थोंको जाननेका क्षयोपशम है परन्तु



उसका प्रयोजनभूत-तत्त्वको जाननेमें लक्ष्य नहीं जाता - ऐसा दर्शनमोहके कारण है। आखिर क्षयोपशमज्ञान तो क्षयोपशम-ज्ञान ही है। विपरीतश्रद्धा के कारण अज्ञानीका ज्ञान, मिथ्याज्ञान है। ९३४



ज्ञानीका भी प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत - दोनों ही तत्त्वोंको जाननेका क्षयोपशम है, फिर भी मिथ्यात्वके अभावके कारण उसका प्रयोजनभूत-तत्त्वको जाननेमें लक्ष्य जाता रहनेसे वह सुखी होता है। अज्ञानी कदाचित् व्यवहारधारणा तो करता है, परन्तु अंतरदृष्टि नहीं करता जिस कारणसे वह अप्रयोजनभूत-तत्त्वको नहीं जानता है। ९३५



प्रश्न :- यदि ज्ञान हुए पश्चात् श्रद्धान होता हो तो पहले मिथ्याज्ञान व बादमे मिथ्यादर्शन बतलाईए ?

उत्तर :- है तो इसी प्रकारसे, कारण कि जाने बिना श्रद्धान नहीं होता। परन्तु ज्ञानको, मिथ्यकी संज्ञा मिथ्यादर्शनके निमित्तसे व सम्यक्-संज्ञा सम्यग्दर्शनके निमित्तसे मिलती है। ९३६



मिथ्यादर्शनके कारण क्षयोपशमज्ञान अप्रयोजनभूत-विषयमें लगता है, परन्तु देव-गुरु-शास्त्रादि प्रयोजनभूत-तत्त्वके निर्णयमें नही लगता। मेरे परिणाम कैसे, गुण कैसे, देव-गुरु कैसे परिणामोंके-धारक होते हैं, कौनसे परिणामको धर्म व कौनसे परिणामको अधर्म कहते हैं ? ऐसी प्रयोजनभूत-बातों पर अज्ञानीका विपरीत-रुचिके कारण लक्ष्य नहीं जाता। ९३७



स्वभाव उपादेय है व राग हेय है - यह बात अमुक भुमिका पर्यन्त है। परमार्थसे तो सभी ज्ञेय हैं, परन्तु राग दूर हो जाता है, अतः उसे हेय कहते हैं। ९३८



जैसे कुत्ता लकड़ीके प्रति द्वेष करता है और मारनेवालेकी ओर नहीं देखता; वैसे ही अज्ञानी पर-जीवोके प्रति राग-द्वेष करता है, पर अपने पूर्व-कर्मानुसार संयोग मिलते हैं - इस बात पर दृष्टि नहीं देता। ९३९



आत्माके अनुभव-बिना संसारका नाश नहीं होता। तप करना, उपवास करना - ये सब रागका रस है। जिस व्यवहारके कारण संसार-भ्रमण होता है उसे जीव कैसे भला जानकर सेवन करता है ? जिसे व्यवहार अथवा दानादिके भाव अच्छे लगते हैं वह मिथ्यादृष्टि है, तथा दुःखको प्राप्त होता है; तथा जिसने दया-दान, हर्ष-शोकके भावोंको भला माना है उसने मिथ्यात्व-रूपी मद पी रखा है। उसे आस्रव भला लगता है, अनास्रवी-आत्मा अच्छा नहीं लगता। तूँ भ्रमसे भूला हूँ है, अतः, इस दृष्टिपूर्वक अनुभव कर - वही एक मात्र धर्मकी रीत है। ९४०



केवलज्ञानकी पर्यायको भी न देख। पूर्वमें अवस्था शुद्ध न थी, व बादमें शुद्ध हुयी - ऐसे भेदको न देख। गुप्त व प्रकट-अवस्थारूपी भेद यानी कि द्रव्य व पर्यायके भेदको न देख ! एक समयमें विकार होने पर भी शक्ति तो ऐसी की ऐसी ही है; और अवस्था प्रकट हुयी तब भी शक्ति ज्योंकी त्यों है - ऐसी श्रद्धा सुखका मूल है। ९४१



ज्ञान तो स्व-पर-प्रकाशक है। इसका विवेक ऐसा होता है कि द्रव्य-दृष्टिसे आत्मामें निमित्त-नैमित्तिक संबंध है ही नहीं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पर्यायदृष्टिमें कर्म-नौकर्ममें तनिक भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं है। हाँ, सामान्य-स्वभावदृष्टिमें सिद्धदशा, रागादि, कर्म-नेकर्म संबंध आदि सब अभूतार्थ है। द्रव्यदृष्टिसे ये कुछ नहीं है, परन्तु पर्यायदृष्टिसे ये सब विषय हैं। जो ऐसा न जाने तो एकान्त हो जाए, अतः जैसा है वैसा जानना चाहिए - तभी ज्ञान समयक होता है। ९४२



भूतकालमें जिस पर्यायमें अशुद्धता हुयी थी - वैसी योग्यता, पर्यायदृष्टिसे, आत्मामें थी ही नहीं - ऐसा नहीं है। पर वर्तमान दृष्टि बदली तब जाना कि भूलकालकी जो पर्याय हुयी सो हूयी, परन्तु मेरा स्वभाव व शक्ति तो शुद्धरूप ही होनेवाली है - ऐसा समझना चाहिए। वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही न समझे तो वह ज्ञान मिथ्या है, अर्थात् असत्य है। सत्ज्ञान, सत्दर्शन व सत्चारित्र तो मोक्षमार्ग है, अतः जैसा है उसरूप सच्चा ज्ञान करना चाहिए। ९४३



निश्चयसे आत्मा शुद्ध है । पर उसकी पर्यायमें रागादि, अशुद्धता होने पर भी जो पर्याय अपेक्षासे भी वर्तमानमें शुद्ध मानता है वह मिथ्यादृष्टि है । मोक्षामार्गमें तो रागदिक मिटनेका श्रद्धान, ज्ञान व आचरण करना होता है । जिसके द्वारा विकारका नाश हो वही मोक्षमार्ग है । श्रद्धामें विकारका आदर नहीं, ज्ञानमें विकारका उपादेय नहीं तथा आचरणमें भी राग न करे -यही मोक्षमार्ग है । ९४४



प्रश्न :-शास्त्रमें तो ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत तो अल्प भी जनना कार्यकारी है, अतः विकल्प किस लिए करना ?

उत्तर :- सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थका ज्ञान आवश्यक है । जो जीव बहुत जानता है पर प्रयोजनभूत-बात नहीं जानता उसे निर्देश दिया है कि प्रयोजनभूतको जानो । अथवा जिसमें बहुत जानने-समझनेकी योग्यता नहीं है उसके लिए उक्त उपदेश है । जो अल्पबुद्धि है, उसको कहा गया है कि अल्प ही पर प्रयोजनभूत जानो । ९४५



"मैं तो ज्ञायक आत्मा हूँ" - ऐसी सामान्य-दृष्टि तो सदा ही रखनी चाहिए । सामान्य आत्मा पर दृष्टि रखते हुए विशेष ज्ञान करना ही निर्मलताका कारण है । अज्ञानी तो ऐसा एकान्त तर्क करता है कि विशेष ज्ञानसे विकल्प होते हैं, उसे समझाया है कि ज्ञानकी विशेषता तो निर्मलताका कारण है । ९४६



जैसे किसी ८० वर्षके वृद्धके सिर-पर चार मनका बोझा हो तो वह पूर्णिमाके चन्द्रमाको नहीं देख सकता, वैसे ही जीव-पर संसारका बहुत अधिक बोझ हो तो वह इसे विषय पर विचार नहीं कर सकता । संसारमें अनन्तकाल बीत गया पर जन्म-मरण रहित आत्माकी रुचि नहीं है, अतः अपूर्वका प्रकट नहीं होती । ९४७



आत्मा ज्ञायक है, विकारसे रहित है, चिदानन्द-मूर्ति है - इस बातके विश्वासका योग आसान नहीं है । सेठायी होना व काम-भोग-बंधनकी कथा सुननेका योग तो बहुत ही सुलभ है । राज्यपद, चक्रवर्तीपद मिलना भी दुर्लभ नहीं है । परन्तु बहुत परिश्रमसे मिलने योग्य बात तो आत्माकी है । यह एक ही बात सर्वोत्कृष्ट व आत्मसात् करने योग्य है ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्रकी बात अति-दुर्लभ है, क्योंकि जीवने आज तक उसका पुरुषार्थ ही नहीं किया है। परका ही लक्ष्य किया होनेसे आत्माकी बात दुर्लभ हो गई है। जीवको प्रयोजनभूत-बातकी रुचि ही नहीं है, सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो - उसका भान ही नहीं है। इन्द्रजित-पैसा आदि मिलना कोई दुर्लभ नहीं है। शरीर, मन, वाणीसे आत्मा भिन्न है - यह बात जिसको जचती है उसीने यथार्थतः आत्माकी बात सुनी है। ९४८



प्रतिज्ञा तो तत्त्वज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। सम्यग्दर्शन होनेके बाद व्रतादिके शुभ-विकल्प आते हैं। आनन्दस्वभावमें लीन होऊँ - धर्मीको ऐसी भावना होती है। प्रतिज्ञा-लिए बिना, आसक्तिका नाश नहीं होता। प्रथम तो स्वभावका भान होना चाहिए। ९४९



कोई समप्रदायमें जन्म लेनेसे जैन नहीं होता परन्तु गुणसे जैन हुआ जाता है। जैन तो मोह-राग-द्वेषको जितनेवाला है, फिर भी यदि वह रागसे धर्म माने तो जैन नहीं है। जिसे अंतरमें रागकी रुचि है वह जैन नहीं है। ९५०



जैसे अर्हतप्रभुका लक्षण वीतरागता और केवलज्ञान है परन्तु बाह्य समवशरण लक्षण नहीं है; मुनिका लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है, बाह्य-नग्न शरीर नहीं; वैसे ही शास्त्रका (मुख्य) लक्षण नवतत्त्वों तथा यथार्थ रत्नत्रयरूप-मोक्षमार्गका निरूपण है, दया-दानादिका विवेचन उसका मुख्य लक्षण नहीं है।

लक्षण तो उसे कहते हैं कि जो उसी पदार्थमें हो व अन्य पदार्थमें न हो। हमारे भगवानके पास देवगण आते हैं - यह कोई लक्षण नहीं है। अनन्त-चतुष्टयकी प्रकटताके लक्षण ही से अर्हन्तकी पहचान होती है। ९५१



शास्त्रोंमें जैसे जीवादि-तत्त्व बतलाए हैं वैसे ही अज्ञानी सीख लेता है और उसीमें उपयोग लगाता है तथा दूसरोंको उपदेश देता है। परन्तु उसे तत्त्वोंका भाव-भासित नहीं होता जिससे सम्यक्त्व नहीं होता।

वस्तुके भावका ही नाम तत्त्व कहा गया है। अर्थ यानी पदार्थ-वस्तुके भावका ही नाम तत्त्व है। राग करते-करते धर्म होगा-अज्ञानी तो ऐसा मानता है, उसे भाव-भासन नहीं है।

मैं, राग व शरीरसे भिन्न हूँ, जीव तत्त्व हूँ, शरीर अजीव है, राग आस्रव है-ऐसा भाव-भासन होना चाहिए। ९५२



जैसे किसीने संगित-शास्त्रादिका अध्ययन किया हो या न किया हो परन्तु यदि वह स्वरादिके स्वरूपको पहचानता है, तो भी वह चतुर है। वैसे ही किसीने शास्त्राभ्यास किया हो या न किया हो पर यदि उसे जीवके भावका भासन है तो वह सम्यग्दृष्टि है। पुण्य-पाप दुःखदायक है, अधर्म है; रागरहित-परिणाम शान्तिदायक है। मैं शुद्ध ज्ञायक हूँ तथा शरीर, कर्म आदि अजीव हैं - जिसे इस प्रकार भाव-भासन हो वही सम्यग्दृष्टि है। कदाचित् वर्तमानमें शास्त्रका बहुत अभ्यास न हो तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है। ९५३



कंचन, कामिनी और कुटुम्ब - इन तीनोंका त्याग करो तो धर्म होगा, अज्ञानी ऐसा कहते हैं। वे तो छूटे हुए ही हैं, फिर भी मैं उनको छोड़ता हूँ - यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आत्मा उनसे पृथक् है व रागरहित है - ऐसे आत्माके भानपूर्वक राग छूटे, तो ही कंचन, कामिनी व कुटुम्बरूपी- निमित्त छूटे हुए कहलाए, अन्यथा निमित्त भी छूटे हुए नहीं कहलाते। स्वरूपमें लीन होना सो चारित्र है, बाह्य-त्याग चारित्र नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि बाह्य-वस्तु त्यागो तो अंतरमें राग छूटेगा, पर वह बात मिथ्या है। ९५४



आत्मामें जो पंचमहाव्रत-भक्ति आदिके परिणाम होते हैं सो शुभराग है, आस्रव है। उस रागको आस्रव मानना व उसे संवर भी मानना तो भ्रम है। एक शुभराग है - वह आस्रव और संवर दोनोंका ही कारण कैसे हो सकता है ? मिश्रभावका ज्ञान तो सम्यग्दृष्टिको ही होता है। सम्यग्दृष्टिको भी जितना रागांश है, वह धर्म नहीं है। राग रहित व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप-भाव ही धर्म है। "मैं ज्ञायक हूँ" - ऐसे स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितना वीतराग-भाव हुआ, उतना संवर धर्म है; तथा उसी समय जो रागांश है, सो आस्रव है। एक ही समयमें ऐसे दोनो भाव मिश्ररूप हैं, धर्मी जीव उन दोनों को भिन्न भिन्न पहचानता है। प्रथम व्यवहार व बादमें निश्चय - ऐसा नहीं है। व्यवहारका शुभराग तो आस्रव है। आस्रव, संवरका कारण कैसे हो सकता है? प्रथम व्यवहार (करो) और व्यवहार करते-करते निश्चय होता है - इस दृष्टिके कारण ही तो

सनातन-जैन-परंपरासे भटक कर श्वेतांबर हुए हैं। और दिगम्बर-समप्रदायमे रहकर भी यदि कोई ऐसा मानेकी राग करते-करते धर्म होगा, व्यवहार करते-करते निश्चय होगा - तो ऐसी मान्यतावाले श्वेताम्बर जैसे ही अभिप्रायवाले हैं, उन्हें दिगम्बर-जैन-धर्मका पता ही नहीं है। ९५५



'नियत' का निर्णय पुरुषार्थसे होता है। जिस समय जो होनेवाला है सो होने ही वाला है - ऐसा निर्णय पुरुषार्थसे होता है। पुरुषार्थ स्वभावमें (रहना) है तथा स्वभाव ज्ञानस्वरूप है। ९५६



अज्ञानी कभी शास्त्रानुसार विवेचन भी करता है परन्तु उसे अंतरंगमें स्व-परका भेदज्ञान नहीं है। आत्माश्रित निर्णय न किया होनेसे शास्त्रानुसार बातें करे तो भी उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जाता। अफिमची मनुष्य किसी समय माताको कदाचित् माता ही कहे तो भी वह वास्तविक नहीं है। दिगम्बर नाम धारण किया हो पर यदि इस मूल बातको नहीं समझते तो वे सच्चे दिगम्बर ही नहीं कहलाते, क्योंकि वे जिस प्रकार शास्त्र-चिन्तन करते हैं उस अनुसार अंतरंगमें भाव-भासन ही नहीं हुआ है। जैसे अन्यको अन्यसे भिन्न बतलाते, वैसे ही शरीरादिको आत्मासे भिन्न बतलाते हैं; परन्तु अंतरमें वैसे भिन्नताका भाव-भासित नहीं होता। जिस कारणसे जीव-अजीवकी भिन्नताकी यथार्थश्रद्धा ही नहीं है।

९५७



आत्माका हित तो मोक्ष ही है। संसार-अवस्थामें दुःख है; वहाँ दुःख चाहे अल्प हो या अधिक, किन्तु सुख बिल्कुल भी नहीं है। चारों गतियों में दुःख है। आकुलता ही दुःख है। स्वर्गकी इच्छा-वश पुण्य करे अथवा नरक-तिर्यचके दुःखोंके भयसे पाप न करे - तो उससे कल्याण नहीं है; उसमें तो आकुलता है, शान्ति नहीं। "आकुलता सो दुःख है व निराकुलता सो सुख है" ऐसा निर्णय किए बिना, मोक्षमार्गमें प्रवेश ही नहीं हो सकता।

९५८



प्रश्न : उपवासादि करना या नहीं ?

उत्तर :- जिस क्षण आहार मिलने वाला नहीं है, उस क्षण तूँ आहार कर - ऐसा नहीं कहा जाता। और जिस क्षण रागकी मन्दता होनी है, वह न कर - यों भी नहीं कहा जाता। पुनः राग चाहे तीव्र हो या मन्द, पर वह धर्म नहीं है। जिस समय जो राग उठता है उसका निषेध नहीं किया जा सकता; और यदि आहार न मिलने वाला हो तो उसे पानेके लिये नहीं कहा जा सकता। "मैं तो चैतन्यस्वभावी हूँ, रागकी मन्दता करने वाला नहीं" - जो ऐसी रुचि, ज्ञान व ऐकाग्रताका पुरुषार्थ करता है उसे तथानुकूल विकल्प व निमित्त होते ही हैं। परन्तु राग अथवा निमित्त-हेतु प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मोक्ष उपाय करना ही इस उपदेशका तात्पर्य है। निमित्त जुटाना या राग करना आदि रूप अभिप्राय इस उपदेशमें ही ही नहीं। ९५९



स्वभावकी सामर्थ्य, विकारकी विपरीतता तथा संयोगोकी भिन्नताका निर्णय करे तो सम्यग्दर्शन हो। स्वयं समझपूर्वक दिशा-बदले तो कार्यकारी हो। निमित्त, राग व पर्यायकी रुचि छोड़कर, स्वभावकी रुचि करे - तो सभी पुरुषार्थ सच्चा है। ९६०



अज्ञानी, स्वभाव-सन्मुखताका प्रयत्न नहीं करता वरन् राग ही के साधन पकड़ता है, अतः उसका भ्रम दूर नहीं होता। यदि स्वभावके आश्रय-पूर्वक निर्णय करे तो भव्य-अभव्य विषयक शंका नहीं रहती। जो सत्-उपदेश सुनकर निर्णय करे, उसकी भ्रमणा दूर हो जाती है। स्वभाव-सन्मुख होकर निर्णय करनेसे वर्तमान् परिणाममें विशुद्धता होती जाती है। ९६१



तत्त्वार्थ-श्रद्धान करनेके लिये कहा गया उसमें तत्त्व व अर्थ - दोनों ही का निर्णय करने की बात है। द्रव्य, गुण व पर्याय - तीनों अर्थ हैं। तीनों सत् हैं, उन तीनोंका स्वरूप ही उनका तत्त्व है। एक-एक समयकी पर्याय भी सत् है। वह त्रिकाल नहीं है, परन्तु वर्तमान जितनी सत् है। जो पर्यायको सत् नहीं मानता, उसे अर्थकी ही श्रद्धा नहीं है। वस्तु क्या व उसका भाव क्या ? - उन दोनोंको जाने बिना, यथार्थ तत्त्वार्थ-श्रद्धान नहीं होता। प्रत्येक समयकी पर्याय सत् है, तथा यह भी जानना चाहिए कि उसका भाव मलिन है अथवा निर्मल। आस्रव भी तत्त्व है, तथा वह मलिन-भाव है, संवर निर्मलभाव है। ९६२



जीव, अर्थ है तथा ज्ञायकता उसका भाव है। अजीव, भी अर्थ है और अचेतनता-जड़ता उसका भाव है। संवर-निर्जरा, अर्थ है व वीतरागता उसका भाव है। आस्रव-बंध, अर्थ है और मलिनता उसका भाव है। केवलज्ञान-पर्याय भी अर्थ है व तीनकाल-तीनलोकको एक समयमें जानना उसका भाव है। इस प्रकार अर्थ व उसके तत्त्वको जानें तो यथार्थ श्रद्धा हो। इसलिये तत्त्वार्थ-श्रद्धानको सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है। ९६३



कदाचित् लाखों मनुष्य उपदेशके निमित्तसे समझे, परन्तु उपदेशकको लाभ नहीं है। वाणीका परिणमन आत्माके अधीन नहीं है। परद्रव्यका परिणमन भिन्न है। जीव-अजीवका श्रद्धान कर निज-हितार्थ परसे उदासीन होनेका शास्त्र निर्देश है। परन्तु मैं परके निमित्तसे उदासीन होऊँ - ऐसा नहीं कहा है। ९६४



स्व-परका श्रद्धान होने पर, अपनेको परसे भिन्न जाने तो स्वयंके आश्रयसे संवर-निर्जरारूप दर्शन-ज्ञान-चारित्रका उपाय करे; और परद्रव्योंका अपनेसे भिन्नरूप होनेका श्रद्धान होने पर, परके लक्ष्यसे होनेवाले पुण्य-पाप व आस्रव-बंधको छोड़नेका श्रद्धान होता है। स्वयंको परसे भिन्न जानने पर निज-हितार्थ प्रवर्तन करे, तथा परको अपनेसे भिन्न जाननेपर उनके-प्रति उदासीन हो व रागादिक छोड़नेका श्रद्धान हो। इस प्रकार सामान्यरूपसे जीव-अजीव दोनों ही जातिको जाने तो मोक्ष हो। ९६५



प्रश्न :- विपरीत-अभिनिवेश रहित श्रद्धान करनेके लिए कहा, उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :- अभिनिवेशका अर्थ अभिप्राय होता है, जैसा कि तत्त्वार्थ-श्रद्धानका अभिप्राय है। उससे विपरीत अभिप्राय होने पर विपरीत-अभिनिवेश होता है। जैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसा ही अभिप्राय होना चाहिए। तत्त्वार्थ-श्रद्धान करनेका अभिप्राय उसका निश्चय करना मात्र ही नहीं है; परन्तु जीव-अजीवको भिन्न जानकर, अपनेको परसे भिन्न जानना है। ९६६



कोई कहता है कि मुझे याद नहीं रहता परन्तु भाव-भासन तो है, कहते हैं कि



जिसको भाव-भासन है, उसकी वाणीमें कभी विपरीत बात नहीं आती । (ज्ञानी) तिर्यच, विकारका आदर नहीं करता किन्तु अविकारका आदर करता है; और यह हितरूप है - ऐसा उसके ज्ञानमें परिणमित होता रहता है। इस बातमें सातोंका तत्त्वोका श्रद्धान समाहित हो जाता है।

और जिन्होंने उल्टी लकड़ियाँ डाली होंगी, उन्हें वे सब निकालनी चाहिए; अर्थात् इस विषयमें तो सभी पहलूओंसे विपरीतताको सम्पूर्णतः दूर करें, तभी तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है। (ज्ञानी) तिर्यचको भले ही विशेष ज्ञान न हो परन्तु उसे स्वभाव, विभाव तथा स्व-परका यथार्थ श्रद्धान होता है। ९६७



इस ज्ञायकमेंसे ही आनन्द व शक्ति आती है; इन शब्दोंकी (सम्यक्-दृष्टि) तिर्यचको भले ही खबर न हो, पर उसे इसका भाव-भासन सतत रहता है। यदि शब्दाभिवक्ति कर सके, परन्तु भाव-भासन न हो तो उसे जीव-तत्त्वका पता ही नहीं है। इसके विपरीत चाहे नाम भी न जाने, परन्तु आत्माका निजरूप तथा अजीव-पुद्गलका पररूपसे श्रद्धान हो तो उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। इस प्रकार सामान्यरूपसे जीव-अजीवका श्रद्धान (सम्यग्दृष्टि) तिर्यचोंको भी होता है। ९६८



यदि तिर्यचको भी सात तत्त्वोंका भान न हो तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता: क्योंकि यदि वह जीवकी जाति ही न जाने तो स्व-परको न पहचान पाए व फलस्वरूप परमें रागादिरूप कार्य किए बिना न रहे। लेकिन पशुको भी जीव-अजीवका श्रद्धान हो जाया करता है जिससे वह परमें रागादिके कार्य नहीं करता। कोई-कोई मेढ़क, चिड़िया भी आत्मज्ञान पा लेते हैं - इन्हें जीव-तत्त्वका यथार्थ भान होता है। मेरा तो चैतन्यस्वभाव है; वैसा परमें नहीं है अतः पर सो मैं नहीं और पर मुझमें नहीं है - ऐसे परसे भिन्न "निज स्वरूपको" (सम्यग्दृष्टि) पशु पूर्णतः जानता है, और उसे परमें एकत्वबुद्धि होकर रागादि नहीं होते। ९६९



आत्माकी श्रद्धामें सातों तत्त्वोंकी श्रद्धा गर्भित है, परन्तु इस बहाने कोई सामान्यरूपसे स्व-परको अथवा आत्माको जानकर ही कृतकृत्यता मान ले तो, वह तो भ्रमणा है। पुण्य-

पाप, दया-दानादि-विकार हेय है, यह भासित हुए बिना आत्माका सच्चा ज्ञान नहीं होता। जो बंधके फलको हितकर मानता है वह बंधको ही हितकारी मानता है। इस प्रकार कोई जीव सामान्य रूपसे केवल आत्माको ही जान कर कहे कि मेरा कार्य पूरा हो गया - तो यह तो भ्रमणा है। ९७०



सातों तत्त्वोंको जाने-बिना आत्माकी श्रद्धा नहीं होती। एक जीव-तत्त्वको जाननेमें सातों ही तत्त्वोंका ज्ञान हो जाता है। जीव-तत्त्व केवल सामान्यस्वरूप ही नहीं परन्तु अपने विशेषों-सहित है। जीव-अजीव सामान्य हैं तथा आस्रवादि शेष पाँच तत्त्व उनके विशेष हैं। अज्ञानीजन उन्हें जाने-बिना ही व्रत-तपमें धर्म मानते हैं। नय-निक्षेप-प्रमाण द्वारा रागरहित-वस्तुका ज्ञान करना, वह प्रथम योग्यता है; तत्पश्चात् स्वभावके लक्ष्यसे रागका अभाव होता है - यह प्रयोजनभूत व कीमती बात है। यब बात रह जाए, तो फिर कुछ भी कार्यकारी नहीं है। ९७१



शुभ व अशुभ भाव... दोनों ही अभाव करने हेतु हैं। जिसे यह हेतु भासित नहीं होता वह मात्र ज्ञानसे मान का ही पोषण करता है। अज्ञानी कहते हैं कि जीव मात्र-ज्ञानस्वरूप है - यह हम जानते हैं। परन्तु रागदि नाश करने योग्य हैं, शुभभाव भी लाभकारी नहीं हैं, आदर करने योग्य नहीं हैं - ऐसा ज्ञान न करे, तो उनकी कार्य-सिद्धि किस प्रकार हो ? - नहीं हो सकती। केवल आत्मा अथवा स्व-परको ही जाने परन्तु उनके पांच विशेषों (आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष) को न जाने तो ऐसा जानपना कार्यकारी नहीं है। ९७२



निर्विकल्प-दशा, प्रकट होनेकी अपेक्षासे नव-तत्त्वोंके विकल्प छोड़नेकी बात की है। नव तत्त्वोंका ज्ञान तो है परन्तु उनके भेदोंके लक्ष्यसे राग होता है अतः उन्हें छोड़नेका निर्देश दिया है। ज्ञान, नवतत्त्वोंको जाने सो रागका कारण नहीं है वरन् वह तो निश्चय सम्यक्त्व है। नव तत्त्वोंका ज्ञान तो यथार्थरूपसे करना है, परन्तु उनके विषयमें उठने वाले विकल्पोंका निषेध किया है। ९७३



पर्यायमें अपने ही कारणसे अशुद्धता है ऐसा मानकर, यों मानेकी अकेला आत्मा ही शुद्ध है, तो वह निश्चयाभासी है। भक्ति आदिका राग तो मुनिको भी आता है, फिर भी ऐसा माननेवाला कि नीचली भूमिकामें वैसा राग नहीं होता - निश्चयभासी है। तथा जो राग होता है, उसे आदरणीय माननेवाला व्यवहाराभासी है। वे दोनों ही मिथ्यादृष्टि हैं। चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त असिद्धत्वभाव होता है - जो ऐसा माने तो वास्तवमें निश्चयको ही नहीं जाना। यहाँ कहे गये निश्चयावलंबीका अर्थ, निश्चयको जानना नहीं है; परन्तु ऐसा अर्थ है कि निश्चयकी बातें करता है, लेकिन निश्चयको यथार्थरूपसे नहीं जानता। यदि कोई जीव निश्चयाभासके श्रद्धानवाला होकर अपनेको मोक्षमार्गी माने तो वह निश्चय-व्यवहार दोनोंको ही यथार्थरूपसे नहीं जानता। ९७४



सर्व विद्याओंमें आत्मविद्या को ही प्रधान बतलाया है। उस अध्यात्मविद्याका रसिक-वक्ता हो तो शोभास्पद है। शस्त्र-निर्माणकी विद्या, यंत्र, जंत्र, तंत्र आदिकी विद्यायें तो लौकिक-विद्या हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। जिसे इसकी दृष्टिपूर्वक संसारका रस छूटा है वह अध्यात्म-रसका रसीया है। ९७५



जो सच्चे मुनिके उपदेशका मर्म बतलानेवाला तथा जैन-धर्मका श्रद्धालु हो, उसी वक्ताका उपदेश सुनना योग्य है। परन्तु जो मिथ्यादृष्टि हो, शिष्योंको बनाए रखनेका लालची हो, धनादिका लोभी हो, वैसे वक्ताका उपदेश नहीं सुनना चाहिए। मात्र धर्मोपदेश-दाता ही अपना व दूसरोंका भला करते हैं। परन्तु जो कषायवश उपदेश देते हैं वे अपना बुरा करते हैं और दूसरोंके बुरा होनेमें निमित्त होते हैं। ऐसा वक्ताका स्वरूप है। ९७६



जिसकी भली होनहार है उसी जीवको ऐसा विचार आता है कि "मैं कौन हूँ" ? मैंने कहाँसे आकर यहां जन्म लिया ? मर कर कहाँ जाऊँगा ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह कैसा चरित्र-निर्माण हो रहा है ? आदि। वह इनके निर्णयमे लगता है कि आत्मा, शून्यमेंसे आया है अथवा पूर्व-भवमेसे? मैंने कौन से कुलमें जन्म लिया है ? मैं कौन हूँ तथा मर कर कहाँ जाऊँगा अर्थात् इस देहके छूटने पर कहाँ स्थिति होगी ? ऐसा विचारवान श्रोता होना

चाहिए। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? और यह सब वर्तन कैसे हो रहा है ? खाना-पीना व्यापार-धन्धा आदि हो रही क्रियाएँ क्या हैं ? मुझे ये जो भाव होते हैं अर्थात् कुटुम्ब-व्यापार-शरीरादि संबंधित होने वाले पाप-भावोंका क्या फल होगा? और यह जीव कैसे दुःखी हो रहा है - ऐसे विचार करनेवाला ही योग्य श्रोता है। जिसको दुःख ही नहीं लगता वह पात्र श्रोता नहीं है। ९७७



जो जीव, लौकिक-अनुकूलतामें ही खो गया हो यानी उसे वर्तमानमें दुःख ही न लगता हो, वैसा श्रोता धर्म-श्रवणके योग्य नहीं है। ९७८



जो धर्मबुद्धिवश निंद्य कार्योका त्यागी हुआ है वैसा जीव ही शास्त्र-श्रोता होना चाहिए। जो कार्य लौकिकरूपसे भी शोभा-जनक नहीं है उन कार्योका करनेवाला श्रोता होने योग्य नहीं है और ऐसा जीव कभी वक्ता तो हो ही नहीं सकता। ९७९



निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो प्रत्यक्ष देखे जाते हैं तो उनमें बंधन नहीं है - क्या ऐसा कहा जा सकता है ? जो यदि बंधन न हो तो मोक्षमार्गी उनके नाशका उद्यम क्यों करते हैं ?

जो निमित्त-नैमित्तिक संबंधको नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी तो मानता है कि स्त्री-देह हो फिर भी मुक्ति होती है वह निमित्त नैमित्तिक संबंधको नहीं मानता। स्त्री, तो तीनकालमें भी छठे गुणस्थान तक नहीं चढ़ पाती - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। क्योंकि स्त्री-देहमें रहे हुए जीवकी ऐसी ही योग्यता होती है, तथा ऐसा न स्वीकर करनेवाला गृहीत-मिथ्यादृष्टि है।

वीतराग-मार्ग तो अलौकिक है। लोग निज-कल्पनासे जैसा मानते है वैसा यह मार्ग नहीं है। आँखमें कण एक बार भले ही सहन हो जाए परन्तु सच्चे मार्गमें तिल-भर भूल भी नहीं चलती - यह समझ लेना चाहिए।

आत्मामें भाव-बंधन ही न हो तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानानन्द-स्वभावमें स्थिर होकर विकारका नाश किसलिए करता है ? अतः पर्यायमें बंधन है - ऐसा समझ लेना चाहिए।

जिसे स्वभावकी रुचि हुयी है, वह जीव यदि तत्त्वज्ञानका अभ्यास करे तो दर्शन-ज्ञान निर्मल होते हैं। क्षायिकसम्यग्दर्शन तो निर्मल है ही परन्तु ज्ञानमें भी विशेष निर्मलता होती है। ९८१



सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि हो - दोनोंको ही चारों अनुयोगोंका अभ्यास कार्यकारी है। उनमें भी द्रव्यानुयोगके अभ्यासकी मुख्यता है, क्योंकि मूलभूत-निरूपण तो उसीमें है।

९८२



सम्यग्दृष्टि, निर्विकल्प-अनुभवमें नहीं रह सकते इसलिए उन्हें भी शास्त्राभ्यासके भाव उठते हैं। ऐसे शुभरागको, निर्विकल्पअनुभवकी अपेक्षा हेय कहा है। निर्विकल्प-अनुभवमें रहना तो सर्वोत्तम है। परन्तु, छद्मस्थका उपयोग नीचली-दशामें आत्मस्वरूपमें अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाता, अतः ज्ञानकी विशेष निर्मलता हेतु शास्त्राभ्यासमें बुद्धि लगान योग्य है। निश्चयाभ्यासी तो उसका सर्वथा निषेध करता है; परंतु अरे भाई ! तुझे अन्य राग तो आते हैं तो फिर शास्त्राभ्यास में ही उपयोग लगाना याग्य है। उसमें जो राग है, सो तो दोष है; परन्तु तीव्र (अप्रशस्त) रागकी अपेक्षा शास्त्राभ्यासमें संलग्न रहना योग्य है। सम्यग्दर्शन होने पर कोई पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती। सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी राग तो आता है। हाँ, जो निर्विकल्प-आनन्दमें ज्ञान-पर्याय एकाग्र हो जाए तो श्रेयस्कर है; परन्तु जब निर्विकल्प-आनन्दमें न रह सके, तब स्वाध्याय, पूजा, देव-गुरुकी भक्ति आदि प्रशस्त राग-कार्योंको छोड़कर, विकथा आदि निंदनीय-प्रवृत्तियोंमें लगनेसे तो महान् अनर्थ होता है। ९८३



धारणा करके जो अनुभव तक नहीं पहुँच पाते तो उस धारणाका (बहुधा) अभिमान हुए बिना नहीं रहता। ९८४



किसी ज्ञानीका धारणा ज्ञान अल्प भी हो; परन्तु प्रयोजनभूतज्ञान तो समीचीन होता है, अतः विरोध नहीं होता। वह कदाचित् विशेष स्पष्टीकरण न कर सके, परन्तु उसे स्वभावकी अपेक्षा तथा परकी उपेक्षा होनेसे ज्ञान प्रति समय विशेष-विशेष निर्मल होता

जाता है, उसे सामान्यकी तुलनामें अधिक बलवान समझना चाहिए। ९८५



आत्माके आश्रयसे प्रकट हुए ज्ञान द्वारा ही निर्णय होता है। वास्तवमें शास्त्राभ्याससे ज्ञान निर्मल नहीं होता। यह तो अज्ञानी, आत्माके यर्थाथ-स्वरूपको नहीं जानता और फिर भी शास्त्राभ्यासका निषेध करता है, अतः इसे निमित्तसे कथन कर बतलाया है कि शास्त्रके विशेष अभ्याससे ज्ञान निर्मल होता है। यदि शास्त्रसे ही ज्ञान होता हो तो अधिक शास्त्र-अभ्याससे आत्म-निर्मलता होती - परन्तु ऐसा नहीं है। आत्माके ही आश्रयसे ज्ञान विकसित होता है, उसमें शास्त्राभ्यास तो निमित्त मात्र है। आत्माके आश्रयसे निर्णय होता है, इसी बातको निमित्त अपेक्षासे कहते हैं कि शास्त्रके अभ्याससे निर्णय होता है। ९८६



रोग तो, चाहे अधिक हो अथवा अल्प, खराब ही है; परन्तु १०५ डिग्री की अपेक्षासे १०९ डिग्रीका ज्वर अच्छा कहलाता है। उसी प्रकार शुद्धोपयोग न हो तब अशुभभावसे हटकर शुभभावमें प्रवर्तन करना योग्य है। इस बातके मर्मको न समझे तो या तो एकान्त शुभभावमें जुड़ जाए या शुभको छोड़कर अशुभमें भटक जाता है। पर जो शुद्धोपयोगका अभ्यास नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है। वीतराग-मार्ग तो अलौकिक-मार्ग है, उसे समझनेके लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए। ९८७



आत्माका स्वरूप परिपूर्ण है...ऐसा अंतरभाव न हुआ और पुण्य-छोड़कर पापमें प्रवर्तन करे तथा शास्त्रकी ओट लेकर कहे कि "मुझे भी सम्यक्दृष्टिके समान बंधन नहीं है", तो वह निश्चयाभ्यासी-मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानीको तो पर्यायका विवेक वर्तता है। ९८८



आत्मा आनन्द-स्वरूप है व विकार मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा भान होते ही पर्यायमें आनन्दका अंश स्फुरित हुआ, तभी रागरहित-दशा हुयी कहलायी - यही अनेकान्त है।

९८९



स्वभाव-ओर झुके हुए ज्ञान ने ही स्वभावको उपादेय माना है तथा रागकी रुचि छूटना ही रागकी हेयता है। स्वभाव, उपादेय व राग हेय...ऐसा विकल्प करना कोई

कार्यकारी नहीं है। अज्ञानी तो विकल्पका नाश करनेका उद्यम ही नहीं करता। अज्ञानी, विकार-विमुखता व स्वभाव-सन्मुखता ही नहीं करता। रागादि-परिणाम हेय हैं... अज्ञानीके ऐसा श्रद्धान संभवित ही नहीं है। आत्मा उपादेय है, संवर-निर्जरा कथंचित्-उपादेय हैं तथा पुण्य-पाप, आस्रव-बंध हेय हैं... ऐसी प्रतीति-बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। यही जीव-अजीवादि सातों तत्त्वोंके श्रद्धानका प्रयोजन है । ९९०



स्व-पर जानना कोई उपाधि नहीं है तथा विकारका कारण भी नहीं है। अज्ञानी कहता है कि "मुझे पर-द्रव्यको जाननेसे रागादि होते हैं, अतः किसी भी परद्रव्यका लक्ष्य नहीं करना चाहिए" ...तो वह स्व-परप्रकाशक ज्ञानकी स्वच्छताको ही नहीं जानता। ज्ञानी तो जो कुछ भी जानता है उसे सम्यग्ज्ञानकी स्वच्छता ही समझता है, उसमें रागका अभिप्राय नहीं होता। अतः उसे ज्ञाताभावसे जितना ज्ञान होता है उतनी ही वीतरागता है । ९९१



जिनागममें व्यवहारकी मुख्यतासे उपदेश है; परन्तु व्यवहारकी मुख्यतासे धर्म-लाभ होत है, एसा कथन कहीं भी नहीं है। फिर भी अज्ञानी जीव पराश्रय-भावोंको भला मानकर, बाह्य-साधनादिका श्रद्धान करता है, उसे धर्मके सर्व-अंग अन्यथारूप फलित होकर - मिथ्यात्वभावको प्राप्त होते हैं। ९९२



धर्म, उसका स्वरूप तथा उसके फलादि क्या हैं ? - उनका यथार्थ निर्णय-पूर्वक ही धर्म-अंगीकार करना चाहिए। परन्तु समझे बिना ही कुलाचार-अनुसार वर्तन करना सो धर्म नहीं है। अनुभवी ज्ञानीके समागममे रहकर, पात्रता-पूर्वक यथार्थ-मार्ग पहचानकर, असत्य-मार्गका अन्यथारूप जानकर, वास्तवतः सच्चे जैनधर्मको ही मानना। यदि निर्णय किए बिना ही शास्त्र-कथनको सत्य मान ले तो वह हठसे, पक्षसे माना हुआ है। अतः उसे हितकर-अहितकर मार्गका ही निर्णय नहीं है। उसे तो अन्यमती-सम नहीं जानना।

९९३



दिगम्बर-जैनमतका अनुयायी होने पर भी जिसे यथार्थ वस्तुस्वरूपका पता नहीं है,

जो केवल व्यवहारमें, रागमें ही धर्म मानता है तथा मात्र कुल-परंपरासे ही अपनेको धर्मी मानता है और सत्यका निर्णय नहीं करता...वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। ९९४



जो जीव, आजीविका-हेतु व्रतादि धारण करता है, विवाहादि संबंध होनेकी आशासे, मानादिके अर्थसे, भोजनादिकि सुविधा-हेतु, इत्यादि विषय-कषाय संबंधी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए कपटसे जैनी होता है, वह तो पापी है। जैनधर्म तो संसारके नाशके लिए है, उसे संसार-पोषणका साधन बनाना तो घोर अन्याय है। ९९५



कोई जीव, समकिती होनेके लिए शास्त्रों-द्वारा जीवादि-तत्त्वोंको समझने लगे; पर उनका निश्चय-स्वरूप न पहचाने व भाव-भासन न हो, तो एक तत्त्वको अन्य तत्त्वरूप मान बैठे अथवा कोई बात सत्यरूप भी मान तो-निर्णय-रहित होनेसे उसे सम्यक्त्व नहीं होता। ९९६



निर्जराका बाह्य-क्रियाके साथ संबंध नहीं है। एक एक मासके उपवास करो तो भी परिणामानुसार ही लाभ-हानि होती है। कषायकी मंदता की हो तो पुण्य-बंध होता है, अभिमान किया हो तो पाप होता है; और पुण्य-पाप रहित शुद्ध-परिणाम किए हों तो निर्जरा होती है। ९९७



जीव, वर्तमान-उदयमें इतना रचा-पचा रहता है कि "भाविके सादि-अनंतकालमे मेरा क्या होगा" ? - इस विचार पर उसका वजन ही नहीं आता। ९९८



वस्तुकी सिद्धि करनेके लिए दो नय हैं, लेकिन मोक्षमार्ग तो एकको ही मुख्य करनसे होता है। व्यवहारनयकी उपेक्षा ही उसकी (निश्चयनयकी) सापेक्षता है। ९९९



हजारों वर्षोंके शास्त्राभ्याससे भी एक क्षणका अनुभव अधिक होता है। जिसे भवसमुद्रसे पार होना है, उसे स्वानुभव-कला सीखने योग्य है। १०००





चैतन्यके अनुभवकी खुमारी...धर्मीका चित्त अन्य कहीं नहीं लगने देती। वह तो स्वानुभवके शान्तरससे तृप्त-तृप्त है। वह तो चैतन्यके आनन्दकी मस्तीमें इतना मस्त है कि अब अन्य कुछ भी करना शेष नहीं रहा। १००१



विकल्प-रहित ज्ञान-वेदना कैसी है...उसका अंतर्लक्ष्य करनेका नाम ही भावश्रुतका लक्ष्य है। रागकी अपेक्षा छोड़कर "स्व"का लक्ष्य करने पर भावश्रुत खिलता है तथा उस भावश्रुतमें ही आनन्दकी वर्षा है। १००२



इस कालमें बुद्धि अल्प, आयु अल्प व सत्-समागम दुर्लभ है, उसमें है जीव ! तुझे यही सीखने योग्य है कि "जिससे तेरा हित हो व जन्म-मरणका नाश हो"। १००३



"मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ" ...ऐसे निर्णय से ही शुद्ध चिद्रूप प्राप्त होता है। वह श्रुतसमुद्रसे निकला हुआ उत्तम रत्न है, सर्व तीर्थोंमें उत्कृष्ट तीर्थ है, सुखका खजाना है, मोक्षनगरीमें जानेके लिए तेज गतियुक्त वाहन है, भवरूपी-बनको जलाकर भस्म करनेके लिए अग्नि है। १००४



"मैं एक समयमें ही चिदानन्द परिपूर्ण हूँ" ....ऐसी प्रतीति होनेके बाद अल्प राग रहता है जिसे "पर" के पक्षमें डाल देते हैं । १००५



अहो ! महान संत-मुनिवरोंने जंगलमें रहकर आत्मस्वभावका अमृत-निर्झर प्रवाहित किया है। आचार्यदेव तो घर्मके स्तंभ हैं, जिन्होंने पवित्र-धर्मको जीवन्त कर रखा है;... गजबका काम किया है, साधक-दशामें स्वरूपकी शान्ति-वेदन करते हुए परीषहोंको जीतकर, परम सत्को अक्षुण्णरूपसे जीवन्त रखा है। आचार्यदेवके कथनमें केवलज्ञानकी झंकार गूंजती है। ऐसे महान् शास्त्रोंकी रचना कर उन्होंने बहुत जीवों पर असीम उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो! पद-पदमें कितना गंभीर रहस्य भरा है। यह तो सत्यका शंकराद है, इसके संस्कार होना कोई अपूर्व महाभाग्यकी बात है तथा उसकी समझ तो मुक्तिका वरण करने जानेके लिए श्री-फल समान है । जो समझे उसका तो

मोक्ष ही (होनेवाला) है । १००६



जिज्ञासु जीवको सत्यका स्वीकार होनेके लिए अंतर-विचारमें सत्य-समझनेका अवकाश अवश्य रखना चाहिए । १००७



“जैन” कोई सम्प्रदाय नहीं है। गुणस्वरूप जो चैतन्यधन है - उसका, जिसने पर्यायमें उपादेय कर, अनुभव किया; उसने राग व अज्ञानको जीता है और वही जैन कहलाता है। १००८



## श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनमृतोंका संकलन)	१५०-००
०४ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५ आत्मअवलोकन	-
०६ बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनमृतोंका संकलन)	०६-००
०९ दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१० धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११ दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२ धन्य पुरुषार्थी	-
१३ धन्य अवतार	-
१४ गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५ गुरु गिरा गौरव	-
१६ जिणसासनं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनमृतोंका संकलन)	०८-००
१७ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८ कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनमृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२० मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-

२१	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२	निर्घात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनमृत)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३३	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३४	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३५	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनमृत)	-
३६	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३७	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३८	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
३९	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४०	समयसार कलस टीका	अनुपलब्ध
४१	समयसार	अनुपलब्ध
४२	तत्त्वानुशीलन (भाग-१, २, ३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४३	तत्थय	अनुपलब्ध
४४	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनमृतोंका संकलन)	१०-००
४५	वचनमृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन)	२०-००

વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ  
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧ અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨ અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩ આત્મયોગ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪ અનુભવ સંજ્ઞવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮ અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯ બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્યપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૦ બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ગંગ પ્રવચનો)	-
૧૧ બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) ( દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ગંગ પ્રવચનો)	-
૧૨ ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૩ દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪ દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૧૫ દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬ ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭ દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮ ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૦ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ગંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ગંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૨ જિજ્ઞાસાસણં સર્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩ કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪ કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦

૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી કમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	કમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભાત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત્ત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનંદીપંચવિશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત ૭ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમસ્તિત્તનું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્યુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક- ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત્ત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત્ત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	-

**वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से  
प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या**

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमामगसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००
३०	निर्भात दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भात दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००



३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजरात+हिन्दी)	३५००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२५००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१४००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००

७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००
९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००
९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	७५०
९६	प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०
९७	राज हृदय (भाग-३)	७५०
९८	मुक्तिनो मार्ग (गुजराती)	१०००
९९	प्रवचन नवनीत (भाग-३)	१०००
१००	प्रवचन नवनीत (भाग-४)	१०००
१०१	प्रवचन सुधा (भाग-९)	७५०
१०२	गुरु गिरा गौरव (भाग-२)	७५०
१०३	प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
१०४	प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
१०५	प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
१०६	धन्य आराधक (गुजराती)	७५०

---

पाठकों की नोंध के लिए

पाठकों की नोंध के लिए